हिंदी कविता में जनतंत्र की अवधारणा : रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल के विशेष सन्दर्भ में

Hindi Kavita Mein Jantantra Ki Avdharna : Raghuvir Sahay, Shrikant Verma Aur Dhumil ke Vishesh Sandarbh Mein

(Concept of Democracy in hindi poetry : in special reference to Raghuvir Sahay, Shrikant Verma and Dhumil)

पीएच.डी की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोध निर्देशक
प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी
भावना मल्होत्रा

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 19/7/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D Thesis entitled "Hindi Kavita Mein Jantantra Ki Avdharna : Raghuvir Sahay, Shrikant Verma Aur Dhumil Ke Vishesh Sandarbh Mein (Concept of Democracy in hindi poetry : in special reference to Raghuvir Sahay, Shrikant Verma and Dhumil)" by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University.

PROF. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY
(Supervisor)

BHAVNA MALHOTRA
(Research Scholar)

CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

समर्पण

गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय

बलिहारी गुरु आपने, गोबिन्द दियो बताय ||

- कबीरदास

औपचारिक शिक्षा ग्रहण करने के प्रथम दिन से आज तक जीवन में आए उन सभी गुरुओं को समर्पित जिन्होंने मुझ मिट्टी के ढेले को आकार दिया है ...

अनुक्रमाणिका

भूमिका i - x

अध्याय – एक 1 - 70

हिंदी कविता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

1.1 राजनीति, जनतंत्र और साहित्य
1.2 आज़ादी के बाद के सपनों का भारत और उस से मोहभंग
1.3 विभिन्न सामाजिक/राजनीतिक आन्दोलन और उनका साहित्य पर प्रभाव
1.4 जनतंत्र की कविता बनाम कविता का जनतंत्र
1.4.1 जनतंत्र की कविता
1.4.2 कविता का जनतंत्र

अध्याय – दो

रघुवीर सहाय की कविता में जनतंत्र 71 -133

2.1 जनतंत्र पर मंडराते खतरे की प्रतिध्वनियाँ और रघुवीर सहाय का काव्य
2.2 स्वतंत्रता बोध की वास्तविक अभिव्यक्ति और रघुवीर सहाय का काव्य
2.3 रघुवीर सहाय की कविता की भाषा और शिल्प

अध्याय – तीन 134 - 188

श्रीकांत वर्मा की कविता में जनतंत्र

3.1 राजनीतिक पक्षधरता और व्यर्थता बोध
3.2 अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान का चित्रण
3.3 श्रीकांत वर्मा की काव्यभाषा व काव्य-शिल्प

अध्याय – चार 189 - 252

धूमिल की कविता में जनतंत्र

4.1 संसद से सड़क तक : सत्ता का जनतंत्र या जनता का जनतंत्र
4.2 सपाटबयानी और धूमिल का काव्य
4.3 धूमिल की काव्य भाषा

अध्याय – पाँच 253 - 294

हिंदी कविता में जनतंत्र की समग्र तस्वीर

5.1 साठ के बाद की कविता का मूल स्वर और अन्य समकालीन कवि
5.2 रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा और धूमिल की जनतांत्रिक दृष्टि का तुलनात्मक विवेचन

उपसंहार 295 – 303

परिशिष्ट

1. **आधार ग्रन्थ सूची** 304
2. **सन्दर्भ ग्रन्थ सूची** 305 - 310
3. **सहायक ग्रन्थ सूची** 310 - 311
4. **पत्र-पत्रिकाएँ** 312
5. **वेब लिंक्स** 313

भूमिका

हिन्दी कविता में स्वतंत्रता से लेकर आज तक 'जनतंत्र' को अनेक कवियों ने अपनी कविता का विषय बनाया है। जनतंत्र सीधे तौर पर भारतीय 'जन' के जीवन को प्रभावित करने वाला कारक है। 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् देश की व्यवस्था को सुचारू रूपेण चलाने के लिए जिस व्यवस्था प्रणाली को सर्वाधिक उपयुक्त समझा गया वह 'जनतांत्रिक प्रणाली' है। इस प्रणाली में देश के बड़े नेताओं की सुदृढ़ आस्था थी। उनका मानना था कि देश की व्यवस्था में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी होनी चाहिए। संविधान निर्मात्री संस्था ने शासन व्यवस्था के रूप में 'जनतांत्रिक व्यवस्था' के विविध पहलुओं पर गहन विचार-विमर्श किया और माना कि भारत के लिए यह व्यवस्था सर्वोचित सिद्ध होगी। परिणामतः भारत देश में 'जनतंत्र' आया जिसमें जनता के लिए, जनता द्वारा, जनता का शासन होता है।

जन सामान्य के जीवन को प्रत्यक्षतः प्रभावित करने वाली इस शासन व्यवस्था पर कवियों की पैनी दृष्टि रही है और समय व परिस्थिति में आए परिवर्तनों के अनुसार कवियों की अभिव्यंजना में भी परिवर्तन आता रहा है। प्रकारांतर में 'जनतंत्र' को लेकर कवियों की अभिव्यक्ति और तेवर में जो परिवर्तन परिलक्षित होता है उससे देश के साधारण जन की स्थितियों का अंदाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। आज़ादी के बाद के प्रथम दशक की कविताओं में जहाँ इस व्यवस्था के प्रति आस्था और विकास की उम्मीद के दर्शन होते हैं वहीं, सन् 1960 के बाद की कविताओं में उन अंतर्विरोधों और द्वंद्वों को अभिव्यक्ति मिली है जिनसे भारत देश का आम-आदमी गुज़र रहा था। जीवन और समाज के यथार्थ की सपाट और तल्ख़ अभिव्यक्ति सन् '60 के बाद की कविताओं में प्रधानतः मिलती है। इस समय के लगभग सभी कवियों ने अपनी कविताओं में भारतीय राजनीति में व्याप्त जटिल संवेदनाओं का साक्षात्कार किया है|

जनतांत्रिक व्यवस्था में राजनीति ने जनसमुदाय के सामाजिक, आर्थिक सरोकारों को प्रत्यक्षतः प्रभावित किया है। राजनीति आर्थिक-सामाजिक सूत्रों के नियमन के साथ जीवन संघर्षों को भी रूपायित करती है और प्रत्येक जन भोक्ता के रूप में इसके प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है।

चाहते या न चाहते हुए भी यह राजनीति मनुष्य जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है । मानव-जीवन से सीधे जुड़े होने के कारण कविता का भी यह अनुपेक्षणीय विषय है । जनतांत्रिक व्यवस्था के संचालन में यही राजनीति प्रमुखतः क्रियाशील होती है और मानव जीवन को प्रभावित व नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में राजनीति की महत्ता असंदिग्ध हो जाती है । किन्तु, जब राजनीति में जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों की वृत्ति में सत्तालोलुप्ता, स्वार्थान्धता की प्रधानता और 'जनता' की उपेक्षा होती है तब मानवीय संवेदना का उद्गाता कवि 'मानवीय व्यथा' को अपनी कविता का विषय बनाता है । राजनीतिक परिवेश की विसंगतियों तथा जनतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त अव्यवस्था व अनाचार पर प्रहार उनकी कविता के मूल विषय बन जाता है । राजनीतिक विसंगतियों और स्वर्थंद नेताओं की अनीतियों का साक्षात्कार सन् '60 के बाद की कविताओं में मूल रूप में मिलता है । इस समय में नागार्जुन, मुक्तिबोध, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, धूमिल आदि कवियों ने अपनी कविताओं में राजनीतिक विद्रूपताओं, राजनीतिकों के आडम्बरपूर्ण चरित्र, विविध योजनाओं की असफलता और 'जन' की निरंतर जर्जर होती स्थितियों का वर्णन किया है ।

इन कविताओं से मेरा प्रथम साक्षात्कार स्नातक तृतीय वर्ष में आधुनिक कविता के प्रश्नपत्र में हुआ था । धूमिल की कविताओं ने मुझे प्रभावित किया और प्रश्न कौंधा कि देश की विसंगत स्थितियों पर क्या धूमिल की ही दृष्टि गई है या और भी कवियों ने आज़ादी के बीस वर्ष बीत जाने पर भी जनता की स्थितियों में कोई ख़ास परिवर्तन न होते देख उन्हें अपनी कविता का विषय बनाया है ? 'पटकथा' कविता में जनतंत्र और संसद पर 'धूमिल' के तेवर को देख 'धूमिल के कविता में लोकतंत्र' विषय को मैंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एम.फिल्. में प्रवेश हेतु होने वाले साक्षात्कार के लिए चुना । साक्षात्कार अच्छा हुआ और इसी विषय को अपने 'लघु शोध प्रबंध' हेतु चुनने की अपनी इच्छा को निर्देशक के समक्ष रखा । उन्होंने सुझाव दिया कि इस विषय पर कार्य करने के लिए शोध की दृष्टि व शोध प्रक्रिया की उचित समझ अपेक्षित है । परिणामतः अन्य विषय पर लघु शोध कार्य करने व शोध-प्रक्रिया जानने के पश्चात् पी.एच.डी में 'हिंदी कविता में जनतंत्र की अवधारणा : रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल के विशेष सन्दर्भ में' विषय पर कार्य करने का मन बनाया ।

इस शोध कार्य के केन्द्र में तीन कवियों रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल के जनतंत्र सम्बन्धी दृष्टि का आँकलन है । इन तीनों ही कवियों में हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रति रोष परिलक्षित होता है । तीनों कवियों की प्रखरतम अभिव्यक्ति सन् साठ के बाद के समय की स्थितियों पर प्रहार करते हुए दृष्टिगत होती है । इसका क्या कारण है और इनकी कविताओं में वह किस रूप में आया है यह जानने का प्रयास इस शोध ग्रन्थ में किया गया है । कवियों के चयन के पीछे मेरी व्यक्तिगत रूचि और बी.ए. के दौरान इन कवियों से प्रभावित होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । किसी काल विशेष को ध्यान में रखकर कवियों का चयन नहीं किया गया है । हिन्दी कविता का विवरणात्मक विवेचन इसमें नहीं है विवेच्य तीनों कवियों की धारणाओं को ही मुख्यतः केन्द्र में रखा गया है । यद्यपि मुक्तिबोध, नागार्जुन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केदारनाथ अग्रवाल आदि कवियों ने इस विषय पर बारीकी से विचार किया है किन्तु सभी कवियों को इस विषय के अंतर्गत लाना और उनकी विस्तृत विवेचना कर पाना कठिन हो जाता इसलिए रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल पर यह कार्य केन्द्रित है ।

साथ ही शोध-प्रक्रिया से गुज़रते हुए मैंने पाया कि इस विषय पर मुक्तिबोध, नागार्जुन, सर्वेश्वर, दुष्यन्त जैसे कवियों की कविताओं में व्यक्त विचार इस विषय को गहराई से सामने लाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । मुक्तिबोध ने तो प्रत्यक्षतः श्रीकांत वर्मा और रघुवीर सहाय की दृष्टि को प्रभावित किया है इसलिए उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता । अतः अंतिम अध्याय में इन कवियों की जनतंत्र सम्बन्धी कुछ कविताओं के माध्यम से जनतंत्र से जुड़े उन पहलुओं पर विचार किया गया है जो साठ के बाद प्रमुखतः परिलक्षित होता है । ध्यातव्य है कि यहाँ साठ के बाद की कविता या साठोत्तरी कविता से तात्पर्य 'साठोत्तरी काव्यान्दोलन' से न होकर पूर्णतः कालखंड से हैं । विभिन्न कवियों द्वारा सन् 1960 के बाद लिखी गई कविताओं में निहित 'जनतंत्र' सम्बन्धी पहलुओं पर ही यहाँ दृष्टिपात है ।

विवेच्य तीनों कवियों की काव्य संवेदनाओं पर पृथकतः अलग-अलग विश्वविद्यालयों में कार्य अवश्य हुए हैं किन्तु इन तीनों कवियों की जनतंत्र पर केन्द्रित दृष्टि का समन्वित विवेचन अब तक नहीं किया गया है । तीनों ही कवियों ने जनतांत्रिक अव्यवस्था पर अपनी कविता के माध्यम से करारी चोट की है । तीनों कवियों की कविताओं के आधार पर यहाँ यह जानने का प्रयास किया

गया है कि इसका क्या कारण है ? उनमें क्या समानताएँ या असमानताएँ हैं ? वह कौन सी स्थितियाँ हैं जिनसे इनकी दृष्टि एक ही विषय पर जा टिकी ? इनकी कविताओं में आया जनतंत्र का जो चित्रण मिलता है क्या वह पूर्णतः सही है या उसका कोई ऐसा भी पक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति इन कवियों ने नहीं की है। इन कवियों की कविताओं में 'जनतंत्र' का जो रूप मिलता है यदि उसमें खामियाँ हैं और वह जनतंत्र की अपेक्षित तस्वीर नहीं है तो अपेक्षित रूप कैसा होना चाहिए क्या इसकी झलक इनकी कविताओं में मिलती है ? इन प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए आधार सामग्री के रूप में कवियों के काव्य-संग्रहों को ही देखा गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध 'हिंदी कविता में जनतंत्र की अवधारणा : रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल के विशेष सन्दर्भ में' पाँच अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय 'हिन्दी कविता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य' में चार उपाध्यायों 'राजनीति, साहित्य और जनतंत्र', 'आज़ादी के बाद के सपनों का भारत और उससे मोहभंग', 'विभिन्न सामाजिक/राजनीतिक घटनाएँ और साहित्य में उसकी झलक', 'जनतंत्र की कविता बनाम कविता का जनतन्त्र' के अंतर्गत उन राजनीतिक/सामाजिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है जिनसे कवियों की दृष्टि और जनता का जीवन प्रत्यक्षतः प्रभावित हुआ है। प्रथम उपाध्याय में राजनीति, साहित्य और जनतंत्र की अवधारणा और इनके अंतर्संबंध पर विचार किया गया है। कविता के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए इन विषयों की अवधारणात्मक जानकारी होना आवश्यक है। आज़ाद भारत में घटित विविध घटनाओं ने जन समाज के जीवन को प्रभावित किया है और उनके 'मोहभंग' का कारण भी कुछ घटनाएँ बनीं हैं। जन जीवन को प्रत्यक्षतः प्रभावित करने वाली इन घटनाओं तथा राजनीतिक विद्रूपताओं पर कवियों की दृष्टि गई है। भारतीय जन साधारण की आकाँक्षाओं के अपूर्ण रहने के कारण सातवाँ दशक आते-आते आम जनता की जो मोहभंग की प्रक्रिया प्रारंभ हुई उसके प्रमाण और आधारस्वरुप भारत देश में घटित अनेक घटनाएँ अवलोकनीय हैं जिसकी चर्चा प्रथम अध्याय के अंतर्गत की गई है। 'जनतंत्र की कविता' और 'कविता के जनतंत्र' को दो पृथक उपभागों में विभाजित कर दोनों के मूल अंतर को स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय को उस पृष्ठभूमि के रूप में देखा जाना चाहिए जो विवेच्य तीनों कवियों की कविताओं में उनके 'जनतंत्र' सम्बन्धी विचारों को समझने में सहायक होगी। उनकी राजनीतिक चेतना इन परिस्थितयों में

निर्मित है और उनकी रचनात्मकता का प्राण बनकर उनकी कविताओं को अर्थवान और प्रासंगिक बनाती है। इन राजनीतिक/सामाजिक स्थितियों पर गहन विचार और चिंतन से प्रभावित होकर ही अपने वर्तमान के संघर्षों को कवियों ने चित्रित किया है और इस प्रकार एक विशेष दृष्टि विकसित कर 'जनतंत्र' के पहलुओं पर अपने विचार रखे हैं जिन पर अगले अध्यायों में विस्तृत चर्चा की गई है।

शोध प्रबंध के द्वितीय अध्याय 'रघुवीर सहाय की कविता में जनतंत्र' के अंतर्गत रघुवीर सहाय की कविता में उपस्थित 'जनतंत्र' की तस्वीर पर विस्तार में विचार किया गया है। रघुवीर सहाय का स्थान उन रचनाकारों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जो स्वातंत्रयोत्तर भारत में दृष्टिगत होने वाली विविध समस्याओं के प्रति सजग और जीवन यथार्थ के प्रति सदैव सचेत रहे। सामान्य जीवन और ऐतिहासिक घटनाक्रम में उपेक्षित आम जन की स्थिति पर भी उनकी दृष्टि सदैव लगी रही। राजनीतिक जीवन की उथल-पुथल के बीच पिसते सर्व-साधारण के जीवन की कटु वास्तविकताओं को रघुवीर सहाय ने बिना तोड़े-मरोड़े अपनी कविताओं में अभिव्यक्ति दी। जिस आदर्श भारत का स्वप्न हमारे संविधान निर्माताओं और देश के लोगों ने देखा उस आदर्श की कितनी अनुपालना हुई और व्यवहार में वह शासन कितना आया तथा जनता के तंत्र वाले देश में 'जन' की क्या स्थिति है उसकी अभिव्यक्ति रघुवीर सहाय की कविताओं में मिलती है। जनता की अपूर्ण अपेक्षाओं और अपनी 'जन' केन्द्रित दृष्टि के कारण 'जनतंत्र' के लिए ख़तरा बन चुकी स्थितियों की प्रतिध्वनियों को पहचान कर अपनी कविताओं में किस रूप में उन्होंने अभिव्यक्ति दी तथा स्वतंत्रता बोध की अभिव्यक्ति वहाँ किस रूप में हुई है, वह स्वतंत्रता को किस रूप में देखते हैं, स्वतंत्रता से उनका क्या अभिप्राय है इसका विवेचन इस अध्याय के अंतर्गत किया गया है। रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा और शिल्प पर भी विचार यहाँ किया गया है।

प्रबन्ध के तृतीय अध्याय 'श्रीकान्त वर्मा की कविता में जनतंत्र' में भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था पर उनके द्वारा की गई आलोचनात्मक टिप्पणियों के माध्यम से उनकी दृष्टि के 'जनतंत्र' की तस्वीर को सामने लाने का प्रयास किया गया है। स्वतंत्र भारत में जनतंत्र का विघटन होते हुए श्रीकांत वर्मा ने स्वयं देखा था। राजनीतिक आचारहीनता और जनतांत्रिक विफलताओं पर उनकी पैनी दृष्टि सदैव रही। एक सजग कवि, जागरुक नागरिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध होने

के कारण जीवन के किसी भी पहलू से वह अछूते नहीं रहे। उनके व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभव, पतनशील जनतांत्रिक व्यवस्था, अनास्था, राजनीतिक अनुभव सक्रिय रूप में उनकी कविताओं में काम करते हैं। आज़ादी के लगभग बीस वर्षों बाद भी व्यक्तिगत अनुभव और महानगरीय जीवन में युवावर्ग की बेहाल स्थिति समन्वित रूप में उन्हें मोहभंग तक पहुँचाती है। राजनीति में जाने के बाद सत्ता की सड़ांध को बेहद नज़दीक से, नंगी आँखों से देख सत्ता में व्याप्त स्वार्थ सिद्धि के चरम को वह अनुभव करते हैं। कुर्सी प्रियता, स्वार्थान्धता, विचारहीनता, संवेदनशून्यता, अमानुषिकता, जनतांत्रिक मूल्यों की हत्या होते देख और स्वयं को असमर्थ पा वह जिस व्यर्थता बोध तक पँहुचते हैं, उसकी अभिव्यक्ति 'राजनीतिक पक्षधरता और व्यर्थता बोध' नामक उपाध्याय में की गई है। श्रीकांत वर्मा को यह व्यर्थता बोध कितना सालता है, इस व्यर्थता बोध की आधार भूमि क्या है और उनकी कविता में जनतंत्र के स्वरुप से उसका क्या सम्बन्ध है ? उनकी कविताओं और जीवन स्थितियों के सन्दर्भ में उसे समझा जा सकता है।

राजनीति में रहते हुए वर्तमान में सत्ता में व्याप्त जिन विद्रूपताओं से कवि श्रीकांत वर्मा का साक्षात्कार हुआ, जो कटु अनुभव हुए उसकी अभिव्यक्ति हेतु उन्होंने अतीत को हथियार बनाया। अतीत मानव जीवन से जुड़ा ऐसा पक्ष है जिसे किसी भी स्थिति में झुठलाया नहीं जा सकता। मनुष्य का वर्तमान अतीत से अभिन्न रूप में सन्नद्ध रहता है। अतीत को जड़ या मृत मानकर, 'बीत गया' मानकर उसे अनदेखा करना या कमतर आँकना अनुचित है क्योंकि यह वह नींव है जिस पर भविष्य में एक मजबूत इमारत बनाने के लिए वर्तमान में ध्यान देना आवश्यक होता है। बीते समय में हुई ग़लतियों से सीख लेकर उसमें सुधार करने तथा चेतन होने का मार्ग अतीत दिखाता है। अतीत को विगत घटना न मानकर ऐसी सतत प्रवाहमान चेतनधारा श्रीकांत वर्मा ने माना है जो भविष्य का चेहरा वर्तमान के आईने में दिखाता है। 'अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान का चित्रण' नामक उपाध्याय में उनकी कविताओं में उपस्थित अतीत से जुड़े पात्रों, नगरों, घटनाओं आदि की उस रचनात्मक प्रयुक्ति पर चर्चा की गई है जिसके द्वारा अवमूल्यित होते वर्तमान का सटीक चित्र उन्होंने खींचा है और आज की स्थितियों पर व्यंजनात्मक प्रहार किया है| 'श्रीकांत वर्मा की काव्य-

भाषा व काव्य-शिल्प' उपाध्याय के अंतर्गत उनके विचारों की अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में उनकी काव्य-भाषा व काव्य-शैली पर बात की गई है।

चतुर्थ अध्याय धूमिल को समर्पित है। जीवनानुभवों और विचारधारा को बेबाकी से प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध कवि सुदामा पाण्डेय की कविताओं से गुज़रने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कविताएँ जनतंत्र की कविताएँ हैं। जनतांत्रिक व्यवस्था वाले भारत देश में जनता की स्थिति का जायज़ा वह लेते हैं। उनकी कविताओं में आज़ादी, जनतंत्र, संसद, जनता जैसे शब्दों की पुनरावृत्ति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उनकी काव्यदृष्टि का मूलाधार 'संसद' और 'सड़क' से निर्मित है। व्यवस्था विरोध और जनता की पक्षधरता उनकी कविताओं के मूल में है। प्रथम उपाध्याय 'संसद से सड़क तक : सत्ता का जनतंत्र या जनता का जनतंत्र' में यह जानने का प्रयास किया गया है कि धूमिल की दृष्टि में यह 'जनतंत्र' कैसा है और किसका है ? क्या यह 'जनतंत्र' का वही स्वरुप है जिसकी अपेक्षाएँ आज़ादी के बाद आई जनतांत्रिक व्यवस्था से थी ? यह 'जनतंत्र' जनता का है या सत्ता तक सीमित है ? यदि जनतंत्र की यह तस्वीर अपेक्षित तस्वीर नहीं है तो उनकी दृष्टि में यह जनतांत्रिक तस्वीर क्या है ? 'सपाटबयानी और धूमिल का काव्य' नामक उपाध्याय धूमिल द्वारा प्रयुक्त 'सपाटबयानी' पर केन्द्रित है। 'सपाटबयानी' के माध्यम से अपने भावों को बेबाकी से उन्होंने अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। यह सपाटबयानी धूमिल की कविता की पहचान है। काव्य-शिल्प का एक तत्त्व मानी जाने वाली इस 'सपाटबयानी' पर एक पृथक उपाध्याय इसलिए क्योंकि यह 'सपाटबयानी' उनकी कविताओं को और गंभीर और आक्रामक बनाती है। धूमिल को जो बात 'धूमिल' बनाती है वह उनकी बातों को यथारूप, सीधे प्रस्तुत कर देने की यह कला ही है। अतः यह उपाध्याय उनकी जनतांत्रिक दृष्टि तथा उनके विचारों को पाठक तक पहुँचाने में 'सपाटबयानी' की भूमिका पर केन्द्रित है। धूमिल भाषा के प्रति भी उतने ही सजग व सचेत कवि रहे हैं जितना कि विषय के प्रति। उनकी कविताओं में प्रयुक्त भाषा स्थितियों को उसके नंगेपन के साथ प्रस्तुत करने में सक्षम है। भाषा को वह कविता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष मानते रहे हैं। इसलिए अंतिम उपाध्याय में धूमिल की काव्य-भाषा पर बात की गई है।

शोध प्रबंध के पंचम व अंतिम अध्याय में स्वतंत्रता के बाद से ही हिंदी कविता में 'जनतंत्र' के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए कवियों ने उल्लास और स्फूर्ति से पूर्ण जो कविताएँ लिखीं और शनैः शनैः उनकी भावाभिव्यंजना व दृष्टि में जो परिवर्तन आए उनकी संक्षिप्त झलक है | इस अध्याय में इस तथ्य पर एक त्वरित दृष्टि डाली गई है कि आरंभिक वर्षों में कवियों ने 'जनतांत्रिक व्यवस्था' की अभिव्यक्ति किस रूप में की ? साठोत्तरी स्थितियों को किस शैली में अभिव्यक्त किया और उसका मूल स्वर क्या है ? 'सन् 1960 के बाद की कविता के मूल स्वर पर बात करते हुए 'जनतंत्र' के विविध पहलुओं पर विवेच्य तीनों कवियों के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों यथा मुक्तिबोध, नागार्जुन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, दुष्यंत कुमार की कविताओं के स्वर पर विचार किया गया है। साथ ही रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल की कविताओं में आई जनतांत्रिक तस्वीर का तुलनात्मक अध्ययन है। तीनों कवियों की कविताओं में कथ्य और भाव के स्तर पर मिलने वाली समानताओं और असमानताओं पर भी बात इस अध्याय के अंतर्गत की गई है।

इस शोध कार्य को पूर्णता देने के लिए साहित्य, इतिहास और राजनीति विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों की सहायता ली गई है। उसके अतिरिक्त कुछ पत्रिकाओं के आलेख भी विषय की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुए हैं। जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान और इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय के पुस्तकालयों के प्रबंधकों से आवश्यक पुस्तकें उपलब्ध करवाने में जो सहायता मिली है उसके लिए मैं आपकी आभारी हूँ।

शोध प्रबंध के विषय निर्धारण से लेकर कार्य की समाप्ति तक श्रद्धेय गुरुवर प्रो. रामबक्ष की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। आरम्भ में यह कार्य जितना सरल मुझे लग रहा था उतनी ही समस्याएँ कार्य करने के दौरान मेरे सामने आयीं। कभी धूमिल की जटिलताओं को तो कभी रघवीर सहाय की कविताओं को समझ पाने में कठिनाई हुई। श्रीकान्त वर्मा की कविताओं को समझने में सर्वाधिक उलझन का अनुभव हुआ किन्तु प्रो. रामबक्ष ने पूर्ण धैर्य के साथ मेरी समस्याओं को सुना, परेशानी में ढाढ़स बँधाया और मेरी समस्याओं का समाधान किया। उनका मार्गदर्शन और स्नेहिल व्यवहार बहुत सहायक सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत जीवन में समस्याओं से जूझने के क्रम में भी गुरुवर और उनकी पत्नी के स्नेहिल व्यवहार और प्रेरणादाई मुलाकातों से हिम्मत मिली और कार्य को समय पर पूर्ण करने में सफलता प्राप्त हुई। उनके असीम स्नेह, निर्देशन और

मार्गदर्शन से ही यह प्रबंध कार्य समापन की परिणति तक पहुँच सका है । 'धन्यवाद' शब्द बहुत छोटा है फिर भी औपचारिकता के निर्वाह हेतु उनका बहुत आभार व्यक्त करती हूँ ।

प्रो. रामबक्ष के सेवानिवृत्त होने के पश्चात् कार्य के अंतिम समय में प्रो. देवेन्द्र चौबे ने मेरा निर्देशक होना स्वीकार किया आरम्भ में कार्य को लेकर उनके पास जाने में कुछ संकोच का अनुभव हुआ क्योंकि एम.फिल् में 'साहित्य का समाजशास्त्र' की कक्षा के अतिरिक्त उनसे कोई बातचीत कभी नहीं हो पाई किन्तु, पूर्ण समय देकर कार्य और संपादन सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण सुझाव उन्होंने दिए वह इस शोध प्रबंध को सही रूप में लाने में बहुत सहायक सिद्ध हुए । उनका हृदय से आभार ।

इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय की मेरी शिक्षिकाओं की मैं विशेष आभारी हूँ । स्नातक में प्रवेश के दिन से लेकर आज तक प्रत्येक कार्य व प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें मैंने सदैव अपने साथ खड़ा पाया है । जीवन में आने वाली हर समस्या का समाधान उन्होंने दिया है । उनके स्नेहिल और प्रेरणादाई व्यवहार से मुझे आगे बढ़ने का हौसला मिलता रहा है । इस शोध कार्य की पूर्ति में भी उनके सुझाव अत्यंत सहायक रहे हैं । डॉ. हर्षबाला शर्मा का मित्रवत साहचर्य और प्यार, डॉ. रेखा उप्रेती का अतुलनीय मातृ सम स्नेह, डॉ. रेखा सेठी का असीम स्नेह व सदैव खुली बाहें मुझे अपूर्व हौसले से भरती हैं और आगे बढ़ने को प्रेरित करती हैं । उनके प्रति मेरी कृतज्ञता और मनोभावों को शब्दों की सीमा में बाँध सकने में मैं स्वयं को असमर्थ पाती हूँ ।

मित्रों के सहयोग का आभार किन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है । कार्य करने के लिए आवश्यक क़िताबें जुटाना हो, बोझिल क्षणों में स्फूर्ति भरना हो, आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करनी हों, सही दिशा में आगे बढ़ने पर उत्साहित करना हो या संपादन और प्रूफ सम्बन्धी कार्य । अपने कुछ मित्रों को मैंने बेझिझक वक़्त-बेवक़्त परेशान किया है । लगभग हर पृष्ठ लिखने के बाद पढ़ कर सुनाने से लेकर, प्रूफ़ करवाने, छपवाने तक की भागदौड़ तक में मित्र मनीष ओझा को सदैव साथ खड़ा पाया है । डॉ. प्रदीप, डॉ. वंदना सिंह के सुझावों से बहुत सहायता मिली है । नेहा नयनवाल, पूनम कुमारी शॉ हिम्मत बंधाते रहे हैं । 'राजनीति विज्ञान' की महत्त्वपूर्ण पुस्तक जुटाने के लिए अलका की आभारी हूँ ।

परिवार के सभी सदस्यों की अपूर्व सहभागिता हेतु उनका धन्यवाद न मैं कर सकती हूँ और न ही ऐसा चाहती हूँ। मामा-मामी की बदौलत मेरे जीवन को रूपाकार मिला है। मुझ जैसी पढ़ने से दूर भागने वाली लड़की को प्रेरणा देकर स्नेह, धैर्य और कठिन परिश्रम से यहाँ तक पहुँचाने में उन्होंने जो मेहनत की उसकी कल्पना करना भी कठिन है। अपनी अनुभूतियों को कभी अभिव्यक्ति न दे पाने वाली मेरी माँ मुझे कुछ 'बनने' को हमेशा प्रेरित करती रही है। परिवार के प्रत्येक सदस्य का कमज़ोर क्षणों में स्फूर्ति भरने और फिर आगे बढ़ कार्य पूरा करने में साथ मिला है। नए परिवार में माँ और पापा शीघ्र काम पूरा करने को प्रेरित करते रहे। पापा से शोध-कार्य से जुड़े महत्त्वपूर्ण सुझाव भी सहायक सिद्ध हुए। मैं सभी के प्रति स्नेहाभार प्रकट करती हूँ | मेरे सभी शुभचिंतकों के साथ आज दूसरी दुनिया में बैठे मेरे नाना-नानी और पिता भी बेहद ख़ुश होंगे, इसी विश्वास के साथ... ।।

अध्याय – एक

हिन्दी कविता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

अध्याय – एक

हिन्दी कविता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

1.1 राजनीति, जनतंत्र और साहित्य

1.2 आज़ादी के बाद के सपनों का भारत और उससे मोहभंग

1.3 विभिन्न सामाजिक/राजनीतिक घटनाएँ और साहित्य में उसकी झलक

1.4 जनतंत्र की कविता बनाम कविता का जनतन्त्र

1.4.1 जनतंत्र की कविता

1.4.2 कविता का जनतंत्र

अध्याय - एक

हिन्दी कविता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

'हिन्दी कविता के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य' पर बात करने से पूर्व हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि 'राजनीति' से तात्पर्य क्या है ? साहित्य में राजनीति की उपस्थिति किस प्रकार से है ? साहित्य और राजनीति में क्या अंतर्संबंध है ? जनतंत्र क्यों एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में कविताओं में मौजूद है ? वस्तुतः राजनीति का एक छोर व्यक्ति हित से सम्बद्ध है तो दूसरा सत्ता से । सत्ता से जुड़े होने के कारण ही इसका स्वरूप उतरोत्तर जटिल हो गया है । जन सामान्य के प्रत्येक पहलू को यह राजनीति प्रभावित करती है । स्वतंत्र भारत की जनतांत्रिक व्यवस्था में यह राजनीति और प्रमुख हो जाती है क्योंकि जन जीवन से जुड़े सामाजिक, आर्थिक परिवेश पर यह प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है । यही कारण है कि यह राजनीति भारतीय जीवन के साथ-साथ हिन्दी कविता में भी अनुपेक्षित हो जाती है । एक नागरिक होने के नाते भी कोई कवि या साहित्यकार इस राजनीति पर बात किए बिना नहीं रह सकता । नेमिचंद्र जैन के कथनानुसार यह 'राजनीति आज इस प्रकार, इतने विविध रूपों और इतनी दूर तक समुदाय और व्यक्ति के जीवन में घुस आई है कि उससे किसी के लिए तटस्थ होने की गुंजाइश नहीं है ।' स्वतंत्र भारत की शासन व्यवस्था को चलाने हेतु स्वीकृत जनतांत्रिक प्रणाली में जिस 'जन' को केन्द्र में रखा गया था उसी 'जन' के जीवन को सुविचारित रूप से विकास पथ पर आगे ले जाने का काम 'राजनीति' करती है । इसे और भली प्रकार से समझने के लिए 'राजनीति, साहित्य और जनतंत्र' के अंतर्गत प्रत्येक पक्ष पर पृष्ठभूमि के रूप में विस्तृत चर्चा की जा रही है ताकि इस अध्याय के अंतर्गत आए 'आज़ादी के बाद के सपनों का भारत और उससे मोहभंग', 'विभिन्न सामाजिक/राजनीतिक घटनाएँ और साहित्य में उसकी झलक', तथा 'जनतंत्र की कविता बनाम कविता का जनतन्त्र' उपाध्यायों की उपादेयता और आवश्यकता स्पष्ट हो सके ।

1.1 राजनीति, जनतंत्र और साहित्य

आज के समय में **राजनीति** की व्यापकता चरम सीमा तक पहुँच गई है। 'राजनीति' को समझना वर्तमान समय की अनिवार्य आवश्यकता है। औपचारिक रूप में यूनानी भाषा के 'पोलिस' (Polis) अर्थात नगर-राज्य और 'पॉलिटिया' (Politeia) नामक शब्दों को देखा जा सकता है। 'राजनीति' शब्द की निर्मिति इन्हीं शब्दों से हुई है। यूनानी विचारकों का मत है कि 'पॉलिटिक्स' या राजनीति में राज्य से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें समाहित हो जाती हैं। 'राजनीति' को परिभाषित करते हुए 'ऑक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी' में लिखा है कि 'राजनीति सरकार की विज्ञान और कला है। यह एक ऐसा विज्ञान है, जो राज्य के रूप, संगठन और प्रशासन के साथ और दूसरे राज्यों के साथ इसके नियमों को नियमित करने से सम्बंधित है।' राजनीति आधुनिक मानव के जीवन को नियंत्रित करने वाली ऐसी व्यवस्था है जिसमें राज्य प्रमुख होता है। एक सभ्य समाज से सम्बद्ध विविध संस्थाओं में 'राज्य' एक संगठित, सम्मुन्नत और श्रेष्ठ जीवन यापन के लिए मनुष्य द्वारा परिकल्पित ऐसी 'संस्था' है जिसे वह शक्तियाँ प्राप्त हैं जिसके आधार पर वह हमारा प्रतिनिधित्व करता है, हमारे लिए नीतियाँ बनाता है और हम उन नीतियों को मानकर व्यवस्थित जीवन जीते हैं। यानी एक 'राज्य' द्वारा शासन चलाने की नीति को राजनीति कहा जा सकता है। यह 'राजनीति' एक श्रेष्ठतर जीवन-व्यवस्था की ओर अग्रसर होने का मानवीय प्रयास है जिसमें मानव मूल में है। प्रसिद्ध यूनानी विचारक अरस्तु ने कहा था कि "मनुष्य स्वभाव से राजनीतिक प्राणी है। (Man is by nature a political animal.) इस तरह अरस्तु ने मनुष्य की ऐसी स्वाभाविक क्षमता को मान्यता दी थी जो अन्य प्राणियों में नहीं पाई जाती। इसका अर्थ यह था कि मनुष्य किसी-न-किसी 'राज्य' (Polis) के अन्तर्गत रहता है, अर्थात् एक सामूहिक सत्ता के माध्यम से अपने जीवन को व्यवस्थित करता है ताकि एक नैतिक प्राणी के नाते वह उत्तम जीवन और आत्म-सिद्धि प्राप्त कर सके। अतः अरस्तु की दृष्टि में 'राजनीति' मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को समेट लेती है, हालाँकि शासन के स्तर पर जिस सत्ता (Authority) का प्रयोग होता है वह परिवार या सम्पत्ति से जुड़ी सत्ता से भिन्न है।"[1] राजनीति का वास्तविक अर्थ 'जनहित' से जुड़ी नीतियों द्वारा मनुष्य की उन्नति और मंगल सम्बन्धी मार्गों के संधान में निहित है। महान भारतीय राजनीति विशारद

कौटिल्य ने राजनीति को मानव जीवन का मूलाधार कहा है। उनका विचार है कि "यह दण्डनीति (राजनीति) ही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली, प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने वाली, सुरक्षित पदार्थों में वृद्धि करने वाली और वृद्धि को प्राप्त हुए पदार्थों को उचित स्थानों में लगाने वाली होती है। संसार का निर्वाह इसी के ऊपर निर्भर है।"[2]

मानव जीवन की नियामक शक्ति के रूप में विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समीकरणों को भी राजनीति प्रभावित करती है और अप्रत्यक्षतः मानवीय आचार-व्यवहार भी नियंत्रित करती है। मानव उसके मूल में होता है क्योंकि राजनीति अपने मूलरूप में किसी विशिष्ट वर्ग से सम्बद्ध नहीं होती अपितु सम्पूर्ण मानव समाज के हिताहित से जुड़ी होती है। मानव ही राजनीति में साधन भी होता है और साध्य भी। अर्थात् प्रभावक शक्ति और भोक्ता दोनों ही भूमिकाओं में मानव ही होता है। उसी के कल्याण के लिए राज्य में नीतियाँ बनती हैं। वही शासकीय इकाई के रूप में प्रतिष्ठित होता है। राजनीतिक निर्णय मानव जीवन को अवश्यंभावी रूप से प्रभावित करते हैं अतः जन समुदाय का यह कर्तव्य होता है कि वह 'राजनीति' के प्रति सक्रिय भागीदारी रखे और सार्थक आलोचना द्वारा उसके रूप को परिवर्द्धित करता रहे। राजनीति की इस प्रभावित करने की प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए जॉर्ज लुकाच ने कहा है कि "मानव का प्रत्येक कर्म, विचार और भाव अपरिहार्य रूप से समाज के जीवन और संघर्ष अर्थात् राजनीति से जुड़ा है। मनुष्य चाहे इस सम्बद्धता के प्रति सचेत हो अथवा अचेत, या इससे भागने का प्रयास करे उसके समस्त कर्म, भाव और विचार राजनीति से ही उद्भूत होते हैं और उसी में समाहित भी हो जाते हैं।"[3] सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों में द्वंद्वो के शमन और मूल्यों के विनियोजन में राजनीतिक नीतियाँ महत्त्वपूर्ण भूमिका रखती हैं। यदि सत्ता में परिवर्तन होता है तो सामाजिक और आर्थिक संतुलन भी निश्चित ही प्रभावित होता है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में आज यह राजनीति भीतर तक प्रवेश कर गई है। "आधुनिक युग की समस्त संकट-स्थितियाँ राजनीतिक संकट की ही प्रखर अभिव्यक्ति हैं। हमारे समस्त नैतिक और आदर्शात्मक संघर्षों के मूल में राजनीतिक कारण ही निहित हैं, यहाँ तक कि हमारे व्यक्तिगत जीवन का भी शायद ही कोई पक्ष बचा हो जो किसी-न-किसी रूप में राजनीतिक संघर्ष में न उलझ गया हो।"[4]

मानव जीवन से प्रत्यक्षतः जुड़े होने के कारण यह राजनीति आज मानव की अनिवार्य नियति बन गई है। बीसवीं शताब्दी में मनुष्य जिस प्रकार राजनीति से घिरा हुआ है और जिस गहराई से उसका जीवन उससे प्रभावित है उसके कारण यह साहित्य में भी एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में स्थान रखती है। साहित्य का सरोकार प्रत्यक्षतः मनुष्य से होता है और मनुष्य राजनीति के सही या ग़लत निर्णयों से अनिवार्यतः प्रभावित होता है। 'साहित्य' और राजनीति दोनों के ही मूल में मनुष्य होता है। इसीलिए प्रत्येक जागृत, चेतन व्यक्तित्व अनिवार्यतः अपने समय की राजनीतिक स्थितियों पर विचार करता है। समाज में रहकर राजनीति से विमुख रहना कठिन भी है और अनुचित भी क्योंकि राजनीति के प्रति सजग रहकर ही मनुष्य अपने जीवन की गति और विकास दशा को सही दिशा में अग्रसर कर सकता है। राजनीतिक चेतना से शून्य व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ 'कोल' का कथन है कि "यदि हम राजनीति में भाग लेना अस्वीकार करते हैं तो या तो हम मानव-द्वेषी और संसार से निराश व्यक्ति हैं या फिर हम अल्पबुद्धि मनुष्य हैं...केवल मात्र जीवित यंत्रों की भाँति, जिनके भविष्य निर्माण और जीवन-नियन्त्रण के सूत्र पराधीन हो गए हैं।"[5] यदि राजनीतिक दृष्टि से मानव निष्क्रिय होता है तो उसका समाजबोध एकांगी और एकपक्षीय ही रह जाता है। राजनीति को समझे बिना समाज-विशेष की स्थितियों को समझने का दावा भी विवेकहीनता का सूचक होता है। आज का यह प्रखरतम सत्य है कि राजनीति में व्याप्त नियंत्रणकारी शक्तियाँ अपने सकारात्मक या नकारात्मक निर्णयों द्वारा समाज को निर्माण या विनाश की ओर धकेलने का सामर्थ्य रखती हैं। ऐसे में उसके प्रति नि:संग रहने का अर्थ 'जनतंत्र' में अपने कर्तव्य की पूर्ति न करना है। राजनीति का अस्तित्व व्यक्ति हित के लिए कार्य करने से है अतः व्यक्ति की भी यह ज़िम्मेदारी है कि वह विवेक से, जागरुक रहकर इस राजनीति को निरंकुश होने से बचाए।

जनतंत्र 'राजनीति' से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली है। एक ऐसी व्यवस्था जिसमें शासन 'जनता' के हाथ में होता है। राजनीति विज्ञान में 'लोकतंत्र' या 'जनतंत्र' या 'प्रजातंत्र' लम्बे समय से चर्चा का विषय रहा है। इसकी मूल अवधारणा बहुत पुरानी है जिस पर अलग-अलग समय पर चिंतकों, विचारकों, दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों द्वारा बात की गई है, विचार व्यक्त किए गए हैं। सभी ने अपने विचारों को अलग-अलग पक्षों के अनुरूप व्यक्त किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में

अब्राहम लिंकन द्वारा दी गई जनतंत्र की परिभाषा 'लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए, जनता के द्वारा शासन है' से बहुत पहले ईसा के 422 साल पूर्व एक यूनानी दार्शनिक 'क्लीआन' ने अपना मत दिया था । उनका विचार था कि "लोकतंत्र वह होगा जो जनता का हो, जनता के द्वारा हो तथा जनता के लिए हो ।"[6] यूनान के ही महान विचारकों "प्लेटो और अरस्तु ने कुछ प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में - विशेषतः एथेंस में - लोकतन्त्र के सक्रिय रूप को देखा था । इसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं : (क) नगर-राज्य ('पोलिस') के सार्वजनिक मामलों में सभी 'स्वतंत्रजनों' (Freemen) की समान सहभागिता (Equal Participation); (ख) सार्वजनिक निर्णयों तक पहुँचने के लिए स्वतंत्र वाद-विवाद (Free Discussion); और (ग) समुदाय के क़ानून और प्रचलित प्रक्रिया के प्रति व्यापक आदर-भाव । यूनानियों को अपने प्रचलित रीति-रिवाज़ से जुड़े क़ानून पर गर्व था, और वे इसे 'बर्बर जातियों में प्रचलित निरंकुश शासन' (Arbitrary Rule) से अत्यंत श्रेष्ठ मानते थे ।"[7] किन्तु प्लेटो का मानना था कि 'जनसाधारण में "सर्वोत्तम शासकों और सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण नीतियों" का चयन करने की क्षमता नहीं होती ।' "प्लेटो का सम्बन्ध इस लोकतंत्र से दूर-दूर तक नहीं था ; उसने कभी लोकतान्त्रिक होने का दावा किया ही नहीं था । अरस्तु लोकतंत्र को समाजतंत्र की विकृत व्यवस्था या (भीड़तन्त्र) कहा करते थे ।"[8] एक लम्बे समय तक लोकतंत्र पर विद्वानों ने अपने मत दिए किन्तु आधुनिक समय में 'निकोलो मैकियावली' (1469-1527) के राज्य सम्बन्धी विचार महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । "मैकियावाली पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के उस स्थान पर खड़ा है जहाँ से पश्चिमी जगत का आधुनिक युग शुरू होता है । वह पहला विद्वान है जिसने राजनीतिक विज्ञान को 'राज्य' (स्टेट) शब्द दिया ।...अपनी दो प्रमुख किताबों 'द प्रिंस' तथा 'डिस्कोर्सिस' में उसने राजनीतिक नेतृत्व के मुद्दे की सविस्तार चर्चा की है । 'प्रिंस' में वह जहाँ नेतृत्व राजा को सौंपता है, वहीं वह 'डिस्कोर्सिस' में जनता को नेतृत्व देता है । प्रथम में एकल नेतृत्व तथा द्वितीय में सामूहिक नेतृत्व के दर्शन होते हैं । प्रथम में ऊपर से नेतृत्व थोपा जाता है तो द्वितीय में जन-सामान्य से नेतृत्व उभरकर सामने आता है ।... 'मैकियावाली' द्वारा चित्रित नेतृत्व के ये दोनों प्रकार (एक राजतंत्र तथा द्वितीय गणतंत्र) दो भिन्न स्थितियों में कार्य करते हैं और इसलिए इन दोनों के चित्रण का भी मैकियावली के अनुसार भिन्न-भिन्न लक्ष्य है । जहाँ राजतंत्र

अव्यवस्था का समाधान है, वहीं गणतंत्र एक बंद व्यवस्था का समाधान है ।"[9] इस लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए अनेक आधुनिक विचारकों ने अपने मत दिए । 'सीले' ने कहा कि "लोकतंत्र वह शासन है जिसमें हर व्यक्ति भाग लेता है । ('A government in which everyone has a share.')"[10] 'जेम्स ब्राइस' के मतानुसार लोकतंत्र "जनसाधारण का शासन है जिसमें वे वोटों के माध्यम से अपनी प्रभुतासंपन्न इच्छा (Sovereign Will) को व्यक्त करते हैं ।"[11] उनका मानना था कि अन्य शासन प्रणालियों से 'लोकतंत्र' की तुलना करने पर 'लोकतंत्र' का औचित्य स्वतः सिद्ध हो सकता है ।

आधुनिक युग में प्राचीन विचारकों के मत के विपरीत निरंकुश शासन के स्थान पर 'लोकतंत्र' को ही शासन व्यवस्था के लिए अपनाया गया । 15 अगस्त 1947 को भारत ने भी आज़ाद होने पर देश के लिए इस जनतांत्रिक शासन प्रणाली को सर्वाधिक उपयुक्त समझा । भारतीय गणतांत्रिक व्यवस्था को साकार करने वालों में यह विश्वास व्याप्त था कि भारतीय सामाजिक संरचना में भौतिक व बौद्धिक आवश्यकताओं और अपेक्षाओं की पूर्ति में जनतांत्रिक शासन प्रणाली ही सफल हो सकती है । पण्डित नेहरू के लिए लोकतंत्र का अर्थ था "देश के राजनीतिक प्रशासन में जनता की सक्रिय हिस्सेदारी ।" डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा के अपने अंतिम भाषण में लोकतंत्र पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि 'सामाजिक लोकतंत्र का अर्थ एक ऐसी जीवन पद्धति से है जिसमें स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व समाज जीवन के मूल सिद्धान्त होंगे ।'

भारत देश में व्यवस्था को सुचारू रूपेण चलाने हेतु स्वीकृत इस जनतान्त्रिक शासन प्रणाली पर अनेक रचनाकारों ने समय-समय पर अपनी कृतियों के माध्यम से अपने विचार व्यक्त किए हैं । **साहित्य** तथा साहित्यकार की भूमिका राजनीतिक असंगतियों और अव्यवस्थाओं पर अंकुश लगाने, राजनीति को निरंकुश होने से बचाने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है । इस समबन्ध में दुष्यन्त कुमार का मत है कि "कोई भी संवेदनशील लेखक अपने समय की, अपनी परिस्थितियों की और अपने हालात की उपेक्षा करके नहीं जी सकता । वह चाहे कवि हो या गद्यकार, अपने समय का साक्ष्य देने के लिए अविकल है ।"[12] साहित्य राजनीतिक चेतना के प्रसार द्वारा ही जन

साधारण को अपने परिवेश के प्रति सजग रहने हेतु प्रेरित करता है । साहित्य का उद्देश्य विविध राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों से जन सामान्य का सरोकार करवाना है । साहित्य पर अपना मत देते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'साहित्य की सामग्री' में लिखते हैं कि "-केवल अपने लिए लिखने को साहित्य नहीं कहते हैं - जैसे पक्षी अपने आनन्द के उल्लास में गाता है उसी प्रकार हम भी अपने आनन्द में विभोर हो कर केवल अपने ही लिए लिखते हैं मानों श्रोता या पाठक का उससे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता...यह तो मानना ही पड़ेगा कि लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है "[13] साहित्य और साहित्यकार के सामाजिक दायित्व पर प्रकाश डालते हुए प्रेमचंद ने अपने लेख 'साहित्य का उद्देश्य' में लिखा है कि "साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है । अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है ।...जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं ।...साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है - उसका दर्जा इतना न गिराइए । वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है ।"[14]

वास्तव में एक साहित्यकार के लिए राजनीति से जुड़े विविध पक्षों को जानना अत्यंत आवश्यक होता है ताकि समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह वह भली प्रकार से कर सके । इस दायित्व निर्वाह हेतु साहित्य की राजनीतिक सम्बद्धता अनिवार्य हो जाती है । मुक्तिबोध के अनुसार "जो साहित्यकार स्पष्टतः सोच-समझ कर किसी राजनीतिक दृष्टि को अपनाते हैं उनके लिए तो साहित्य का राजनीति से सम्बन्ध है ही, जो राजनीति से प्रत्यक्षतः सम्बन्ध न रखने वाले कला-सिद्धान्त का सहारा लेते हैं वे भी अप्रत्यक्ष रूप से अपनी राजनीतिक दृष्टि सामने लाते हैं ।"[15] 'राजनीति' एक ऐसा विषय है जिससे किसी भी स्थिति में कोई अछूता नहीं रह सकता । अपनी राजनीतिक प्रतिभागिता के विषय में रघुवीर सहाय लिखते हैं कि "मैं कवि हूँ, मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ । मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ इसलिए कविता करता हूँ, जैसे ही यह कहूँगा मेरी मृत्यु निश्चित है । यह जो समय है वह तमाम राजनीतिक व्यवस्थाओं के टूटने का समय रहा है ।

ऐसे समय पर सतही तौर पर यह मान लेना कि कविता और राजनीति का सम्बन्ध है, बहुत बड़ा धोखा होगा ।"[16] अपने लेख 'कविता और राजनीति' में अशोक वाजपेयी ने लिखा है कि "राजनीति का दबाव इतना आक्रामक और तीव्र होता गया है कि उससे बचना वयस्क कविता के लिए मुमकिन नहीं रह गया है । समकालीन सच्चाई राजनीतिक कर्म, इच्छा और तथ्यों से उलझी सच्चाई है, और बिना राजनीति से दो-चार हुए उसका साक्षात्कार अधूरा और अप्रामाणिक रहेगा । राजनीति से सुरक्षित संसार इच्छित संसार है, अतीत-जीवी या भविष्यत् संसार है, समकालीन संसार नहीं, जिसे चरितार्थ करने के लिए कविता नयी कविता, अगर उसकी मूल प्रतिज्ञाएँ अभी भी सही हैं, प्रतिश्रुत हैं । राजनीति से अछूता काव्य-संसार कलात्मक ढंग से सार्थक हो सकता है, स्वायत्त भी, पर मानवीय ढंग से समृद्ध और तात्कालिक नहीं ।"[17] एक रचनाकार जनतांत्रिक देश में अपने जनतांत्रिक अधिकारों का समूचा प्रयोग करते हुए अपनी रचनाओं के माध्यम से जीवन, समाज, राजनीति से जुड़े प्रत्येक पहलू पर बात करता है । फिर साहित्यकार या रचनाकार या कवि जो समाज का अत्यंत जागरूक व्यक्ति है - का राजनीति से विमुख होना तो असंभव सा है ।

हिन्दी कविता में यह 'राजनीति' सदैव एक महत्त्वपूर्ण विषय रही है । सन् '60 के बाद की कविता में 'राजनीति' की केन्द्रीय अवस्थिति है । इस कालखंड की कविताएँ विसंगतियों और द्वंद्वों में जीते, संघर्ष करते, लड़ते, बौखलाते व ठोकर खाते आम आदमी का परिदृश्य प्रस्तुत करती हैं । इन कविताओं में कवियों ने राजनीतिक और सामाजिक विद्रूपताओं का चित्रण किया है । राजनीतिक परिवेश की विडंबनाओं के प्रस्तुतिकरण में कवियों का रवैया आलोचनात्मक और विद्रोही रहा है । इस आलोचनात्मक शैली और विद्रोही प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि क्या है ? क्या कारण है कि व्यवस्था का विद्रोह इस समय की कविता का प्रमुख नारा रहा है ? यह जानने के लिए इस समय की कविता के आधार में निहित उस राजनीतिक परिप्रेक्ष्य की ओर दृष्टिपात करना अत्यंत आवश्यक है ।

वास्तव में सन् 1960 के बाद में जो कविताएँ कवियों ने लिखी उनकी विषयवस्तु और उसका स्वरूप उस मानसिकता का परिणाम था जो आशाओं व स्वप्नों के अपूर्ण रहने या टूटने से बनी थी । एक लम्बे समय तक चले संघर्ष के परिणामस्वरूप 15 अगस्त सन् 1947 को भारत को जो आज़ादी मिली उससे भारतीय जनमानस की उम्मीदें जुड़ी थीं । राजनीतिक स्वतंत्रता का

उल्लास जन सामान्य में अनन्त संभावनाओं का, सकारात्मकता का स्पंदन कर रहा था हालाँकि, विभाजन की गहरी व्यथा, क्षोभ और विषाद भी उसमें घुला-मिला था। इस उल्लास और पीड़ा की भावनाओं को प्रकट करते हुए पण्डित नेहरू ने कहा था कि "हमें इस स्वतंत्रता से आनन्द है, यद्यपि हमारे चारों ओर बादल घिरे हुए हैं और अपने लोगों में बहुत से दुःख से मारे हुए हैं ; और कठिन समस्याएँ हमारे चारों ओर हैं। लेकिन स्वतंत्रता ज़िम्मेदारियाँ और बोझ लाती है और हमें स्वतंत्र और अनुशासनपूर्ण लोगों की भाँति उनका सामना करना है।" वास्तव में अंग्रेजों की ग़ुलामी से मुक्त होने पर भारत का जो स्वरूप हमारे सामने था उसमें कुछ भी ऐसा नहीं था जो हर्षित कर सकता। भारत विभाजन की चुभन तो बहुत गहरी थी ही किन्तु, साथ ही भारत आर्थिक दृष्टि से जर्जर, सामाजिक दृष्टि से रूढ़ियों, अंधविश्वासों, ग़रीबी, अशिक्षा जैसी समस्याओं से ग्रस्त था। राजनीतिक अनुभव का न होना या उस दृष्टि से अपरिपक्व होना भी एक बड़ी समस्या थी। नवस्वतंत्र देश के सामने तमाम आर्थिक-सामाजिक प्रश्नों के तंतु उलझे हुए थे जिन्हें सुलझाकर राष्ट्र को विकास पथ पर आगे ले जाना था। हमें स्वशासन का अधिकार स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ अवश्य मिला किन्तु साथ ही समस्याओं से जूझने के लिए सही मार्ग निर्धारण जैसी बड़ी ज़िम्मेदारी भी मिली। इस ओर इंगित करते हुए पण्डित नेहरू ने कहा कि "एक मुल्क जो आज़ाद कहलाता है, महज़ नक़्शे पर या क़िताबों में आज़ाद लिख देने से तो उसकी सब समस्याएँ हल नहीं हो जातीं। आज़ादी के मायने एक हैं कि रास्ता खुल जाता है चलने का। रुकावटें निकल जाती हैं...लेकिन उसके बाद हम किधर जायें और किसकी टाँगों पर जायें, यह तो हमें ख़ुद फ़ैसला करना है।"[18]

सद्य स्वतंत्र भारत देश के समक्ष जो अनेक समस्याएँ थीं उनमें एक बड़ी समस्या थी भारत की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने की। करोड़ों भारतीयों के स्वप्नों को पूरा करने के लिए एक शासन पद्धत्ति को अपनाया जाना आवश्यक था। हमारे राजनेताओं के समक्ष आज़ाद भारत में सभी नागरिकों को विकास पथ पर निर्द्वंद्व भाव से आगे बढ़ाने का, उज्ज्वल भविष्य से जुड़ी संभावनाओं के संधान का प्रश्न था। अतः भारत में जनतांत्रिक शासन प्रणाली को अपनाया गया क्योंकि 'जनतंत्र' में व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार कर उसे विशिष्ट सम्मान दिया जाता है और राजनीतिक शक्ति की अवस्थिति भी जनता में ही होती है। इस जनतांत्रिक व्यवस्था को लाने के

पीछे देश के प्रत्येक नागरिक की भलाई का स्वप्न था। सभी के चहुँमुखी विकास का विश्वास था। क्योंकि जनतांत्रिक व्यवस्था राजनीतिक परिकल्पना मात्र नहीं होती अपितु सामाजिक-आर्थिक विकास से जुड़कर पूरे मानव जीवन को अपने भीतर समेट लेती है। जनतांत्रिक व्यवस्था को लाना मात्र पण्डित नेहरू व अन्य नेताओं का उद्देश्य नहीं था, उद्देश्य था व्यक्ति के लिए अच्छा जीवन ; और यह संसदीय जनतांत्रिक व्यवस्था उस उद्देश्य प्राप्ति का साधन थी।

यही कारण है कि देश की आज़ादी के आरंभिक वर्षों में पण्डित नेहरू लोकतांत्रिक व्यवस्था को लागू करने में जी-जान से लगे थे। उनका विश्वास था कि भारत जैसे देश में जहाँ क्षेत्रीय, भाषाई, जातीय, धार्मिक विभिन्नताएँ हों वहाँ, यदि कोई शासन प्रणाली सर्वाधिक अनुकूल हो सकती थी तो वह जनतांत्रिक व्यवस्था ही हो सकती थी। पण्डित नेहरू के लिए लोकतंत्र का अर्थ था "देश के राजनीतिक प्रशासन में जनता की सक्रिय हिस्सेदारी।" उनके लेखन और वक्तव्यों के आधार पर लोकतंत्र सम्बन्धी उनकी अवधारणाओं में व्यक्तिगत आज़ादी और जीवन की गुणवत्ता, राजनीतिक और आर्थिक आज़ादी, शांतिपूर्ण तरीकों से लोकतन्त्र और समाजवाद की स्थापना, अनुशासन, ज़िम्मेदारी, सहिष्णुता, अहिंसा, धर्मनिरपेक्षता और संसद के लिए आदर शामिल था। उनके विषय में राजीव गाँधी ने कहा था कि "जवाहरलाल नेहरू का नाम संसदीय लोकतंत्र के इतिहास से हमेशा जुड़ा रहेगा। वह आज़ाद भारत के लिए किसी और तरह की सरकार की कल्पना नहीं कर सकते थे...उनकी यह धारणा कि चुनने का अधिकार जनता को मिलना चाहिए, उनके इस विश्वास पर टिकी थी कि भारत की जनता बुद्धिमत्तापूर्ण चयन करेगी। जवाहरलाल नेहरू ने संसद की सत्ता को जो सम्मान दिया, उसके कारण ही हमारे प्रजातंत्र की जड़ें इतनी गहरी और मजबूत हो सकीं।"[19]

देश के एक जुझारू नेता पण्डित नेहरू की 'जनतांत्रिक व्यवस्था' में दृढ़ आस्था ही वह तत्त्व था जिसके चलते 15 अगस्त सन् 1949 को लालकिला से देश को संबोधित करते हुए उन्होंने लोकतांत्रिक ढाँचे की शांतिपूर्ण व्यवस्था में जनता को सर्वप्रमुख कहा। उन्होंने कहा कि "जनता को क़ानून बदलने, यहाँ तक कि सरकारें बदलने का पूरा हक़ है और वे इस अधिकार का शांतिपूर्ण और लोकतांत्रिक तरीके से इस्तेमाल कर सकते हैं। हमारी संविधान सभा इस समय एक नया संविधान बनाने में व्यस्त है और जल्द ही हम गणतांत्रिक रूप की सरकार अपनाएंगे। लेकिन, सिर्फ क़ानून

और संविधान बना लेने से ही कोई देश महान् नहीं बन जाता । यह जनता का उत्साह, शक्ति और निरंतर प्रयत्न है जो किसी राष्ट्र को महान् बनाता है । क़ानून के लोग भले ही संविधान बना लें लेकिन वास्तव में इतिहास का निर्माण महान् मस्तिष्क, बड़े दिल और मजबूत बाँहों से, पसीने, आँसू और जनता की मेहनत से होता है ।"[20]

भारत जैसे विभिन्नताओं से भरे देश के लिए जनतांत्रिक व्यवस्था ही सबसे उचित व्यवस्था हो सकती है - इस बात के लिए नेहरू आश्वस्त थे । यही कारण है कि स्वतंत्रता संघर्ष के दौर में संसदीय जनतांत्रिक व्यवस्था को रूप और स्वर देने के लिए वह प्रतिबद्ध थे । उनका विश्वास था कि आज नहीं तो कल ग़रीब लोग अपने मताधिकार का बुद्धिमतापूर्वक प्रयोग कर के अपनी आवश्यकतानुसार एक सामाजिक व्यवस्था बनाएँगे । देश से ग़रीबी, अशिक्षा, महामारी, असमानता, अन्याय, पिछड़ापन समाप्त हो जाएगा । देश में एकता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और सुदृढ़ जनता होगी और इस 'आज़ादी के बाद के सपनों के भारत' के लिए भारत के संविधान में वर्णित कानून व नियम सहायक होंगे ।

1.2 आज़ादी के बाद के सपनों का भारत और उससे मोहभंग

सदियों की ग़ुलामी के एक लम्बे संघर्ष के बाद मुक्त हुए भारत को, हर देश की भाँति अपनी शासन व्यवस्था चलाने और अपनी आकाँक्षाओं व सपनों की पूर्ति के लिए किसी शासन पद्धत्ति को अपनाने की आवश्यकता थी । इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत ने जनतांत्रिक शासन प्रणाली को अपनाया । इस जनतांत्रिक शासन प्रणाली को सुचारू रूपेण चलाने हेतु भारत का **संविधान** बनाया गया जिसमें, हमारी शासन व न्याय व्यवस्था से संबंधित नियम व कानून उल्लिखित हैं । संविधान बनाने के लिए संविधान सभा के गठन की माँग सन् 1935 में प्रथमतः आधिकारिक रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने की । आज़ादी के पूर्व और पश्चात् भी भारतीय राजनीति में कांग्रेस की भूमिका रही है । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से सन् 1938 में पण्डित नेहरू ने कहा कि 'वयस्क मताधिकार के द्वारा चुनी गई संविधान सभा बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के संविधान का निर्माण करेगी ।' संविधान सभा बनाने की माँग को सन् 1934 के बाद से निरंतर

दोहराया जा रहा था । पण्डित नेहरू, महात्मा गाँधी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस व अन्य के अनेक प्रयासों के पश्चात् 9 दिसंबर 1946 को सुबह 11 बजे भारत की संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन हुआ । भारत को आज़ादी मिलने के साथ ही 'संविधान सभा' एक सार्वभौम संस्था बनी जिस पर संविधान व कानून बनाने की ज़िम्मेदारी थी । इस सभा के कार्यों को पांच भागों में बाँटा गया'[21] और 26 नवम्बर 1949 को संविधान बनकर तैयार हो गया जो 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ ।

भारतीय संविधान का बनना कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण था । संविधान के लागू होते ही भारतवर्ष विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र बन गया । संविधान ने ही प्रथमतः भारतीय जनता को वर्ण, जाति, धर्म, लिंग, शिक्षा, संपत्ति आदि पर आधारित भेदभाव के बग़ैर पूर्ण "वयस्क मताधिकार प्रदान किए ।"[22] देश की जनसंख्या, उच्च ग़रीबी, सामाजिक असमानता, निरक्षरता को ध्यान में रखते हुए सार्वभौम वयस्क मताधिकार को लागू करना संविधान सभा द्वारा उठाया गया एक सराहनीय कदम था । यह वयस्क मताधिकार समानता के सिद्धांत को लागू करता है, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा की स्वतंत्रता उन्हें देता है और कमज़ोर वर्गों में भी नई आशाएँ जगाता है । भारतीय संविधान को सख़्त होने के साथ लचीला भी बनाया गया ताकि भविष्य में परिवर्तित होती आवश्यकताओं के अनुसार उसमें बदलाव किए जा सकें । संविधान लिखित रूप में बनाया गया क्योंकि व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों और अल्पसंख्यकों के संरक्षण हेतु लिखित दस्तावेज़ का होना आवश्यक था । यह संविधान जनता की भावनाओं व संवेदनाओं को ध्यान में रखकर बनाया गया । लिखित व लचीले संविधान की आवश्यकता पर बल देते हुए पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि "हमें लिखित संविधान की बहुत ज़रूरत थी । वर्तमान परिस्थितियों में यह अवश्यंभावी था, और चूँकि हमारे पास लिखित संविधान था, इसमें मूलभूत अधिकार शामिल करना ज़रूरी था । लेकिन, एक कठोर संविधान संतरणकालीन युग में परिवर्तन में बाधा पहुँचा सकता था । संविधान का सम्मान किया जाना चाहिए, लेकिन यदि यह युग की भावना का प्रतिनिधित्व नहीं करता या उसमें बाधा पहुँचाता है या जनता की शक्तिशाली भावनाओं को नहीं लेता, तब समस्याएँ और टकराव पैदा होते हैं । इसलिए, न सिर्फ स्थायित्व और उद्देश्य की स्थिरता रखना बुद्धिमानी है, बल्कि संविधान में कुछ लचीलापन और परिवर्तनीयता भी ।"[23] इनके

अतिरिक्त भारतीय संविधान एक स्वतंत्र और एकीकृत न्यायपालिका की स्थापना करता है जिसमें सर्वोच्च न्यायलय शीर्ष पर है। इसकी स्वतंत्रता के भी संविधान में प्रावधान किए गए हैं क्योंकि यह संविधान का संरक्षक है और साथ ही नागरिकों के मौलिक आधिकारों की गारंटी देता है।

आज़ाद भारत देश को इस संविधान ने ही संसदीय जनतांत्रिक प्रणाली के माध्यम से एक ज़िम्मेदार सरकार दी। संविधान लागू होने के पश्चात् यह सुनिश्चित हो गया कि भारत में जनतांत्रिक शासन व्यवस्था होगी। वयस्क मताधिकार के आधार पर आम जनता अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करेगी जो जनता के प्रति उत्तरदायी होंगे और उनके विकास व उन्नत्ति के लिए काम करते हुए देश की शासन व्यवस्था चलाएँगे। इसके लिए संविधान के तहत **आम चुनाव** करवाना आवश्यक था। यह आम चुनाव करवाने के लिए जवाहरलाल नेहरू बहुत चिंतित और व्यग्र थे। फ़रवरी 1950 से ही नेहरू ने मुख्यमंत्रियों के सामने आम चुनावों के महत्त्व पर प्रकाश डालना आरम्भ कर दिया था। स्वतंत्र भारत में वयस्क मताधिकार पर आधारित देश का यह प्रथम आम चुनाव लोकतंत्र के इतिहास में अति महत्त्वपूर्ण था क्योंकि, पण्डित नेहरू के विचार में यह चुनाव जनता के स्पष्ट मत जानने का अवसर था। पहली बार भारत के लोग संसद और राज्य विधानसभाओं के सदस्य चुनकर देश के भविष्य की बाग़डोर विश्वसनीय प्रतिनिधियों के हाथ में देने वाले थे। 22 नवम्बर 1951 को दिल्ली के ऑल इंडिया रेडियो के स्टेशन से प्रसारित एक भाषण में उन्होंने कहा कि "लोकतांत्रिक चुनावों का पूरा मक़सद प्रमुख समस्याओं पर मतदाताओं के विचार जानना था और उन्हें अपने प्रतिनिधि चुनने में मदद करना था। पार्टियाँ लोगों के सामने अपने प्रोग्राम रखती हैं। वे अपने प्रोग्राम के गुण बताने और दूसरे प्रोग्रामों की ख़ामियाँ बताने के लिए गहरा प्रचार करती हैं। इन विरोधी प्रचारों का मक़सद लोगों को शिक्षित करना और मतदाताओं को अधिक समझदार बनाना तथा उन्हें सही चुनाव करने में मदद करना है।"[24]

भारत का भविष्य इन आम चुनावों से प्रभावित होने वाला था। नव स्वतंत्र भारत के करोड़ों लोगों के सपने इन चुनावों से जुड़े थे क्योंकि नेतृत्व का कार्य उन आकाँक्षाओं को पूर्ण करने की दिशा में आगे बढ़ना था। आवश्यक था देश के प्रत्येक व्यक्ति को इन चुनावों की महत्ता समझाना क्योंकि अधिकांश मतदाता पहली बार अपना मत देने वाले थे और उनमें से अधिकांश लोग मतदाताओं के अधिकारों और कर्तव्यों से अपरिचित थे। एक मजबूत जनतंत्र बनाने के लिए

जनता की सचेत भागीदारी की अनिवार्य आवश्यकता थी । राजनीतिक चिन्तक जयप्रकाश नारायण ने इस सन्दर्भ में कहा था कि "आम नागरिक लोकतंत्र से जितना अलग और उदासीन रहेगा, लोकतंत्र उतना ही दुर्बल और कुण्ठित बनेगा । लोकतंत्र के मूल्यों के प्रति जागरुकता के बिना लोकतंत्र एक निष्प्राण कलेवर-भर रह जायेगा । अतएव हमारे हाथ में एक ही उपाय है कि हम लोगों के पास पहुँच कर उनकी स्वतंत्रता के बारे में और उनके अपने कर्तव्यों के बारे में जागृत करें ।"[25]

नेहरू भी इसके लिए सदैव प्रयासरत रहे कि सभी को यह जानकारी हो कि लोकतंत्र की महत्त्वपूर्ण कड़ी - आम चुनावों का, उसके परिणामों का क्या प्रभाव आम व्यक्ति के जीवन पर पड़ेगा और क्यों चुनावों में जनता की भागीदारी आवश्यक है । प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए यह जानना आवश्यक था कि चुनावों के माध्यम से अपने प्रतिनिधियों को चुनने की स्वतंत्रता, जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी का प्रतीक है । जन-इच्छा को व्यक्त करने का साधन है । शासन-प्रक्रिया में उनकी भागीदारी है जिससे, भविष्य में भारत का राजनीतिक-सामाजिक तंत्र प्रभावित हो सकता है । चुनाव करने का यह अधिकार, निर्वाचन की यह प्रक्रिया वैयक्तिक और सामूहिक निर्णय को सामने लाने का सशक्त माध्यम है । "निर्वाचन प्रक्रिया आपसी संभाषण और सम्प्रेषण के लिए समाज और राजनीति, व्यक्ति और सरोकार तथा विशिष्ट और सामान्य जन को एक-दूसरे से बद्ध करती है । वस्तुतः निर्वाचन राजनीतिक समाजीकरण एवं राजनीतिक सहभागिता का सशक्त माध्यम है ।"[26] इसी निर्वाचन पद्धति द्वारा ही जनतांत्रिक व्यवस्था का सही आँकलन संभव था । अतः एक रेडियो प्रसारण के माध्यम से उन्होंने आम व्यक्ति को यह समझाने के मक़सद से कहा कि "यही सही है कि आपमें से हरेक को इस महान लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में भाग लेना चाहिए जो इतने बड़े पैमाने पर हो रही है जितनी इतिहास में पाई नहीं जाती । यह भी ज़रूरी है कि आप भारत के गणतंत्र के नागरिकों के रूप में इसमें हिस्सा लें । बिना शक़, भारत का भविष्य इन चुनावों से प्रभावित होगा । लोकतंत्र राष्ट्रीय मामलों और सरकार बनाने वाले चुनावों में जनता की सक्रिय और समझदार भागीदारी पर निर्भर करता है ।"[27]

भारत जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक दृष्टि से विविधताओं से भरे देश में चुनाव करवाना चुनौतीपूर्ण था । भारत दासता की बेड़ियों से अभी-अभी मुक्त हुआ था । जाति, धर्म,

वर्गगत संकीर्णताएँ गहराई तक व्याप्त थीं। चुनावों में इन संकीर्णताओं के प्रबल होने का भी ख़तरा था। यही कारण है कि जनसम्पर्क स्थापित करने के अनेक प्रयास भी किए गए। पण्डित नेहरू ने इन धर्म और जातिगत संकीर्णताओं के हावी होने के ख़तरे की ओर इंगित करते हुए कहा कि "मुझे इस चुनाव से जो सबसे बड़ा ख़तरा मालूम होता है वह यह है कि कहीं लोग एक तंगख़यालीसे इस बात को न सोचें कि हम अपनी बिरादरी के, जात के आदमी को चुन लें...क्योंकि तंगख़यालीसे चुनेंगे तो आपकी जो आइन्दा पार्लामेंट होगी वह फिर तंगख़याल लोगों की हो जायेगी, छोटे कद के लोगों की होगी जो हर वक़्त अपने हल्के का अपनी जात का सोचेंगे, न कि हिन्दुस्तान के बड़े सवालों पर ग़ौर कर फ़ैसला कर सकेंगे।"[28]

पहली बार होने वाले इन आम चुनावों को सफल बनाना मात्र ही तब सबके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं था। आवश्यकता थी चुनाव के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर शांतिपूर्ण और निष्पक्ष तरीके से लड़े जाने की। इसके लिए पण्डित नेहरू ने कुछ निर्देश दिए जो सभी पार्टियों के लिए अनुकरणीय थे। जैसे :-

(अ) हर पार्टी और उम्मीदवार को उचित और बराबर का मौका दिया जाना चाहिए। शासक पार्टी के होने के नाते किसी उम्मीदवार को विशेषाधिकार नहीं मिलने चाहिए।

(ब) तैनात सरकारी अफ़सरों को निष्पक्ष तौर पर और पूरी तरह बिना पक्षपात के काम करना चाहिए।

(स) मंत्रियों को अपने चुनाव हित के पक्ष में अपने औपचारिक पदों का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। जहाँ तक हो सके, औपचारिक जिम्मेदारियों को चुनाव कार्य से अलग रखना चाहिए।

(द) किसी भी हालत में राष्ट्रीय झंडे का पार्टी या चुनाव कार्य में इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए।"[29]

पण्डित नेहरू के कन्धों पर इन चुनावों को निष्पक्ष व सफल बनाने की ज़िम्मेदारी तो थी ही, साथ ही अपनी पार्टी (कांग्रेस) की भी विशेष ज़िम्मेदारी थी। अतः पार्टी अध्यक्ष के रूप में उन्होंने कांग्रेस का चुनावी घोषणापत्र तैयार करवाया और चुनाव अभियान की मूल नीतियाँ भी बनाईं। आम चुनावों की ज़िम्मेदारी चुनाव कमिश्नर को दी गई और चुनाव कमीशन को पूर्णतः

स्वतंत्र छोड़ा गया जिससे कि चुनाव प्रक्रिया में कोई किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सके। क्योंकि गुप्त और स्वैच्छिक मतदान हमारी चुनाव प्रक्रिया की विशिष्टता है ताकि मतदाता बिना किसी भय के निष्पक्ष होकर मत दे सके और प्रत्येक व्यक्ति के लिए मतदान हेतु स्वतंत्र वातावरण तैयार किया जा सके।

'आम चुनाव' को सफल बनाने में जनता की भागीदारी सबसे महत्त्वपूर्ण थी किन्तु अधिकांश भारतीय मतदाता अशिक्षित थे ; इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने जन भाषणों, जुलूसों, नारों व दृश्य संकेतों को अपनाने पर ज़ोर दिया ताकि, विशाल जनसंख्या वाले देश में निरक्षरता, निर्धनता, जाति और वर्ग सम्बन्धी संकीर्णताओं के वृहत् स्तर पर होने के बावजूद प्रत्येक वयस्क की शासन में भागीदारी सुनिश्चित की जा सके। ग्रामीण जनता को आकर्षित करने के उद्देश्य से पार्टी चुनाव चिन्ह के रूप में बैलों के जोड़े को रखा गया। हमारे राजनेताओं का यह विश्वास था कि निरक्षर व्यक्ति भी सही और ग़लत में फ़र्क करना जानता है। अतः अपनी समझ और सामाजिक सहभागिता व जानकारी के बल पर मतदान कर सकता है। उन्होंने सदैव इस तथ्य पर ज़ोर दिया कि जीतने या हारने से अधिक महत्त्व चुनाव प्रक्रिया के भली प्रकार सफल होने का है ताकि भावी पीढ़ी के समक्ष सम्माननीय उदाहरण रखा जा सके और मूल उद्देश्य (जनता की उन्नत्ति) को प्राप्त किया जा सके। कांग्रेस पार्टी को सौंपी गई एक रिपोर्ट में उन्होंने कहा कि "[30]आनेवाले चुनाव महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन इनसे भी ज्यादा यह ठीक-ठाक जानना महत्त्वपूर्ण है कि हम किस चीज़ के पक्ष में हैं और भविष्य में हम कैसे काम करना चाहते हैं। चुनाव हार जाना लेकिन अपनी आत्मा बचाए रखना बेहतर होगा, बजाए इसके कि हम ग़लत रास्ते और ग़लत तरीकों से चुनाव जीतें।"

प्रथम आम चुनावों की सम्पूर्ण प्रक्रिया को सफल बनाने के लिए बड़े पैमाने पर तैयारियाँ की गईं। मत देने से लेकर मतों की गिनती करने, चुनाव के परिणाम घोषित करने तक के लिए एक विशाल संगठन बनाया गया। किसी नए देश में इतने बड़े स्तर पर मतदान करवाना और लोकतान्त्रिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में किए गए इस प्रथम प्रयास को सफल बनाना एक बहुत बड़ी चुनौती थी जिसमें, देश के बड़े समर्पित नेताओं के प्रयासों से सफलता हासिल हुई।

इसके लिए भी पण्डित नेहरू ने जनता को सर्वोपरि माना और कहा कि 'यदि जनता चुनाव प्रक्रियाओं को न समझती और समझदारी से सहयोग नहीं देती तो सारी सरकारी तैयारियाँ भी चुनाव को सफल नहीं बना सकती थीं।'

समर्पण, कठिन परिश्रम और संगठित होकर आम चुनावों के लिए किए गए इन प्रयासों में अंततः सफलता मिली और देश को कांग्रेस सरकार के रूप में पहली ज़िम्मेदार सरकार मिली। लगभग 60 प्रतिशत जनता ने मत दिया और 45 प्रतिशत का बहुमत कांग्रेस को मिला। कांग्रेस सत्तारूढ़ हुई और देश के राजनीतिक संचालन की बाग़डोर संभाली। संसद विधिवत् बनी, संविधान के अनुसार राष्ट्रपति, उच्च सदन व निम्न सदन का उद्घाटन हुआ और 13 मई 1952 को मंत्रिपरिषद् ने पदभार संभाला। इस प्रकार सन् 1952 में औपचारिक रूप में भारत एक जनतांत्रिक देश बना। एक ऐसा देश जहाँ लिंकन के कथनानुसार 'जनता के लिए, जनता द्वारा, जनता का शासन' होता है।

आम चुनावों के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने के साथ ही नव स्वतंत्र भारत में **जनतांत्रिक शासन प्रणाली** स्थापित हुई। स्वावलम्बी होने की दिशा में अग्रसर भारत की विकास यात्रा का पहला और महत्त्वपूर्ण पड़ाव पार हुआ और दूसरी मंज़िल की ओर यात्रा आरम्भ हुई। नेहरू ने जनतांत्रिक व्यवस्था को लाने के पीछे निहित उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए सदन में कहा कि वह "लोकतांत्रिक तरीकों से भारत के निर्माण" के प्रति समर्पित हैं, क्योंकि राष्ट्र ने सोच-समझ कर लोकतांत्रिक ढाँचा तय किया है। वह जनता और देश के लिए अंतिम अर्थों में अच्छा है क्योंकि लोकतंत्र समाज को "उच्चतम मानव मूल्यों के रूप में कुछ" देता है।"[31] साथ ही देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने 16 मई 1952 को पहली बार मंत्रिपरिषद के सदस्यों को संबोधित करते हुए और उन्हें उनके कर्तव्य याद दिलाते हुए कहा कि "अब जबकि हम भारत की लम्बी कहानी की एक और मंज़िल के कगार पर खड़े हैं, हमें यह तय करना होगा कि सेवा का सबसे अच्छा रास्ता क्या है। आपने और हमने अपने देश की सेवा करने की शपथ ली है। हम इस शपथ के प्रति सच्चे बने रहें और अपने सर्वोच्च को इसे समर्पित करें।"[32]

देश की शासन व्यवस्था को चलाने के लिए 'जनतांत्रिक प्रणाली' अपनाने के पीछे सबसे बड़ा कारण देश की आम जनता को प्रत्यक्षतः शक्ति संपन्न बनाना और उनका विकास करना था।

प्रत्येक व्यक्ति हेतु स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, सामाजिक न्याय सुनिश्चित करना तथा सभी वंचित और पिछड़े वर्ग के लोगों को समान राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकार देना इस व्यवस्था की विशेषता थी । शासन या सरकार की एक पद्धति होने के साथ ही समाज की भी व्यवस्था जनतांत्रिक प्रणाली में सम्मिलित थी । धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद का होना, साम्प्रदायिकता का विरोध, जनजातीय लोगों का एकीकरण होना आवश्यक था । विविध जातियों, वर्गों में विभाजित भारतीय समाज के अस्पृश्यों और वंचितों को मुख्यधारा में लाना भारतीय जनतंत्र के समक्ष एक बड़ी चुनौती थी । एक ओर देश की आर्थिक उन्नत्ति और विकास प्रक्रिया को मजबूत करना था, दूसरी ओर यहाँ की बहुसंख्यक, अशिक्षित, बहिष्कृत और निर्धनता से जूझती जनता की समस्याओं को दूर करना था । साथ ही उनके जीवन में संसाधन उपलब्ध करवाकर उन्हें मुख्यधारा में लाना था ताकि सभी अच्छा जीवन जी सकें और राष्ट्र निर्माण में भागीदार बनें । इसके लिए राजनीतिक लोकतंत्र के साथ आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र का होना भी आवश्यक था ।

राजनीतिक लोकतंत्र तो संविधान निर्माण और प्रथम आम चुनावों के बाद स्थापित हो गया था किन्तु सामाजिक लोकतंत्र (बोलने की, एक ही भौगोलिक क्षेत्र में रहने की स्वतंत्रता, सभी वर्णों व वर्गों और लिंग के लोगों के साथ समान व्यवहार और समान अवसर, शिक्षा का अधिकार आदि) और आर्थिक लोकतंत्र नहीं । यह समानता और एकता लाने के लिए भी नेहरू प्रतिबद्ध थे । एक रेडियो प्रसारण में उन्होंने कहा था कि "हमारी सामाजिक रचनाएँ और अर्थतंत्र पुराने पड़ गए हैं । उन्हें पुनर्जीवित करना हमारे लिए ज़रूरी हो गया है, ताकि वे हमारी जनता की भौतिक और आध्यात्मिक ख़ुशी बढ़ाएँ । हमें अपने उद्देश्य के रूप में एक ऐसा सामाजिक दर्शन रखना है जो इस ढाँचे का मूलभूत बदलाव करे, एक ऐसे समाज का उद्देश्य रखना है जो निजी मुनाफ़े से प्रेरित न हो और न ही व्यक्तिगत लालच से और जिसमें राजनीतिक और आर्थिक शक्ति का उचित बँटवारा हो । हमें वर्ग-विहीन समाज की ओर बढ़ना है, जो सहयोग पर आधारित हो और जिसमें सबों को मौका मिले । इसे पाने के लिए हमें शांतिपूर्ण तरीके से लोकतांत्रिक रास्ता अपनाना होगा ।"[33]

एक वर्ग-विहीन समाज की प्राप्ति और जनता की भौतिक और आध्यात्मिक ख़ुशी के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राजनीतिक आधार की ही भाँति आर्थिक आधार को भी व्यापक बनाने की

आवश्यकता थी ; क्योंकि जहाँ की जनता आर्थिक रूप से सुरक्षित न हो वहाँ मात्र मत देने का अधिकार उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकता । इसके लिए आवश्यक है रोटी, कपड़ा, मकान और शिक्षा जैसी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति और एक अच्छा जीवन । नवगठित सरकार के समक्ष जनता की दरिद्रता का निवारण करने के लिए उचित नियोजन प्रक्रिया द्वारा स्वतंत्र आर्थिक विकास करने की चुनौती थी । स्वतंत्रता आन्दोलन और वयस्क मताधिकार द्वारा जागृत जनता की आकाँक्षाओं और उनको पूरा करने के बीच के अंतराल को कम करने, सदियों के सामाजिक अन्याय से मुक्ति दिलवाने की ज़िम्मेदारी थी । उनकी कल्पनाओं में ऐसे स्वतंत्र भारत की तस्वीर थी जहाँ तीव्र सामाजिक और आर्थिक रूपांतरण हो । इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और करोड़ों लोगों के स्वप्नों को सच्चाई में परिवर्तित करने हेतु स्वतंत्र जनतांत्रिक देश की पहली सरकार के लिए योजनाबद्ध तरीके से चलना आवश्यक था । अतः नव निर्मित सरकार के प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 'समाजवादी आर्थिक मॉडल' को चुना ।

देश के आर्थिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य संवृद्धि, समानता, आत्मनिर्भरता, आधुनिकीकरण और विकास था । सद्य स्वतंत्र भारत में एकता, ग़रीबी उन्मूलन और समाज में कल्याणकारी नीतियों को लागू करने हेतु नेहरू तीव्र आर्थिक विकास को महत्त्वपूर्ण मानते थे । देश का सर्वांगीण (सामाजिक-आर्थिक) विकास सुनियोजित विकास कार्यक्रमों से ही संभव हो सकता था । देश की अवरुद्ध गति को बढ़ाने हेतु 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' की स्थापना की गई । इस परिषद् के सदस्यों ने नव स्वतंत्र देश की स्थितियों और साधनों का अध्ययन कर समयबद्ध आर्थिक विकास हेतु नियोजित राष्ट्रीय योजनाओं को बनाया जिन्हें निर्धारित समय में पूर्ण किए जाने का लक्ष्य रखा गया । "राष्ट्रीय योजना वह बाँध है, जो निर्धनता के इस विशृंखल प्रवाह को केवल थाम ही नहीं लेना चाहता, अपितु अन्तर्निहित स्वशक्ति से उसकी दिशा बदल देने का प्रयास करता है, और एक ऐसी उत्पादकता का जन्मदाता है, जिसे विशेषज्ञों ने 'आर्थिक क्रान्ति' कहा है ।"[34]

एक नव स्वतंत्र देश को आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनाने हेतु पण्डित नेहरू ने कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जिसके तहत सन् 1951 में **पंचवर्षीय योजनाओं** की शुरुआत की गई । पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्य का स्पष्टीकरण करते हुए योजना-प्रारूप के आरम्भ में कहा गया कि "भारत में

आयोजन का केन्द्रीय उद्देश्य जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना और उनके लिए एक समृद्धिशाली और विविधतापूर्ण जीवन के लिए अवसर प्रदान करना है । इसीलिए आयोजन का लक्ष्य एक ओर तो यह होना चाहिए कि समाज में प्राप्त जन और सम्पत्ति के साधनों का और अधिक प्रभावशाली ढंग से उपयोग किया जाए । जिससे उन साधनों द्वारा सामग्री और सेवा की अधिक से अधिक प्राप्ति हो, और दूसरी ओर आमदनी, धन और अवसर में असमानताएँ कम हों ।"[35]

'पंचवर्षीय योजनाओं' को बनाने के आधार में सद्भावनाएँ थीं और जनसाधारण को भी इन योजनाओं और अपनी सरकार पर पूर्ण आस्था थी । योजनाओं का उद्देश्य उच्च विकास दर प्राप्त करना, देश की उत्पादक क्षमता में वृद्धि करना, सामाजिक व आर्थिक न्याय को सुदृढ़ करना (समानता लाकर) कमज़ोर वर्ग के लोगों, महिलाओं, बच्चों, बुजुर्गों के उत्थान पर बल देना, स्वावलंबी बनाना, रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना, ग़रीबी उन्मूलन था । प्रथम पंचवर्षीय योजना का जो लक्ष्य निर्धारित किया गया था उसे हमने प्राप्त किया किन्तु दूसरी व तीसरी पंचवर्षीय योजनाएँ (क्रमशः 1956-1961 व 1961-1966) असफल रहीं । इन पंचवर्षीय योजनाओं से अति उत्साहित भारतीय लोगों की आर्थिक विकास से जुड़ी अपेक्षाएँ पूर्णतः पूरी नहीं हो पाईं । विदेशी ऋणों और मुद्रास्फीति के बोझ से भारतीय अर्थव्यवस्था डगमगाई । परिणामतः सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से निपटने तथा असमानता को धूसरित करने के दावे बेरोजगारी, पूँजीवादी ढाँचे और बढ़ती जनसंख्या के कारण सही साबित नहीं हो पाए । तीसरी पंचवर्षीय योजना की असफलता से हुई हताशा के कारण आगामी तीन वर्षों (1966-1968) तक इन योजनाओं को रोक दिया गया । इसके बाद भी जो योजनाएँ आईं उनमें पाँचवीं, छठी व सातवीं योजना को छोड़कर बाकी में संवृद्धि दर अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकी । सन् 1962 में हुआ भारत-चीन युद्ध और 1965 में हुआ भारत-पाक युद्ध भी इन योजनाओं की असफलता में महत्त्वपूर्ण कारक थे । इन युद्धों से अपने पैरों पर खड़ा होने और विकास की दौड़ में आगे बढ़ने को प्रयासरत भारत को आघात पहुँचा । राजनीतिक स्तर पर उथल-पुथल मच गई और अपने देश को अपनी आंतरिक व्यवस्था और नीतियों को परिवर्तित करना पड़ा । इन अचानक आन पड़े संकटों से जूझने के क्रम में देश को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा । भारतीय अर्थव्यवस्था प्रभावित

होने के परिणाम स्वरूप अनेक सामाजिक समस्याएँ आईं जिनसे आम जन-जीवन बुरी तरह प्रभावित हुआ।

ऐसी विकट परिस्थितियों के दौरान 2 मई सन् 1964 में सबके प्रिय, विश्वासपात्र और प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित नेहरू का निधन हो गया। उनके बाद ग़मज़दा माहौल में शांति से लालबहादुर शास्त्री को प्रधान पद दिया गया। उसी समय ताशकंद समझौता हुआ और संदिग्ध परिस्थितयों में उनकी भी मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के बाद देश में अस्थिरता का माहौल बना। तत्पश्चात् देश की बाग़डोर इंदिरा गाँधी के हाथों में आई। उस समय देश में उथल-पुथल मची हुई थी। विभिन्न समस्याओं से जूझ रही भारतीय जनता सामाजिक, आर्थिक, मानसिक रूप से त्रस्त थी। बहुत सी समस्याओं यथा मद्रास प्रान्त का हिन्दी विरोधी आन्दोलन, पंजाबी सूबे के लिए संघर्ष, गोवा और हैदराबाद काण्ड, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में अकाल की स्थिति आदि से भारत गुज़र रहा था।

इन सभी राजनीतिक आन्दोलनों, युद्धों, प्राकृतिक आपदाओं की आग में देश की आम जनता के सपने झुलसने लगे। उनमें निराशा और असंतोष घर करने लगा था। अर्थव्यवस्था मंदी से जूझ रही थी और उसमें गिरावट आ रही थी। औद्योगिक उत्पादन और निर्यात कम हो रहा था। 1965 के सूखे के बाद लगातार 1966 में वर्षा नहीं हुई और पहले से अधिक सूखा पड़ा जिसके फलस्वरूप खाद्य संकट पैदा हुआ। भारत-चीन और भारत-पाकिस्तान युद्ध में सैनिक खर्चे में तीव्र वृद्धि हुई और संसाधन और नियोजन प्रभावित हुआ। देश का बजट घाटा बढ़ा जिससे चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की सफलता भी ख़तरे में पड़ गई। सन् 1970 में शुरू हुई चतुर्थ पंचवर्षीय योजना बंगाल के मुक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप आशानुकूल परिणाम नहीं दे सकी। उस आन्दोलन के तहत बहुत से बंगाली शरणार्थी भारत आए जिससे भारत की आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ा। फिर भी "भारत सरकार तथा भारतीय लोगों ने खुले दिल से भारतीय धरती पर क़रीब 10 लाख बंगाली शरणार्थियों के आर्थिक बोझ को सहन किया।"[36] शरणार्थियों की बड़ी संख्या को मूल सुविधाएँ उपलब्ध करवाने के प्रयास में सरकारी कोष पर वजन बढ़ा, महँगाई भी बढ़ी। योजनाओं की यह लम्बी श्रृंखला भारतीय अर्थव्यवस्था और जनसामान्य को सम्पन्नता के

अपेक्षित परिणाम नहीं दे पाई। अब तक जो पंचवर्षीय या अन्य योजनाएँ बनायीं गईं थी उनमें से अधिकाँश असफल रहीं और जनता से किए गए बड़े-बड़े वादे भी पूरे नहीं हुए।

यद्यपि यह योजनाएँ पूर्णतः सफल नहीं हुई किन्तु पूरी तरह असफल भी नहीं हुई। 1970 तक बनीं इन योजनाओं ने देश के भावी विकास के लिए एक पृष्ठभूमि बना दी थी। गाँवों की आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों को सुदृढ़ बनाने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम भी बनाए गए। इन्हीं योजनाओं के तहत देश में सकारात्मक परिवर्तन भी हुए। इन परिवर्तनों में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, औद्योगिक विकास, ग्रामीण क्षेत्रों में पक्की सड़कों, बिजली, रेडियो, टी.वी., ट्रैक्टर का पहुँचना आदि शामिल हैं। खाद्यान्न क्षेत्र में आई हरित क्रांति, वैज्ञानिक प्रगति के माध्यम से सिंचाई के साधनों व आवागमन के साधनों में हुई उन्नति उसके प्रमाण हैं। किन्तु इस प्रगति और सुविधाओं का वितरण समान रूप से नहीं हुआ। परिणामतः शोषक और शोषित के बीच की खाई और गहरी हो गई व ग़रीब और ग़रीब तथा अमीर और अमीर होता चला गया। देश के निम्न और निम्नमध्य वर्ग की स्थिति निरंतर बिगड़ने लगी। निर्धनता, बेरोजगारी, महँगाई जैसी समस्याओं ने विकराल रूप धारण किया और आम जन के हाथ हताशा लगी। इतना ही नहीं इन सबके बाद राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल मची रही। नक्सलवाद का उदय, आपातकाल की स्थिति (इनका वर्णन विस्तार में अगले उप अध्याय में किया जाएगा) आदि भी मानवीय आकाँक्षाओं को झकझोर देने वाली घटनाएँ थीं।

सन् 1971 के आम चुनावों से पूर्व इंदिरा गाँधी ने अपने समतावादी और सुधारवादी नारों से 1962 से चली आ रही अनास्था को दूर कर उनमें आशा की नई किरण जगाने का काम किया। ग्रामीण व शहरी निर्धनों और मध्यवर्ग में उनके प्रति विश्वास बढ़ा किन्तु धनी किसान और पूँजीपति उनसे दूर हटते गए। इंदिरा गाँधी ने 1971 के आम चुनावों में यह सिद्ध कर दिया कि यदि राष्ट्रीय मुद्दों पर चुनाव लड़ा जाये तो संरक्षणवादी राजनीति का कोई अर्थ नहीं रहता। साथ ही यह भी कि यदि ग़रीबों और शोषितों को एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के आस-पास एकत्र किया जाए तो एक सार्थक राजनीतिक विकल्प वह बन सकता है। किन्तु जनादेश प्राप्त कर सत्ता में आने के बाद उसी ग़रीब और शोषित वर्ग से किये गए वादों को पूरा करना एक बड़ी चुनौती बनकर उनके सामने आ खड़ा हुआ। उन्होंने इस वर्ग में बहुत अधिक उम्मीदें जगा दी थीं और उनसे किए गए

वादों को पूरा करना आवश्यक था क्योंकि उनके पास शक्ति थी। किन्तु उनके प्रधानमंत्री पद ग्रहण करते ही बांग्लादेश का जो संकट उपस्थित हुआ उसके कारण आवश्यक कार्यों को उन्हें स्थगित करना पड़ा। परिणामतः इंदिरा गाँधी से भारतीय जनता को जितनी आशाएँ थी वह भी पूरी न हुई। आम जन से किए गए वायदे पूरे नहीं हुए और असंतोष व अविश्वास बढ़ने लगा।

स्पष्ट है कि आज़ादी के बाद के भारत से जुड़े साधारण जन के स्वप्न टूट रहे थे। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के विडम्बनात्मक परिणामों के कारण भारत में सभी के विकास का विश्वास टूट रहा था। जिन भारतीय नेताओं ने निर्धन देश की अभावग्रस्त जनता को सुनहरे वादों और विविध योजनाओं द्वारा उम्मीद दी थी वे महात्मा गाँधी के त्याग और कर्म के प्रति निष्ठा के भाव के पाठ को विस्मृत कर स्वार्थ साधने को लालायित होने लगे थे। जनता को शब्दों के सम्मोहन में बाँध कर, सामाजिक-आर्थिक समत्व की बातें कर पद बनाए रखने की लालसा सत्ताधारियों में बढ़ गई थी। व्यापक आर्थिक असंतोष, बढ़ती कीमतों से प्रेरित राजनीतिक आन्दोलन, खाद्यान्नों की कमी, बढ़ती बेरोज़गारी से आर्थिक पतन का आधार बन रहा था। समाज के सभी लोग अपनी इच्छाओं और स्वप्नों को एक हद तक संतुष्ट करने में समर्थ थे किन्तु निम्न मध्यवर्ग की अधूरी आकांक्षाएँ कहीं न कहीं विद्रोह की भावना को जन्म दे रही थी। अपनी स्थितियों के परिवर्तित होने की आस में दिन दूनी, रात चौगुनी मेहनत करने वाले लोगों को यह अनुभव होना अब आरम्भ हो गया था कि परिवर्तन उनकी नहीं पूँजीपतियों की स्थितियों में आ रहा था। निर्धन लोगों की स्थितियाँ अपरिवर्तित थी और निर्धनता बढ़ रही थी। सामान्य व्यक्ति सामान्य जीवन जीवन जी पाने में भी असमर्थता महसूस कर रहा था। विकास की पूँजीवादी पद्धत्ति के कारण समाज के विविध वर्गों के बीच असमानता बढ़ रही थी। ग्रामीण क्षेत्रों में असंतोष बड़े पैमाने पर फ़ैल रहा था। शहरी क्षेत्र का मजदूर वर्ग और निम्न वर्ग भी असंतुष्ट था। असंतोष इस वर्ग को हिंसात्मक मार्ग की ओर ले जा रहा था, जिसका प्रमाण देश के विविध हिस्सों में नक्सलबाड़ी आन्दोलन के विकास के रूप में मिलता है।

स्वतंत्र भारत में जिन नायकों से जिस शुद्ध आचरण, त्याग, समर्पण और भारत में समानता लाने हेतु कार्य करने की अपेक्षा थी वह सत्ता के लोभ में, संकीर्ण स्वार्थों से आच्छादित होकर विपरीत दिशा की ओर मुड़ गए। इसका परिणाम यह हुआ कि नवस्वतंत्र भारत में अवसरवादिता,

बिखराव, पक्षपात आदि को बढ़ावा मिला । भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला । स्वतंत्रता के बाद हमारे जननायकों के काँधे पर त्याग, सेवा, समर्पण के मार्ग पर चलकर देश को आगे ले जाने का जो दायित्व था उसे भूल सत्ता को बनाए रखने की ललक ने अनीति और भ्रष्ट व्यवहार को पल्लवित होने अवसर दिया । इन स्थितियों का अवलोकन करते हुए गजानन माधव 'मुक्तिबोध' ने कहा कि "जिस भ्रष्टाचार, अवसरवादिता और अनाचार से आज हमारा समाज व्यथित है, उसका सूत्रपात बुजुर्गों ने किया । स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त भारत में, दिल्ली से लेकर प्रान्तीय राजधानियों तक भ्रष्टाचार और अवसरवादिता के जो दृश्य दिखाई दिए उनमें बुजुर्गों का बहुत बड़ा हाथ है ।"[37]

भ्रष्टाचार, अदूरदर्शिता, जन सामान्य की स्थितियों में परिवर्तन के प्रति ढुलमुल रवैये के कारण आज़ादी के बाद जो क्रमवार योजनाएँ बनीं वह अपेक्षित परिणाम नहीं दे पाईं । दूसरी ओर वह वर्ग-विशेष को लाभ पहुँचाने वाली साबित हुई । इन स्वातंत्रयोत्तर राजनीतिक परिस्थितियों का अवलोकन करते हुए डॉ. गोविन्द रजनीश ने कहा कि "पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप और तत्सम्बन्धी लम्बे-चौड़े वायदों का कुहासा शनैः शनैः हवा में घुलता गया । अमल करने या कराने में जो भी कदम उठे, वे अनुभूत और भ्रष्ट प्रशासकीय तरीक़ों के कारण बेअसर रहे । जनता की हालत वैसी ही रही । रोटी की जगह आँकड़ों के निवाले ज़बरदस्ती से मुँह में ठूँसे गए । पंचवर्षीय योजनाओं में 290 अरब रुपये फूँकने के बावजूद भी ग़रीबी, बेकारी, मँहगाई, भुखमरी, अकाल, बाढ़, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, नेताई-कुर्सीमोह और विदेशी भाषा न केवल बदस्तूर बने रहे अपितु रक्तबीज की तरह फलते-फूलते रहे ।"[38]

जन सामान्य इन स्थितियों को झेलने को विवश था किन्तु कवियों ने इन स्थितियों को अनदेखा नहीं किया । आज़ादी के तुरन्त बाद से ही कवियों की दृष्टि ने इन स्थितियों का अवलोकन किया और शब्द दिए । जिन कवियों ने आरम्भिक समय में स्वतंत्रता के उल्लास को शब्दबद्ध किया कालांतर में वही इन विडम्बनात्मक राजनीतिक स्थितियों के आलोचक भी बने । स्वतंत्रता के दस वर्ष बाद ही निर्माण और विकास की उज्जवल आकाँक्षाओं के स्वर परिवेश की अभावग्रस्त स्थितियों, जन साधारण की समस्याओं, झूठे पड़ते राजनीतिक आश्वासनों, स्वार्थपरता, सत्ता लोलुपता को तीक्ष्णता से सामने लाने वाले स्वरों में परिवर्तित हो गए । नए और स्वतंत्र देश से जुड़ा मोह जो अब तक किसी तरह बचा रह गया था, वह आज़ादी के बीस साल पूर्ण होते-होते

मोहभंग में परिवर्तित हो गया । यही कारण है कि "आज़ादी के कुछ वर्ष बाद का साहित्य मोहभंग का साहित्य है ।

गाँधी की हत्या वास्तव में जनाकाँक्षा की हत्या थी । महात्मा गाँधी की मृत्यु के बाद भारतीय जनता के सपने बिखर गए । सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता में भारत के लोकतंत्र की अव्यवस्था, असमानता, उत्पीड़न, लोलुपता, पाखण्ड और अहंकार आदि के हज़ारों चित्र मिलेंगे ।"[39] देश के आम-आदमी को अपनी आज़ादी और उस से जुड़ी उम्मीदों व सपनों से मोह था किन्तु उनके खंडित होने पर मोहभंग हो गया । इस मोहभंग का आधार आज़ादी से उपजी उम्मीदों का टूटना तो था ही, साथ ही आज़ाद देश में निरंतर बढ़ता भ्रष्टाचार, पदलोलुपता, कुर्सीप्रियता, राजनीतिक विद्रूपता, मूल्यहीनता, प्रशासन की संवेदनहीनता भी था । इसी कारण आज़ाद भारत का आम व्यक्ति निर्धनता, बेरोजगारी, ग़रीबी, भुखमरी, अशिक्षा का शिकार हुआ और उसकी स्थिति बद से बदतर होती गयी । स्वतंत्रता के बाद उपजे इसी मोहभंग को कवियों ने देखा, समझा और प्रखरता के साथ अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया ।

राजनीतिक जगत की स्थितियों को सन् 1960 के बाद की कविता में आवेशमयी मुद्रा और तेवर के साथ अभिव्यक्ति मिली । सामाजिक-राजनीतिक जीवन में व्याप्त मूल्यहीन सत्तालोलुप तंत्र से छले जाते आम आदमी की विवशता और नारों के कुहासे के पीछे की यथास्थिति को कवियों ने अभिव्यक्त किया । स्वातंत्रयोत्तर राजनीतिक कविता ने अपनी लय बदली और स्वतंत्रता के बाद के दूसरे दशक में मानव-संघर्ष की वह समर्थक बनी । बीस वर्ष के दीर्घ कालखण्ड की असंगतियों की भयावहता को, भारतीय राजनीति में गहराती मूल्यहीनता को, जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रति बने अविश्वास को, जन सामान्य की परिवर्तन से जुड़ी निराशा और उपेक्षा को संवेदनशील कवि समाज ने अभिव्यक्ति दी । अपने ही देश में अपरिचित और उपेक्षित महसूस करते जन साधारण की पीड़ा को अभिव्यक्ति देते हुए रघुवीर सहाय ने लिखा :-

"बीस वर्ष
खो गये भरमे उपदेश में
एक पूरी पीढ़ी जन्मी पली पुसी क्लेश में
बेगानी हो गयी अपने ही देश में ।"[40]

-'मेरा प्रतिनिधि'

परिस्थितियाँ ऐसी हो गई कि निरंतर बिगड़ती स्थितियों के कारण हीनता, नगण्यता, उपेक्षा का भावबोध बढ़ा। बीस साल तक परिवर्तन की प्रतीक्षा करते-करते स्वतंत्रता से जुड़ा 'मोह' तार-तार हो गया। पराजय, अकेलापन, टूटन, घुटन, ऊब का भावबोध बढ़ा। स्वतंत्रता, जनतंत्र नाम मात्र को रह गया। कवियों ने इस कटु राजनीतिक-सामाजिक सत्य को अनुभव किया कि यह वह भारत नहीं जिसकी अपेक्षा हमने की थी। जिसके लिए संघर्ष किया था। इन कटु स्थितियों से साक्षात्कार करते हुए आक्रोश और तेवर के कवि धूमिल ने प्रश्न किया :-

"बीस साल बाद और इस शरीर में
सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुज़रते हुए
अपने आप से सवाल करता हूँ
क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है।"[41]

-'बीस साल बाद'

आज़ादी के अर्थहीन होने का प्रश्न उठना सन् 1960 के बाद की स्थितियों को स्पष्टतः समझने में सहायक है। यह वह प्रश्न है जो वादों के कुहासे, मूल्यहीन शासक तंत्र के बीच पिसते आम आदमी के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न बन गया था। 'आज़ादी' मिलने पर भी कोई परिवर्तन परिलक्षित न होने के कारण जनता दुखी थी। आज़ादी, जनतंत्र, परिवर्तन, विकास जैसे शब्द झूठे जान पड़ रहे थे। जनसामान्य के 'जनतंत्र' पर से विश्वास उठने की पीड़ा को कवियों ने इस काल में मुखरता से अभिव्यक्त किया। स्वतंत्रता से जुड़े मोह के टूटने पर निर्भीक होकर कवि कहता है :-

"क्योंकि अब नहीं है विश्वास...विश्वास में
आदमी में, प्रजातंत्र में...
आज़ादी, धर्मनिरपेक्षता और भाईचारे में।"[42]

कवियों ने जिन स्थितियों को अपनी कविता का विषय बनाया वह सन् 1960 के बाद की कटु वास्तविकता थी। मोहभंग जिसका मूलभाव बन गया था। विश्वास जहाँ ओझल हो रहा था। इसी

का विवेचन करते हुए सलिल गुप्त ने लिखा कि "साठोत्तरी कविता साठोत्तरी पीढ़ी की कविता है और साठोत्तरी पीढ़ी वह पीढ़ी है जिसने पन्द्रह अगस्त 1947 को अपनी निर्बोध और भोली भाली आँखों से स्वतंत्रता प्राप्ति का जुलूस देखा था...आज स्वतंत्रता प्राप्ति के बीस वर्षों बाद जब वह अपनी जवान आँखें मलती है तब स्वतंत्रता का एक नया अर्थ उसकी आँखों में तैर जाता है और व्यक्ति से लेकर अंतर्राष्ट्रीय समस्याएँ, महँगाई, टूटन, ऊब, घुटन, धुआँ, कोलाहल और सारी की सारी विश्रृंखलित स्थितियाँ उसकी आँखों में प्रश्नचिन्ह बनकर चुभने लगती हैं और वह महसूस करती है कि वह मरुस्थल में जन्मी है ।"[43] यह मरुस्थल उन विडम्बनाओं का मरुस्थल है जिसमें जीने को आम आदमी विवश है । सत्तालोलुप्ता, स्वार्थान्धता इतनी प्रबल है कि संवेदनाएँ शुष्क हो गई हैं और कर्तव्य नदारद । परिणाम यह होता है कि आज़ादी से जुड़ी आकांक्षाएँ अपूर्ण रहती हैं । वस्तुतः आज़ादी के बाद जनसामान्य के मोहभंग का कारण जहाँ राजनीतिक विश्रृंखलता, राजनेताओं का भ्रष्ट आचरण था वहीं वह दुसाध्य जनाकांक्षाएँ भी थीं जो स्वतंत्रता से जुड़ी थीं । आज़ादी मिलने के बाद पण्डित नेहरू ने कहा था कि 'स्वतंत्रता ज़िम्मेदारियाँ और बोझ लाती है और हमें स्वतंत्र और अनुशासनपूर्ण लोगों की भाँति उनका सामना करना है ।' किन्तु कर्तव्य और अनुशासन को सभी ने दोयम दर्जा दिया । मूल्यहीनता बढ़ी । व्यक्तित्व का पतन हुआ । देश के प्रति अपने कर्तव्य को किसी ने पूर्णतः नहीं समझा । मानवीय आदर्श क्षरित हुए । व्यक्तिगत लाभ सर्वप्रमुख हो गया और स्वार्थ साधना सर्वोपरि धर्म बन गया । विकास का विश्वास परिस्थितियों के प्रहार से टूट गया । इन स्थितियों का अंकन करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा :-

"मर गया देश, अरे, जीवित रह गए तुम !!
लो-हित-पिता को घर से निकाल दिया,
जन-मन-करुणा-सी माँ को हँकाल दिया,
स्वार्थों के टेरियार कुत्तों को पाल लिया ।"[44]

-'अँधेरे में'

कवियों ने समय के उतार-चढ़ावों को, राजनीतिक मूल्यों के स्खलित होने से उपजी बेचैनी और भीतर उबलते आक्रोश को अपनी कविताओं का मुख्य विषय बनाया । स्वातंत्रयोत्तर भारत में यह कवि स्वयं उन स्थितियों के भोक्ता रहे । जिस अनास्था से वह जूझे उसे ही अपनी कविताओं में

उन्होंने अभिव्यक्ति दी । यद्यपि राजनीतिक उपलब्धियों, सकारात्मक पक्षों को भी अभिव्यक्ति मिली किन्तु निषेधात्मक स्वर अधिक उभर कर आये । जनता को लगा कि जो स्वप्न उसने सँजोए थे वह असमय ही टूट गए । स्वतंत्रता सत्ता के हस्तांतरण तक सीमित हो गई । "भारतीय सन्दर्भ में स्वतंत्रता पूरी तरह परिभाषित हो, इसके पहले ही उसका अवमूल्यन हो गया । जिसे हम भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन कहते हैं, उसका मक़सद राजनीतिक स्वतंत्रता था और वह भी एक सपने की शक्ल में, कि स्वतंत्रता मिली और हमें स्वर्ग मिल जाएगा । लेकिन स्वतंत्रता किसी 'स्वप्नजीवी' की 'स्फीतमुद्रा' नहीं होती और हमने देखा कि उसके मिलते ही चौतरफ़ा मोहभंग का जो सिलसिला शुरू हुआ, उसने साबित कर दिया कि वह सिर्फ सत्ता का हस्तांतरण था ।"[45] स्वतंत्रा के उपरान्त विविध राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक विडम्बनाओं से घिरे रहने के परिणामस्वरूप भारतीय जनता का मोहभंग होना शुरू हुआ और निरंतर बढ़ती विसंगतियों के कारण 'आज़ादी के बाद के सपनों के भारत' से 'जन' के 'मोह' के खंडित होने की भावना ही प्रमुख हो गई ।

1.3 विभिन्न सामाजिक/राजनीतिक घटनाएँ और साहित्य में उसकी झलक

भारतीय जन साधारण की आकाँक्षाओं के अपूर्ण रहने के कारण सातवाँ दशक आते-आते आम जनता की जो मोहभंग की प्रक्रिया प्रारंभ हुई उसके प्रमाण और आधारस्वरूप भारत देश में घटित अनेक घटनाएँ अवलोकनीय हैं । स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत में सामाजिक परिवर्तनों का दौर चल पड़ा । मनुष्य के आचार-व्यवहार से लेकर जीवन पद्धत्ति तक, संविधान की स्थापना से लेकर प्रथम आम चुनाव तक, पंचवर्षीय योजनाओं से लेकर नेहरू के समाजवाद तक ने स्वाधीन भारतियों को सुनहरे भविष्य के सपने दिखाए । परन्तु 1960 तक आते-आते ये सपने धीरे-धीरे धूमिल पड़ने लगे और चीन के साथ युद्ध में मिली करारी हार ने भी इन सपनों के अपूर्ण रहने में महती भूमिका निभाई । नेहरू के आदर्श ध्वस्त होते दिखाई दिए, रामराज्य की परिकल्पना खंडित होती दिखी । समाज में निराशा, वेदना, मोहभंग छाने लगा । सत्ता द्वारा लिए जाने वाले निर्णय

जन-विरोधी व स्वार्थ समर्थन में दिखाई देने लगे। चीन के साथ ही पाकिस्तान के साथ हुआ युद्ध भी भारतीय अर्थव्यवस्था पर भारी पड़ा।

भारत जो अमन, शांति, भाईचारे की पताका लेकर वर्षों से घूम रहा था उस पर 20 अक्तूबर 1962 की सुबह (भारत-चीन युद्ध के रूप में) करारा प्रहार हुआ। जिस अहिंसा और आदर्शवाद को हम लेकर चल रहे थे उसे रौंदने का काम हमारे पड़ोसी देश चीन ने किया। आज़ादी के कुछ वर्षों बाद हमारे देश ने अपनी अर्थव्यवस्था, अपने राजनीतिक ढाँचे और सामाजिक हितों के बारे में सोचना और प्रगति पथ पर आगे बढ़ना आरम्भ ही किया था किन्तु उसी समय देश पर 'पर' राष्ट्र द्वारा थोपा गया युद्ध देश की रीढ़ को कमज़ोर करने जैसा था। 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा 'नारा' ही बनकर रह गया। भाईचारे का नारा लगाने वाले चीन ने यह युद्ध किया तो लोगों को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि यह कार्य 'पीठ में छुरा घोंपने' जैसा था। इस युद्ध ने भारत देश को सीख दी कि आदर्शवादिता, अहिंसा, भाईचारा और हृदय से किये गए फैसलों से किसी देश को नहीं चलाया जा सकता है। भावुक हो कर उठाये गए कदम मंजिल पर नहीं पहुँचा सकते। इस बात को तत्कालीन प्रधानमंत्री पण्डित नेहरू ने भी स्वीकार किया और कहा कि हम "अपने द्वारा निर्मित नकली वातावरण में रहते रहे हैं...चीन के कृत्यों से हमें यथार्थ का बोध हुआ है।"[46]

वस्तुतः हिमालय की विवादित सीमा इस युद्ध का एक प्रमुख बहाना था। युद्ध की आधारभूमि में 'तिब्बत' बहुत बड़ा कारण था। यह क्षेत्र दोनों देशों के बीच का क्षेत्र है जिस पर चीन पहले से अपना आधिकार जमाता था पर तिब्बत स्वयं को स्वतंत्र मानता था। सन् 1950 में चीन ने तिब्बत पर कब्ज़ा कर लिया, प्रारंभ में भारत सरकार इसके खिलाफ कुछ खुल कर नहीं बोली, लेकिन जब वहाँ से अशांति, अत्याचार और दमन की ख़बरें आने लगी तो भारत ने इसका विरोध शुरू किया। सन् 1959 में तिब्बत्ती धर्मगुरु दलाई लामा को भारत में शरण देने के निर्णय ने इस परिस्थिति को और भी अधिक भड़काने का काम किया। सन् 1954 में चीन और भारत की संयुक्त वार्ता में जिस पंचशील सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ था (जिसमें मानवाधिकारों में आस्था रखने वाले अन्य देश भी बाद में शामिल हुए) उस पर सबसे आक्रामक आघात चीन ने किया।"[47] युद्ध का दूसरा कारण हिमालय क्षेत्र का सीमा विवाद था। भारत मानता था कि सीमा निर्धारण अंग्रेजी सरकार के समय ठीक किया जा चुका था, परन्तु चीन पहले से ही यह मानने के पक्ष में नहीं था। फलतः उसने जम्मू-कश्मीर के लद्दाख़ क्षेत्र के अक्साई-चीन तथा अरुणाचल प्रदेश के कई क्षेत्रों

पर अपना अधिकार जताया। पण्डित नेहरू और माओ-त्से-तुंग के बीच वार्ताओं के दौर के बाद भी यह मसला नहीं सुलझ पाया और दोनों देशों के बीच यह युद्ध हुआ जिसमें भारत की करारी हार हुई। भारत को अपने कुछ भू-भाग भी से हाथ धोना पड़ा।

भारत-चीन के इस युद्ध में राजनीतिक और सैन्य नेतृत्व की अक्षमता देश के समक्ष दिखाई दी। इस अप्रत्याशित राजनीतिक दुर्घटना के कारण भारत अपनी दुर्बलताओं के प्रति सचेत हुआ। पण्डित नेहरू ने भारतीय जनता से संवाद स्थापित करते हुए कहा कि "इस आज़ादी को और मुल्क के हर हिस्से को मुल्क में रखने के लिए हमें पूरी तैयारी करनी है, कमर-कसनी है और इसका सामना करना है।"[48] चीन के इस कदम ने देश के राजनीतिज्ञों, कवियों, सधारण लोगों सभी को जागरुक किया। भारत शांति और अहिंसा के जिस मार्ग को आदर्श मान कर चल रहा था वह प्रश्नचिह्न बन कर रह गया। साहित्यकारों की भूमिका इस युद्धकाल में और महत्त्वपूर्ण हो गई। चीनी आक्रमण के समय विजयेन्द्र स्नातक ने कहा कि "साहित्यकार का वर्ग सबसे अधिक प्रबुद्ध और सचेत वर्ग है। जन-जागरण का स्थायी दायित्व साहित्यकार का प्रच्छन्न दायित्व है। वह केवल स्वान्तः सुखाय के लिए रचना न करके उसके लिए भी रचना करता है जो उसके परिवेश में समाया हुआ है। अतः आज की परिस्थिति में हमारे देश के साहित्यकार को अपनी रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग राष्ट्रहित में करना चाहिए, इसमें दो मत नहीं हो सकते।"[49] कवियों ने इस घटना को अपनी कविताओं का विषय बनाया। कलम के धनी कवियों का साक्षात्कार जब इस क्रूर सत्य से हुआ तो यह स्पष्ट हो गया कि हमें हर क्षेत्र में मजबूत होना चाहिए। सकारात्मक परिवर्तन होने के स्वप्नों में लीन रहना अब अनुचित था। कवि बच्चन ने लिखा कि "इस रण में बंदूकों को ही नहीं कलम को भी लड़ना है, हमारा कलम का मोर्चा मजबूत होना चाहिए, आज हमें सारी मज़बूत कलमों की ज़रूरत है। भारत को अगर जीतना है तो अब वह सपना नहीं देख सकता, सो नहीं सकता।"[50]

चीन के इस हिंसात्मक, विश्वासघाती क़दम के प्रति कई कवियों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की :-

"माओ ने सब कुछ सीखा, पर एक बात नहीं सीखी ;
कि झूठ के पाँव नहीं होते !
x x x
भारत के सरल हृदय के मैत्री भाव पर

घूँसा मारने वालों

तुम शायद शायद, मानव जाति के नहीं क्यों ?"[51]

साम्राज्याकाँक्षा और स्वार्थ में डूबे चीन का मानवीयता के विरुद्ध इस प्रकार का क़दम अहिंसा के मार्ग को सर्वोचित मानने वाले देश के लिए क़रारा झटका था। नेहरू चीन के इस क़दम से आहत थे तथा युद्ध में होने वाले हिंसक नरसंहार को देख दुखी भी थे। एक ओर भारत-भूमि की सुरक्षा को सुनिश्चित करना था तो दूसरी ओर अहिंसा का सिद्धान्त ताक पर था। ऐसे में दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखा और युग-कर्म के प्रति अपने नेता को सचेत करते हुए स्वराष्ट्र रक्षा हेतु हिंसा को धर्मसंगत कहा क्योंकि सत्य और अहिंसा के उपासकों को दुर्बल समझा जा सकता था। कवि दिनकर ने निर्भीकता से लिखा :-

"सामने देशमाता का भव्य चरण है,

जिह्वा पर जलता हुआ एक, बस प्रण है,

काटेंगे अरि का मुंड कि स्वयं कटेंगे

पीछे परन्तु सीमा से नहीं हटेंगे।"[52]

-'परशुराम की प्रतीक्षा'

चीन के इस अकस्मात् आक्रमण से सभी आहत और हतप्रभ थे। इसकी झलक धूमिल की 'पटकथा' में मिलती है जहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर लगभग बीस वर्ष बीत जाने के बाद के हिन्दुस्तान का स्वरूप वह सामने लाए हैं। चीन के इस हिंसात्मक क़दम पर उन्होंने लिखा कि :-

"मैंने अचरज से देखा कि दुनिया का

सबसे बड़ा बौद्ध-मठ

बारूद का सबसे बड़ा गोदाम है

अख़बार के मटमैले हासिये पर

लेटे हुए, एक तटस्थ और कोढ़ी देवता का

शांतिवाद नाम है।"[53]

- 'पटकथा'

यह युद्ध राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर उथल-पुथल मचाने वाला रहा जिसके पश्चात् देश की विदेश नीति और आतंरिक व्यवस्था में अपेक्षित बुनियादी परिवर्तन किए गए। विडम्बना यह थी कि जिस देश ने आज़ादी के बाद देखे सपनों को साकार करने की दिशा में कदम उठाना अभी आरम्भ ही किया था उस पर युद्ध का अतिरिक्त आर्थिक भार अर्थव्यवस्था को तोड़ने वाला सिद्ध हुआ। देश की तृतीय पंचवर्षीय योजना असफल हो गई। बेरोज़गारी, ग़रीबी और युद्ध की विभीषिका ने लोगों को भुखमरी की ओर धकेल दिया। इस युद्ध ने लोगों के सरकार पर विश्वास को तोड़ा और यहाँ से मोहभंग की प्रक्रिया शुरू हुई। नेहरू की नीतियों से, उनके विचारों से लोगों का मोहभंग होने लगा। नेहरू के साथ-साथ इस युद्ध ने आम-जन के सपनों को भी झटका दिया। लोगों का यह मानना था कि पंचशील नेहरू की आदर्शवादी रूमानियत का उदाहरण था और कुछ नहीं। वैश्विक स्तर पर शांति दूत कहा जाना किसी भी राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर होता है परन्तु, यह रूमानियत और आदर्श स्थिति मात्र 8 वर्षों तक ही रह पाई और युद्ध के साथ खंडित भी हो गई। जो थोड़ा बहुत विश्वास सत्ताधारियों पर था वह भी आपातकाल लगने पर पूर्णतः ध्वस्त हो गया। "वर्ष 1966 को लगातार चले आने वाले व्यापक उथल-पुथल के वर्षों में ही गिना जा सकता है। इस समय व्यापक आर्थिक असंतोष, बढ़ती कीमतों से सुलगे हुए राजनीतिक आन्दोलन, खाद्य पदार्थों का अभाव, बढ़ती बेरोज़गारी और एक सामान्य आर्थिक पतन की परिस्थितियाँ बन रही थीं। इस बढ़ते हुए असंतोष में ऊपर से समाज के विभिन्न तबकों खासतौर पर निम्न मध्यवर्ग की अपूर्ण आकांक्षाएँ आग में घी का काम कर रही थीं। बहुत सारे लोग अपनी आकाँक्षाओं को संतुष्ट कर पा रहे थे परन्तु अनेक ऐसे लोग थे जो ऐसा कर पाने में असमर्थ थे। इसके अलावा विकास की पूँजीवादी पद्धत्ति विभिन्न सामाजिक वर्गों, समूहों और तबकों के बीच आर्थिक असमानता को लगातार बढ़ा रही थी।"[54]

भारत के शासक वर्ग के खिलाफ जनमानस में असंतोष और विरोध की भावनाएँ निरंतर घर कर रही थीं। देश में घटित होने वाली अनेक घटनाएँ ऐसी थी जो इसका प्रमाण थी। पंचवर्षीय योजनाओं का पूर्णतः सफल न होना, 1962 का चीन-भारत युद्ध, 1965 का पाकिस्तान-भारत युद्ध, बांग्लादेश की चुनौती, आपातकाल ऐसी घटनाएँ थी जो शासक वर्ग के प्रति जनता के मन में अविश्वास की स्थितियाँ बना रही थीं। नक्सलबाड़ी आन्दोलन भारतीय शासकों और

जनतांत्रिक व्यवस्था से देश के एक बड़े वर्ग के मोहभंग और उस शासन व्यवस्था में अविश्वास का परिणाम था। 'बड़े पैमाने पर लोगों का कांग्रेस से मोहभंग हो गया था जिसका कारण बड़े नेताओं के बीच व्याप्त भ्रष्टाचार और उनकी विलासितापूर्ण जीवनशैली थी। क्षेत्रीय एवं स्थानीय कांग्रेस के मठाधीशों में कई ऐसे थे, जिनके बारे में लोग यह महसूस करते थे कि वे सिर्फ कुर्सी के पुजारी हैं जो हमेशा राजनीतिक जोड़-तोड़ और गुटबाजी में लीन रहते हैं।'[55]

देश की पतनशील राजनीतिक व्यवस्था के कारण सामान्य वर्ग का मोह टूट रहा था। आज़ादी और संवैधानिक व्यवस्था, विकास की योजनाओं से अपेक्षाएँ समाज के सभी वर्गों को थीं। किन्तु, लाभ सब तक नहीं पहुँच पाया। पंचवर्षीय योजनाओं की असफलता तथा चीन और पाकिस्तान से भारत के युद्ध के परिणामस्वरूप भुखमरी, ग़रीबी, अकाल का साम्राज्य हो गया। भारतीय सामाजिक स्थितियाँ व राजनीतिक निर्णयों की असफलताएँ 'मोहभंग' का आधार बनीं। 'पटकथा' में धूमिल ने इन स्थितियों को शब्द देते हुए लिखा :-

"मैं सोचता रहा
और घूमता रहा -
टूटे हुए पुलों के नीचे, वीरान सड़कों पर। आँखों के
अँधे रेगिस्तान में
फटे हुए पालों की
अधूरी जलयात्राओं में
टूटी हुई चीज़ों के ढेर में
खोई हुई आज़ादी का अर्थ
ढूँढता रहा।
अपनी पसलियों के नीचे। अस्पतालों के
बिस्तरों पर/ नुमाइशों में
बाज़ारों में/ गाँवों में
जंगलों में/ पहाड़ों पर

देश के इस छोर से उस छोर तक
उसी लोक-चेतना को
बार-बार टेरता रहा
जो मुझे दोबारा जी सके
जो मुझे शान्ति दे और
मेरे भीतर-बाहर का ज़हर
ख़ुद पी सके ।"[56]

- 'पटकथा'

किन्तु जब भारत देश चीन आक्रमण के प्रभावों से मुक्त होने को प्रयासरत ही था, शांति और उन्नति पाने को लड़खड़ाता हुआ आगे बढ़ रहा था तभी सन् 1965 में पड़ोसी देश पाकिस्तान ने भारत पर पुनः आक्रमण कर दिया और देश की सामान्य गति पुनः भंग हो गई :-

"और तभी सुलग उठा पश्चिमी सीमान्त
...ध्वस्त...ध्वस्त...ध्वान्त...ध्वान्त ।"[57]

- 'पटकथा'

यह युद्ध केवल सीमा क्षेत्र तक सीमित नहीं था । 'ब्लैक-आउट', 'बम वर्षा' के कारण जन-सामान्य ने निकटता से इसका अनुभव किया था । किन्तु भारत, चीन आक्रमण से सीख लेकर इस युद्ध का सामना करने को तैयार था । देश की सेना की क्षमता पर देशवासियों का विश्वास था । चीन-युद्ध में हुई हार से जहाँ आत्महीनता का भाव जगा था वहाँ पाक युद्ध में जीत ने देश में आत्मविश्वास की भावना भर दी । इसका सटीक अंकन धूमिल की कविता में मिलता है :-

"जो चेहरा आत्महीनता की स्वीकृति में
कंधे पर लुढ़क रहा था,
किसी झनझनाते हुए चाक़ू की तरह
खुल कर कड़ा हो गया ।"[58]

- 'पटकथा'

युद्ध में विजय से देश में शक्ति संचरण का अनुभव हुआ । किन्तु सामाजिक, आर्थिक स्थितियों के बिगड़ने से देश की जनता की स्थिति और दयनीय हुई । उनमें कोई परिवर्तन नहीं आया । भूख, ग़रीबी, बेरोज़गारी से जन सामान्य त्रस्त ही रहा । सपने सभी ने देखे थे, किन्तु विकास योजनाओं का लाभ सब तक नहीं पहुँच रहा था । यह सपने साधारण जन ने अनायास ही नहीं देखे थे बल्कि आज़ाद भारत के प्रथम प्रधानमंत्री द्वारा अर्धरात्रि में दिए गए भाषण में सभी वर्गों को संबोधित कर यह कहा गया था कि देश के ग़रीब, किसान, मजदूर, वृद्ध, बच्चे, ग्रामीण, शहरी सभी लोगों को समान अधिकार व सुविधाएँ प्राप्त होंगी, सबका विकास होगा । किन्तु आज़ादी की अर्धरात्रि में देखे गए इन सपनों पर तब कुठाराघात हुआ जब प्रशासन व्यवस्था स्थापित करने में सफल नहीं हुआ और शोषण, भ्रष्टाचार जैसी स्थितियों में सुधार की जगह वृद्धि हुई । योजनाएँ बनाईं गईं किन्तु उनकी पहुँच उस वर्ग तक नहीं बनी जिसे उसकी ज़रूरत थी । परिणामतः देश का एक हिस्सा अलग-थलग पड़ा रहा । जहाँ देश का एक हिस्सा आज़ाद भारत में प्रगति-पथ पर आगे बढ़ रहा था वहीं दूसरा हिस्सा ग़ुलामी जैसी स्थितियों में ही जीने को विवश था । एक ओर चाँद पर जाने की बातें हो रही थी तो दूसरी तरफ एक वर्ग ऐसा भी था जो मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दर-दर भटकने और रहम की भीख माँगने को विवश था । फलस्वरूपकुछ लोगों ने 'बोली की जगह गोली' के सिद्धांत को अपनाया ।

हम यह जानते हैं कि हिंसा के मार्ग पर कोई भी यूँ ही नहीं जाता । इतिहास को पलटकर यदि देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी आन्दोलन रातों-रात नहीं उठ खड़ा होता और न ही शुरुआत में ही हिंसा का मार्ग अख्तियार करता है । अहिंसा और शांति के मार्ग पर चलकर जब कुछ प्राप्त नहीं होता तो विचारधारा परिवर्तित होती है । उदाहरणस्वरूप हम 1857 के राष्ट्रीय आन्दोलन या 1917 के रूसी आन्दोलन को देख सकते हैं । 'नक्सलवादी' आन्दोलन भी ऐसा ही है । लम्बे इंतज़ार व असंतोष के बाद हाथ में धान की बालियाँ थामने वाला किसान, सृजन हेतु हाथ में हथौड़ा थामने वाला मजदूर, कलम व किताब के सहारे आगे बढ़ने वाले बच्चे सभी हथियार थामकर हिंसा के मार्ग पर चलने लगे ; यह अनायास नहीं हो सकता था । इसकी पृष्ठभूमि पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो ज्ञात होगा कि ब्रिटिश भारत में भी किसानों और मजदूरों के साथ सौतेला व्यवहार होता था, ब्रिटिश सरकार भी किसानों व मजदूरों के साथ भेदभाव पूर्ण क्रूरतम रवैया

अपनाती थी और सामंतों, ज़मींदारों व सूदखोरों का साथ देती थी । किन्तु आज़ाद भारत में जब अपने लोगों ने भी इस वर्ग को उपेक्षित ही रखा तो उनके दुःख की कोई सीमा नहीं रही । आज़ाद भारत में भी कुछ लोग शोषित, उत्पीड़ित होते रहे लेकिन उनसे शांति बनाए रखने की अपील की जाती रही । आश्वासन दिए जाते रहे । भारतीय संवैधानिक व्यवस्था के तहत मौलिक आधिकारों की अनिवार्यता के नाम पर सपने दिखाए जाते रहे किन्तु उनका क्रियान्वयन आधिकारिक दस्तावेज़ो तक सिमटा रहा ।

जनता में व्याप्त असंतोष की सबसे ठोस और मुखर अभिव्यक्ति चौथे आम-चुनाव और **नक्सलबाड़ी विद्रोह** में दिखाई देती है । यह विद्रोह समाज की उस बहुसंख्यक जनता के असंतोष का परिणाम था जिसे कभी भी अत्यधिक धनोपार्जन या सत्ता या शक्ति संग्रहण का मोह नहीं था । उनके स्वप्न और महत्त्वाकांक्षाएँ बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने तक ही सीमित थीं । जीवन-यापन के लिए ज़रूरी साधन जुटाने की होड़ में ही उनका समय और शक्ति मुट्ठी से रेत की तरह फिसल जाता था । यह वह वर्ग था जिसे अथक प्रयासों के बाद भी मूल आवश्यकताओं के अपूर्ण रहने के कारण अपना जीवन बोझ लगने लगा था । स्वप्न दिखाने वाले शासन तंत्र द्वारा उपेक्षित छोड़ दिए जाने के कारण यह वर्ग असहाय, निर्बल महसूस करने लगा था । सत्ता द्वारा उनके मौलिक अधिकारों पर होने वाले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कुठाराघात ने साधारण वर्ग के क्रोध को बढ़ावा दिया । सामाजिक विषमताओं और आर्थिक विपन्नता ने इस वर्ग के भीतर विद्रोह की चिंगारी को प्रस्फुटित किया । समग्रता में देखा जाए तो नक्सलबाड़ी आन्दोलन के विकसित होने के प्रमुख कारणों में आज़ादी के बाद भी भूमि-सुधार का न होना, आदिवासियों से उनके जंगल, जल, ज़मीन छीन कर उन्हें उनकी ही जगह से बेग़ाना बना देना था । साथ ही, उन लोगों की उम्मीद टूटना था जो आज़ादी के बाद स्थितियों के बदलने के प्रति आश्वस्त थे । आज़ादी के बीस वर्षों बाद भी विकास का कुछ क्षेत्रों तक सीमित हो जाना भी एक कारण था । देश का एक कोना हरित क्रांति से लहलहा रहा था वहीं दूसरी ओर निर्धनता, असंतोष व क्रोध के चलते धरती ने 'लाल' होना आरम्भ कर दिया था । सत्ताधारी इसी शोषित वर्ग को 'सफ़ेद' रंग अख्तियार करने के लिए प्रेरित कर रहे थे । उनके अधिकारों का हनन करने वालों के प्रति बढ़ते क्षोभ ने ही क्रांति या आन्दोलन का रूप लिया । 'नक्सलबाड़ी' ऐसे ही विद्रोह का परिणाम है ।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन का उदय पश्चिम बंगाल के दार्जलिंग ज़िले के एक छोटे से 'नक्सलबाड़ी' नामक ग्राम में 1967 में हुआ था। यह क्षेत्र भारत, नेपाल और तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान की सीमा पर स्थित था। वस्तुतः आरम्भ में यह कोई आन्दोलन न होकर कुछ साधारण लोगों का समूह था जो समाज के उस वर्ग के विरुद्ध था जो अपनी शक्ति और अत्याचार के बल पर ग़रीब व असहाय लोगों का सामाजिक व आर्थिक शोषण कर रहे थे। देश की आज़ादी के लगभग बीस सालों बाद भी इन लोगों को आज़ादी का कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ था। यह विद्रोह ज़मींदारों, पूंजीपतियों के विरुद्ध था। उस समय यह विद्रोह लगभग देश के 60 गावों में फैला जिसके केंद्र में नक्सलबाड़ी, साड़ीबाड़ी और फांसीदेवा गाँव स्थित हैं। इन गाँवों की अधिकांश आबादी संथाल, ओराओं, मुंडा और राजवंशी जाति के आदिवासियों की थी। इस विद्रोह के प्रमुख नेताओं में कानू सान्याल, चारू मजूमदार, जंगल संथाल, कदम मलिक तथा मुजीबुर्रहमान थे। इस क्षेत्र के आदिवासी किसानों द्वारा भू-स्वामियों के विरुद्ध जिस तनी हुई मुट्ठी को उठाया गया उसे इसके केंद्र 'नक्सलबाड़ी' के नाम से जाना जाता है। यहाँ सुलगी चिंगारी देखते ही देखते 'जंगल की आग' के समान तेज़ी से फ़ैल गयी। जो प्रक्रिया, विरोध के रूप में प्रारंभ हुई थी वह देखते ही देखते आन्दोलन में परिणत होकर देश के 10 राज्यों के 180 जिलों तक विस्तारित हुई।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन सशस्त्र क्रान्ति का समर्थक था। वैसे तो भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में साम्यवादी विचार पहले से ही मौजूद थे पर सशस्त्र विद्रोह को ज़मीनी तौर पर नक्सलबाड़ी आन्दोलन के रूप में ही देखा गया। यह एक विडम्बना ही है कि देश की अर्थ व्यवस्था के आधार स्तम्भ कहे जाने वाले ग़रीब किसान व मजदूर इस तरह के आन्दोलन की बाग़डोर संभाले हुए थे। वह वर्ग जिसने अब तक देश का आर्थिक मार्ग प्रशस्त करने के लिए अपने हाथों में हँसिया और कुदाल थामी हुई थी अब हाथों में बन्दूक और विस्फोटक सामग्री लेकर हिंसा करने को तैयार था। यहाँ यह जानना भी महत्त्वपूर्ण है कि किसान और मजदूर वर्ग तो सशस्त्र इस आन्दोलन को आगे बढ़ा रहा था किन्तु साथ ही सुशिक्षित, पढ़े-लिखे युवा वर्ग व बुद्धिजीवी वर्ग ने भी आगे आकर इस आन्दोलन को स्थायित्त्व प्रदान किया। नक्सलबाड़ी आन्दोलन से जुड़े यह युवा वह थे जो मौजूदा राजनीतिक स्थितियों से असंतुष्ट थे, सामाजिक परिस्थितियों से नाराज़ थे और सुधारवादी नक्लवादी नारों के प्रति उनमें आकर्षण था। इस आन्दोलन के एक प्रमुख नेता चारू

मजूमदार सशस्त्र विद्रोह के समर्थक थे। उनके विचार औपचारिक कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.एम.) से भिन्न थे। सी.पी.एम. के अनुसार क़ानूनी तरीके से भूमि-सुधार लागू करने में चारू मजूमदार का विश्वास नहीं था। उनका मानना था कि यह मार्ग किसानों के क्रान्तिकारी उभार को कुंद बना सकता था। हथियारों के सहारे ज़मीन पर कब्ज़ा करके उसकी रक्षा करना ही राजनीतिक दृष्टि से अर्थवान हो सकता था। "उन्होंने अपने विचारों को ठोस रूप देने के लिए कानू सान्याल और जंगल संथाल के साथ मिलकर एक किसान सम्मलेन का आयोजन किया जिसमें भू-स्वामियों के एकाधिकार की समाप्ति, किसान समितियों के ज़रिये भूमि-वितरण तथा केन्द्रीय सरकार, संयुक्त मोर्चा सरकार और भू-स्वामियों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष का आह्वाहन किया। कुछ दावों के अनुसार अप्रैल और मई 1967 के बीच सारे गाँव संगठित किये जा चुके थे। कहा जाता है कि 15000 से 20000 पूरा-वक्ती कार्यकर्त्ता बन गए। गाँवों में गठित किसान कमिटियाँ सशस्त्र गार्डों का केंद्र बन गईं। उन्होंने ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया, भूमि सम्बन्धी रिकॉर्ड जला दिए, कर्जे माफ़ कर दिए, घृणित भू-स्वामियों को मृत्यु-दंड दिए, और एक सामानांतर प्रशासन स्थापित किया।"[59] ऐसी स्थितियों और हिंसक गतिविधियों को देखते हुए सी.पी.एम. कठिन परिस्थितियों में फँस गई और सरकार का एक प्रतिनिधिमंडल भेज कर समझौता करने के प्रयास उसने किए लेकिन असफल रही। उसने विद्रोही नेताओं को पार्टी से बाहर किया जिसके जवाब में नरमपंथी लोग एक जगह आये। उन्होंने नक्सलबाड़ी किसानों की सहायता करने के उद्देश्य से एक कमिटी बनायी और बाद में कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) की स्थापना की। इसका गठन सन् 1969 में चारू मजुमदार के नेतृत्व में हुआ था। 'इनका यह मानना था कि 'भारत में जनवाद मात्र एक ढोंग है, भारतीय राजसत्ता फ़ासिस्ट है, भारत के कृषक संबंध मूलतः अभी तक सामंती ही हैं, भारत के बड़े पूँजीपति मात्र दलाल पूँजीपति हैं, भारतीय आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था अभी तक उपनिवेशवादी है।'[60] नक्सलबाड़ी आन्दोलन से जुड़े लोगों के तेवर क्रांतिकारी थे और भारतीय समाज और राजनीति को भली भाँति समझ न पाने के कारण और सरकारी दमन का सामना न कर पाने के कारण यह आन्दोलन असफल हो गया।

नक्सलबाड़ी विद्रोह ने भारतीय और राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा साहित्य को काफ़ी गहराई तक प्रभावित किया। व्यक्तिवाद, परिवारवाद, आधुनिकतावाद,

पूँजीवाद जैसी जनविरोधी प्रवृत्तियों को चुनौती दी । इसने भारतीय समाज के राजनीतिक परिदृश्य पर क्रान्तिकारी वाम चेतना को संभव बनाया । नक्सलबाड़ी किसान आन्दोलन से उपजी ऊष्मा ने हिन्दी साहित्य के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को भी प्रभावित किया । उर्दू, बांग्ला, तेलुगु, पंजाबी, उड़िया, असमिया आदि भाषा की कविताओं में इस आन्दोलन से सम्बन्धित आक्रोश, बेचैनी, तड़प दिखाई दी है । यही वह आन्दोलन है जिसकी प्रतिध्वनि हमें हिन्दी कविता में वाम चेतना के रूप में सुनाई पड़ती है । इस आन्दोलन ने प्रगतिशील विचारधारा के कवियों में पुनः नवीन ऊर्जा का संचार किया और देखते ही देखते जनवादी विचारधारा से संबंधित साहित्यधारा फिर से गतिमान हो उठी । नए रचनाकारों ने इस आन्दोलन पर अपने विचार रखे ही साथ ही प्रगतिवादी कवियों ने भी अनेक कविताएँ लिखीं । समाज में बदलाव और क्रान्ति की बातें साहित्य में छाने लगी । धूमिल ने नक्सलबाड़ी आन्दोलन का महत्त्व बताते 'पटकथा' हुए में लिखा कि यहाँ :-

"एक ही संविधान के नीचे
भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम
'दया' है
और भूख में
तनी हुई मुट्ठी का नाम
नक्सलबाड़ी है ।"[61]

-'पटकथा'

अनेक प्रगतिशील कवियों के विचार में यही वह आन्दोलन था जिसकी जनतांत्रिक अव्यवस्था को चुनौती देने के लिए आवश्यकता थी । उनका मानना था कि प्रगति और समान विकास की उम्मीद में आज़ादी के बाद भी बीस वर्ष तक इंतजार करने वाली जनता के समक्ष यही एक मार्ग था जिस पर चलकर अपने हक़ लिए जा सकते थे । भारत की सामान्य जनता, किसानों, मजदूरों आदि में रूस की तरह की महाक्रान्ति की आवश्यकता थी ताकि अपने अधिकारों को वह पा सकें । जब

नक्सलबाड़ी आन्दोलन हुआ तो प्रगतिशील कवि नागार्जुन ने बिहार में बैठे हुए अपने नथुनों में बारूद की खुशबू भरने की बात कही। अपनी 'भोजपुर' नामक कविता में उन्होंने लिखा :-

"यही धुँआ मैं ढूँढ रहा था।
यही आग मैं खोज रहा था।
यही गंध थी मुझे चाहिए
बारूदी छर्रे की खुशबू।"[62]

-'भोजपुर'

आधुनिक साहित्य के एक युग 'नयी कविता' को भी इस आन्दोलन ने प्रभावित किया। इस समय के लगभग सभी कवियों में जन प्रतिबद्धता और आक्रोश के स्वर इसी आन्दोलन के प्रभावस्वरूप सुनाई देते हैं।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन जहाँ शोषित, ग़रीब वर्ग के मोहभंग का परिणाम था वहीं **आपातकाल** एक ऐसी घटना है जिसने भारतवासियों के मानस में उत्पन्न मोहभंग को मजबूती प्रदान की और भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था पर से जनसाधारण का विश्वास उठ गया। 1975 का आपातकाल भारतीय राजनीति की निरंकुशता की ओर अग्रसर होने का चरम प्रमाण है। आपातकाल से पूर्व मची राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल ने आम-जन के सपनों को छिन्न-भिन्न करना आरम्भ कर दिया था। सदियों से संजोये उनके सपनों को कुचलने का काम 1975 की इस राजनीतिक घटना (आपातकाल) ने किया। देश में जनतंत्र का गला घोंट कर निरंकुश शासन का सबसे बड़ा प्रमाण आपातकाल का लागू होना था। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा भारत में सन् 1975 में लगाया गया आपातकाल भारतीय जनतांत्रिक इतिहास की सबसे बड़ी घटना थी।

स्वतंत्र भारत के इतिहास में यह सबसे विवादस्पद और अलोकतांत्रिक समय था। इस घटना के तात्कालिक कारणों पर प्रकाश डालें तो देखेंगे कि सन् 1971 में हुए लोकसभा चुनाव में इंदिरा गाँधी ने अपने प्रमुख प्रतिद्वंद्वी राजनारायण को पराजित किया था लेकिन चुनाव परिणाम आने के चार वर्ष के बाद राजनारायण ने हाईकोर्ट में चुनाव परिणाम को चुनौती दी। जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायलय ने इंदिरा गाँधी का चुनाव निरस्त कर उन पर छह वर्ष तक चुनाव न

लड़ने का प्रतिबन्ध लगा दिया और राजनारायण को चुनाव में विजयी घोषित कर दिया। श्रीमती गाँधी पर यह आरोप लगा कि चुनाव में उन्होंने सरकारी मशीनरी का दुरुपयोग किया तथा सीमा से अधिक पैसे खर्च किये गए। अदालत ने इसे सही माना, परन्तु इंदिरा गाँधी ने इस्तीफ़ा देने से इंकार कर दिया और इस निर्णय को न मानते हुए सर्वोच्च न्यायलय में अपील की घोषणा के साथ उस रात पूरे देश में संविधान के अनुच्छेद 352 के तहत राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा कर दी। इस दौरान जनता के सभी मूलभूत अधिकारों को स्थगित कर दिया गया। जयप्रकाश नारायण सहित विपक्ष के सभी प्रमुख नेताओं को जेल में डाल दिया गया।

इस ऐतिहासिक घटना से पूर्व की परिस्थितियों पर यदि नज़र डालें तो पता चलता है कि मात्र चुनाव में हुई गड़बड़ियों के कारण ही देश पर इतना भयावह आपातकाल नहीं थोपा गया था। इसके अन्य कारण भी थे। इस सरकार से देश के लोगों का मोहभंग होना प्रारंभ हो चुका था। असंतोष हर वर्ग में फ़ैल रहा था जिसके लिए राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ ज़िम्मेदार थी। सन् 1971 के युद्ध से दैनिक जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति कठिन हो गई थी क्योंकि वस्तुओं के दाम बहुत अधिक बढ़ गए थे। बढ़ती महँगाई के कारण लोग अपने सामान्य जीवन स्तर को बनाए रख पाने में असमर्थ महसूस करने लगे थे। खाद्य पदार्थों की उपलब्धता में कमी हो गयी थी। सन् 1971 में बांग्लादेश से जो बड़ी संख्या में शरणार्थी आये थे उनके रहने-खाने के प्रबंधन के कारण अन्न भंडारों में कमी आ गयी थी। बजट घाटा उपस्थित हुआ, उसके बाद के दो वर्ष मानसून भी असफल रहा। कुल मिलाकर खाद्यान्नों की कीमत अनपेक्षित रूप से बढ़ गई। एक करोड़ के लगभग शरणार्थियों को शरण देना देश की अर्थव्यवस्था पर दोहरा भार साबित हुआ और 72-73 के भीषण अकाल ने आग में घी का काम किया। इससे एक तरफ अनाज उत्पादन में भारी गिरावट आई व दूसरी तरफ बिजली उत्पादन में कमी के फलस्वरूप उद्योगों को क्षति पहुँची। उसी समय अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में पेट्रोलियम और कच्चे तेल के मूल्यों में निरंतर वृद्धि से देश में महँगाई की मार आम जनता पर चारों तरफ से पड़ने लगी, देश का मुद्रा भण्डार कच्चा तेल आयात करने के कारण तेजी से घट रहा था। अर्थव्यवस्था चहुँ ओर से हानि में थी। इन सब का समन्वित असर यह हुआ कि ग़रीबी, बेरोज़गारी तथा महँगाई अपनी चरमावस्था पर पहुँच गई। परिणामतः देश

भर में व्यापक असंतोष फ़ैल गया जिसका परिणाम जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाये गए बिहार छात्र आन्दोलन के रूप में सबने देखा। यह आन्दोलन जे.पी. आन्दोलन के नाम से जाना जाता है।

जे. पी. आन्दोलन सरकारी मशीनरी के खिलाफ एक बहुत बड़ा आन्दोलन था। उन्होंने इस आन्दोलन को 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का नारा दिया। उनका कहना था कि 'सम्पूर्ण क्रान्ति' में सात क्रान्तियाँ शामिल हैं – राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, शैक्षणिक और आध्यात्मिक क्रान्ति।' इन सातों को मिलाकर 'सम्पूर्ण क्रान्ति' होती है। यह आन्दोलन पूर्ण रूपेण एक जन-आन्दोलन था। 'उस पूरी व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष था जिसने हर व्यक्ति को भ्रष्ट बनने के लिए मजबूर कर दिया था।'[63] छात्रों से शुरू हुए इस आन्दोलन में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में अध्यापक, कर्मकारी, दुकानदार, व्यापारी, मजदूर, किसान, लेखक, धनवान, कवि, साहित्यकार, पत्रकार सभी ने भाग लिया। आन्दोलन का लक्ष्य भारतीय जनतंत्र को सुदृढ़ बनाना, जनता का वास्तविक तंत्र कायम करना, समझ से शोषण का अंत करना, मूल्यों व नीतियों के आधार पर सांस्कृतिक शैक्षणिक क्रान्ति करना और अंततः नए भारत का निर्माण करना था।

जे.पी. आन्दोलन का सबसे प्रमुख औचित्य यह था कि वह भारतीय जीवन और राजनीति में भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने के लिए खड़ा हुआ था, जिसका मुख्य स्रोत कथित रूप से श्रीमती गाँधी थीं। यह आन्दोलन, उनके निरंकुश व्यक्तित्व और राजनीति एवं प्रशासन चलाने के उनके तौर तरीके से उत्पन्न खतरे से लोकतंत्र को बचाना चाहता था। जे.पी. ने अकसर श्रीमती गाँधी पर यह आरोप लगाया कि वह भी जनवादी संस्थाओं को समाप्त करने और अपनी सत्ता की भूख मिटाने के लिए सोवियत समर्पित तानाशाही स्थापित करने की कोशिश कर रही हैं। उन्होंने कहा कि श्रीमती गाँधी का सत्ता में बने रहना और भारत में लोकतंत्र का जीवित रहना परस्पर विरोधी है।"[64]

अपने इस आन्दोलन के माध्यम से जयप्रकाश नारायण ने जनतंत्र के तात्कालिक स्वरूपको चुनौती दी। उनका कहना था कि वर्तमान 'जनतंत्र' में केवल 'तंत्र' रह गया है उसमें 'जन' नाम की कोई वस्तु ही शेष नहीं है। केवल ढाँचा बचा हुआ है, जिसमें आत्मा नहीं है। जनतंत्र में जन का गला घोंट कर ज्यादा देर जिंदा नहीं रह सकते। जनतंत्र में जनता की उपेक्षा करने वाला शासन

ज्यादा देर टिक नहीं सकता। इसलिए अब वह समय आ गया है कि जनतंत्र का मूल्य चुकाया जाय। उनका मनना था कि लोकतंत्र का मूल आधार लोक की शक्ति होती है अतः लोकतंत्र में केवल लोक को तय करने का हक़ है कि व्यवस्था कैसी होगी उसे कौन चलाएगा।

जयप्रकाश का मानना था कि भ्रष्टाचार और उससे उपजी बेरोज़गारी और ग़रीबी सब इस सत्ता की देन है और इसे मिटाने के लिए इस तंत्र को मिटाना आवश्यक है। स्वतंत्र जनतांत्रिक भारत देश के इस आन्दोलन में पहली बार सभी राजनीतिक दल अपने मतभेद भुलाकर एक मंच पर आए। इस आन्दोलन में शामिल लोगों की विचारधारा और चेतना कई प्रकार की थी पर सब इस बात पर एकमत थे कि समाज, राजनीति और जनतंत्र का स्वरूप बदलेगा। इस आन्दोलन का लक्ष्य तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी को हटाना और भ्रष्टाचार व सरकारी निरंकुशता को समाप्त करना था। इंदिरा गाँधी ने इसी आन्दोलन को आधार मानते हुए 'आतंरिक अशांति' के नाम पर देश में आपातकाल की घोषणा को तर्कसंगत बताया था। इस घोषणा के पक्ष में तर्क देते हुए उन्होंने बाद में कहा कि 'गैर संविधानिक चुनौती का सामना करने के लिए उनके पास कोई और चारा नहीं था। उन्होंने कहा कि उनके त्यागपत्र से उन शक्तियों को मजबूत होने का मौका मिलता जो जनतांत्रिक प्रक्रिया के लिए ख़तरा उत्पन्न कर रही थीं और देश की अव्यवस्था को अराजकता के क़गार पर धकेल रही थीं।'[65] इस राजनैतिक घटना की सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि दोनों ही पक्षों ने देश की जनतांत्रिक व्यवस्था को अनदेखा किया। जे.पी. और श्रीमती गाँधी दोनों ने जनतांत्रिक व्यवस्था वाले देश में चुनाव का विकल्प ही नहीं दिया।

आपातकाल के कुछ समय बाद जनसाधारण का आपातकाल में हुए आर्थिक विकास व अन्य सहूलियतों से मोहभंग हो गया। 1976 के बाद के वर्षों में जनता का असंतोष बहुत अधिक बढ़ गया। इस आन्दोलन के बाद सन् 1977 में आम चुनाव हुए तब देश की जनता ने आपातकाल की ज़्यादतियों के विरोध में श्रीमती गाँधी के ख़िलाफ़ मतदान किया। जनता ने यह सपना फिर से संजोया कि इस बार पूर्ण क्रान्ति के बाद परिवर्तन का दौर आएगा, स्थितियाँ बदलेंगी, उनके सपने सच होंगे और सुधार आएगा। परन्तु आम जनता का जितना मोहभंग इस क्रान्ति के बाद हुआ वह पहले कभी नहीं हुआ था। जिस 'जनता पार्टी' की सरकार को देश की जनता ने चुना था वह नवनिर्वाचित सरकार विभिन्न पार्टियों की मदद से चलने वाली 'खिचड़ी' बन गई जिसका जनता

से अधिक सरोकार नहीं दिख रहा था और जो स्वार्थलोलुप, विलासिता के पंक में धँसी जा रही थी । इस स्थिति का चित्रण करते हुए नागार्जुन ने एक कविता लिखी :-

"खिचड़ी विप्लव देखा हमने
भोगा हमने क्रान्ति विलास
अब भी ख़त्म नहीं होगा क्या
पूर्ण क्रान्ति का भ्रान्ति विलास ।"[66]

-'खिचड़ी विप्लव देखा हमने'

अपने विद्रोही स्वभाव और निडरता से नागार्जुन ने 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' कविता लिखी जिसमें तत्कालीन स्थिति का यथारूप ब्यौरा उन्होंने प्रस्तुत किया । जिस जनता पार्टी को आम जन ने सत्ता की बाग़डोर थमाई थी उसमें 'जनता' ही अनदेखी रह गई थी । देश में हुई क्रान्ति और संघर्ष में मिली जीत के बाद श्रेय पूर्णतः 'जनता पार्टी' को मिला । लाभ 'पार्टी' तक सिमट गया और 'जनता' वहाँ से नदारद दिखी । इस क्रान्ति की यह परिणति देख कवि व्यथित हुए क्योंकि जन सामान्य को जो प्राप्त हुआ वह 'भ्रान्ति' मात्र थी । ऐसी बड़ी क्रान्ति के बाद भी जनता की स्थिति में रत्ती भर फ़र्क नहीं आया था । देश की जनता को साफ़-साफ़ दिख रहा था कि किस प्रकार राजनीतिक पार्टियों ने जनता के सपनों का गला घोंट कर हत्या कर दी है ।

जनता शोषण से मुक्ति पाना चाहती थी, उसे अपनी यह मुक्ति इसी आन्दोलन में दिख रही थी । इसी कारण वह निरंतर संघर्षरत थी और अपने उज्ज्वल भविष्य, शांतिमय जीवन की आस में आन्दोलनों में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेती थी । किन्तु वास्तव में कोई बदलाव नहीं आया और यह नवनिर्वाचित सरकार भी जनता की समस्याओं को उनकी आस के अनुसार पूरा नहीं कर पाई । इन स्थितियों पर प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने लिखा कि "वास्तव में यह दौर राजनीति में मूल्यों की गिरावट का था । दग़ाबाज़ी संस्कृति हो गयी थी । दोमुँहापन नीति । बहुत बड़े-बड़े व्यक्तित्व बौने हो गए थे । श्रद्धा सब कहीं से टूट गयी ।... भ्रष्ट राजनीतिक संस्कृति ने अपना असर सब कहीं डाला । किसी का किसी पर विश्वास नहीं रह गया था - न व्यक्ति पर न संस्था पर । कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का नंगापन प्रकट हो गया ।... यह विकलांग श्रद्धा का भी दौर था ।"[67] इन सब स्थितियों का प्रतिबिम्ब साहित्य में दिखना स्वाभाविक था क्योंकि

निश्चित ही बुद्धिजीवी वर्ग इन घटनाओं से अछूता नहीं रह सकता था । इस राजनीतिक घटना से आहत होकर साहित्यकारों ने विद्रोही भाव में सत्ता के गलियारों पर प्रहार करना आरम्भ किया । जयप्रकाश नारायण के व्यक्तित्व और उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर कवियों व लेखकों की बड़ी तादाद इसमें शामिल हुई । गली चौराहों पर काव्य-गोष्ठियों का दौर चलता रहा, नुक्कड़ नाटक चलते रहे, काव्य पाठ हुए । इन गोष्ठियों में कवियों ने आन्दोलन को ऊर्जावान बनाये रखने हेतु काव्यों की रचनाएँ की । प्रगतिवादी विचारधारा के प्रसिद्ध कवि नागार्जुन भी इस जन आन्दोलन से दूर नहीं रह सके और पूरी ऊर्जा के साथ आन्दोलन में शामिल हुए ।

आपातकाल के समय सरकार में स्थापित लोगों के तानाशाही रवैये पर अनेक कवियों ने अपने व्यंग्य बाण चलाए । आपातकाल के समय का कच्चा चिट्ठा अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया । जहाँ एक ओर इस आन्दोलन में नागार्जुन द्वारा रचित कविता :-

"इंदु जी इंदु जी
क्या हुआ आपको
सत्ता की मस्ती में
भूल गयी बाप को ।"[68]

-'इंदु जी क्या हुआ आपको ?'

सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई वहीं दूसरी तरफ रामगोपाल दीक्षित की कविता 'जयप्रकाश का बिगुल बजा तो जाग उठी तरुणाई है, तिलक लगाने तुम्हें जगाने क्रान्ति द्वार पर आई है ।'[69] भी बहुत प्रसिद्ध हुई । धर्मवीर भारती ने इस जुझारु व्यक्तित्व की प्रशंसा में लिखा कि :-

"खलक खुदा का, मुलुक बाश्शा का...
हुकुम शहर कोतवाल का
हर खासो-आम को अग्गाह किया जाता है
कि खबरदार रहें
और अपने-अपने किवाड़ अंदर से
कुण्डी चढ़कर बंद कर लें
गिरा लें खिड़कियों के परदे

और बच्चों को बाहर सड़क पर न भेजें
क्योंकि
एक बहत्तर बरस का बूढ़ा
अपनी काँपती कमज़ोर आवाज़ में
सड़कों पर सच बोलता हुआ निकल पड़ा है..."[70]

-'मुनादी'

इस प्रकार देश में घटित इन सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं पर बुद्धिजीवियों ने अपने विचार निडरता से रखे। नागार्जुन की कविता "काली माई" को उदाहरण स्वरूपदेखा जा सकता है जिसमें आपातकाल के दौरान सत्ताधारी वर्ग के रवैये का चित्रण है। इन विविध राजनीतिक सामाजिक घटनाओं का प्रभाव हमें साहित्य पर दिखाई देता है। सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता में जनतंत्र की अभिव्यति जिस रूप में हुई उसकी पृष्ठभूमि में इन घटनाओं की विशेष भूमिका है। आज़ादी से जुड़ी आकाँक्षाओं के टूटने, राजनेताओं द्वारा किये गए वादों के अपूर्ण रहने, जनतंत्र के प्रति अविश्वास बनने, जन के मोहभंग की प्रक्रिया से गुज़रने का कारण कहीं न कहीं यह घटनाएँ भी थीं। परिणामतः सन् 1960 के बाद की कविताओं में मोहभंग की अभिव्यक्ति और मुखर हो जाती है। इन सभी घटनाओं की उपस्थिति विविध कवियों की रचनाओं में दिखाई देती है। साहित्य में इनकी उपस्थिति इस बात को साबित करती है कि पंचवर्षीय योजनाओं की निर्मिती से लेकर आपातकाल तक घटने वाली घटनाओं ने भारतीय जन मानस और बुद्धिजीवी वर्ग को कितना प्रभावित किया। जनतांत्रिक देश में 'जन' की अनदेखी ने कवियों को क्षुब्ध किया। परिणामतः 'जनतांत्रिक व्यवस्था' के प्रति समकालीन कवियों में आलोचना, आक्रोश, निराशा की झलक मिलती है। वह 'जनतंत्र' की कविता लिखते हैं और कविता के 'जनतंत्र' का प्रश्न भी सामने आ खड़ा होता है।

1.4 जनतंत्र की कविता बनाम कविता का जनतंत्र

सन् 1952 में औपचारिक रूप से स्थापित जनतांत्रिक व्यवस्था को अनेक कवियों ने अपनी कविता का विषय बनाया। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि एक ऐसी व्यवस्था का जिससे देश के करोड़ों लोगों की अपेक्षाएँ जुड़ी हों; साहित्य में न आना असंभव है। साहित्य में समाज में घटने वाली घटनाओं की उपस्थिति किसी न किसी रूप में अवश्य होती है। फिर 'जनतांत्रिक व्यवस्था' से तो देश के नागरिकों का जीवन अभिन्न रूप से सम्बद्ध था। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिससे जन सामान्य का विकास जुड़ा था, उम्मीदें जुड़ी थी और इस व्यवस्था में रहकर ही प्रत्येक भारतवासी जीवन जीने और विकास के पथ पर आगे बढ़ने को प्रतिबद्ध था। यह प्रतिबद्धता जितनी आम-आदमी की थी उससे अधिक बुद्धिजीवी वर्ग या साहित्यकार की थी ; क्योंकि आम व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में जीता और उनसे संघर्ष करता है किन्तु एक साहित्यकार/बुद्धिजीवी या कवि न केवल उन स्थितियों में रहता है अपितु किसी भी सामाजिक व्यवस्था और स्थितियों पर पैनी दृष्टि भी रखता है। उनके प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाता है ताकि उसके सकारात्मक व नकारात्मक पहलुओं को बिना किसी भेदभाव या पूर्वाग्रह के सामने ला सके। आलोचना करने या निडर होकर अपने विचार सबके समक्ष रखने की यह छूट भी 'जनतंत्रात्मक व्यवस्था' ही देती है। किसी भी व्यक्ति या वर्ग को अपना दृष्टिकोण रखने की स्वतंत्रता देने के पार्श्व में भी वह सोच है जो किसी एक व्यक्ति, वर्ग, शक्ति के लोगों को तानाशाह बनने से रोके। बुद्धिजीवियों या साहित्यकारों/कवियों को 'जनतांत्रिक व्यवस्था' के सभी पहलुओं पर अपने विचार रखने की जो स्वतंत्रता प्राप्त है वह भी 'जनतांत्रिक व्यवस्था' की ही एक महत्त्वपूर्ण देन है। 'कविता का जनतंत्र' (जिसका सीधा सम्बन्ध अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य से है) ही 'जनतंत्र की कविता' को यह छूट देता है कि यथार्थ की अभिव्यक्ति यथारूप की जा सके। 'जनतंत्र की कविता' और 'कविता के जनतंत्र' के अंतर को दो पृथक उपभागों में रखकर सुविधापूर्वक समझा जा सकता है।

1.4.1 जनतंत्र की कविता

कविता जन-चेतना की संवाहिका होती है क्योंकि सामाजिक सन्दर्भों से उसका सीधा एवं अटूट सम्बन्ध होता है। समय की समस्याओं के प्रति वह सचेत रहती है। जीवन के समानांतर रूपायित होने वाली ऐसी शाब्दिक अभिव्यक्ति है जो सामयिक सत्य को तीक्ष्णता से व्यक्त करती है। कविता का सौन्दर्य तभी विश्वसनीय माना जा सकता है जब वह यथार्थ से बद्ध हो। कविता का यथार्थ काल्पनिक नहीं हो सकता क्योंकि कविता को विश्वसनीय बनाने के लिए जीवन के राग-विराग को स्वयं भोगना, अनुभूत करना आवश्यक है। जीवन सागर में गहरी पैठ के बाद ही एक कवि की अभिव्यक्ति मानवीय भावनाओं का प्रतिबिम्ब बन सामने आती है। एक रचनाकार के लिए अनुभव की महत्ता को रेखांकित करते हुए भीष्म साहनी के विचारों को यहाँ रेखांकित किया जा सकता है उनका मत है कि "लेखक बाहर से अपने को खींचकर अपने अंतर्जगत में खो नहीं सकता, न ही ज़िन्दगी से अलग-थलग रहकर उसे आँक सकता है। उसका संसार इंसानी रिश्तों का संसार है और जितना अधिक वह इनके नज़दीक रहेगा, इनके गहरे में उतरेगा, उतना ही अधिक वह जीवन के यथार्थ को अपने साहित्य में व्यक्त कर पायेगा।"[71]

एक कवि की सार्थकता तभी मानी जा सकती है जब वह स्व से ऊपर उठकर संवेदनात्मक अभिव्यंजना द्वारा जनसमाज के मर्म में प्रवेश करने की क्षमता रखता हो। जिस 'स्व' की व्यंजना कवि करते हैं वह इतना विराट होता है कि उसमें मानव समाज का दुःख-सुख समाहित हो जाता है क्योंकि ; एक सच्चा साहित्यकार यथार्थ के प्रत्येक पक्ष को समग्रता में जीता है। एक साहित्यकार के दायित्व की ओर इंगित करते हुए 'रैल्फ फॉक्स' प्रश्न करते हैं कि "क्या कथाकार अपने संसार की समस्याओं से उदासीन रह सकता है ? क्या युद्धरत शक्तियों के संहारकारी उद्घोषों को वह अनसुनी कर सकता है ? क्या राष्ट्र की परिस्थितियों से वह आँखे चुरा सकता है ? क्या वह महाजनों के अनाचारों से संत्रस्त, उत्पीड़ित मानवता को देखकर चुप रह सकता है ?"[72] स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' ही हो सकता है क्योंकि, देश-काल-वातावरण के प्रति सजगता ही कवि की चेतना का सहज गुण होता है। कविता में सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष और उससे उपजती भविष्य की संभावनाएँ अभिव्यक्ति पाती हैं। एक कवि जब अपने युग के प्रखरतम सत्य से साक्षात्कार करता है

तो केंद्र में राजनीति अवश्य आती है क्योंकि राजनीति, आर्थिक-सामाजिक संबंधों को प्रभावित करती है। भारतीय राजनीति को देखें तो उसकी आधारभूमि में 'जनतांत्रिक व्यवस्था' दिखाई देती है। यही कारण है कि जनतांत्रिक व्यवस्था के लागू होने से आज तक हिन्दी कविता में 'जनतंत्र' पर अनेक कवियों ने कविताएँ लिखी हैं।

सन् 1950 में संविधान लागू होने के बाद से ही साहित्यकारों की दृष्टि इस पर रही है। 'जनतंत्र' की कविता की शुरुआत संविधान लागू होने के साथ यानी 26 जनवरी 1950 से ही दृष्टिगत होती है। 1950 के दशक की कविताओं में जनतंत्र से जुड़ी उम्मीदें, इस व्यवस्था के प्रति सम्मान और गर्व का भाव दीखता है। देश में यह व्यवस्था लागू होने के समय हिन्दी भाषा के कवियों की जनतंत्र के प्रति अवधारणा सकारात्मकता से पूर्ण थी। उन्हें विश्वास था कि 'जनतंत्र' आने के बाद स्थितियाँ अवश्य परिवर्तित होंगी। जनता द्वारा शासित स्वतंत्र देश में किसान, मजदूर, ग़रीब व्यक्ति का भी विकास होगा। उनके जीवन का अन्धकार इस अजेय स्वप्न की पूर्ति के पश्चात् मिट जायेगा। इस उम्मीद में जोश के साथ राष्ट्रीय भावधारा के प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 26 जनवरी 1950 को ही 'जनतंत्र का जन्म' नाम से कविता लिखी :-

"सदियों की ठंडी-बुझी राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
x x x
सब से विराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि-हित सिंहासन तय करो
अभिषेक आज राजा का नहीं, प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।"[73]

-'जनतंत्र का जन्म'

जनता के सिर पर मुकुट रखने का अर्थ स्पष्ट था - व्यवस्था में जनता की प्रतिभागिता। जनता द्वारा जनता के लिए शासन। इस व्यवस्था से देश के प्रत्येक नागरिक को नए, खुशहाल,

संपन्न, विकसित जीवन की उम्मीद थी । यह वह जनता थी जिसने कई वर्षों तक चुपचाप वेदना सही थी और जिसे एक लम्बे अंतराल के बाद स्वाधीन देश में स्थापित नई व्यवस्था प्रणाली में बिना किसी भेदभाव के जीवन जीने की उम्मीद थी । इस उम्मीद की पूर्ति हेतु जनता ने देश की व्यवस्था चलाने की ज़िम्मेदारी अपने ही द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों को दी । ताकि, वे आम आदमी की समस्याओं को दूर करने के लिए कार्य करें और ऐसे निर्णय लें जिससे भूख, ग़रीबी, बेरोज़गारी, अशिक्षा जैसी समस्याओं को सुलझाया जा सके और प्रत्येक वर्ण, वर्ग, लिंग, जाति, धर्म का व्यक्ति विकास पथ पर आगे बढ़े । जनता के तंत्र वाले इस देश में 'जनतंत्र' के सभी पहलुओं पर कवियों ने अपनी दृष्टि बनाए रखी और उसकी अभिव्यक्ति अपनी कविताओं में की । आज़ादी से जुड़े मोह और इस व्यवस्था से उम्मीद को शब्द देते हुए धूमिल ने लिखा :-

"अब कोई बच्चा
भूखा रहकर स्कूल नहीं जाएगा
अब कोई छत बारिश में
नहीं टपकेगी
अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में
अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा
अब कोई दवा के अभाव में
घुट-घुटकर नहीं मरेगा
अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा
कोई किसी को नंगा नहीं करेगा
अब यह ज़मीन अपनी है
आसमान अपना है
जैसे पहले हुआ करता था।"[74]

-'पटकथा'

किन्तु विविध राजनीतिक सामाजिक घटनाओं के कारण व प्रतिनिधि वर्ग की स्वकेंद्रित प्रवृत्ति के कारण जनता का मोहभंग होने लगा । उन्हें विकास के जो स्वप्न दिखाए गए थे वह टूटने लगे ।

राजनीति में पहुँचे लोगों का सर्वोपरि उद्देश्य 'कुर्सी' पर स्थापित रहना हो गया। हिन्दी कविता के अनेक कवियों ने टूटते हुए जनतांत्रिक मूल्यों को अपनी कविताओं का विषय बनाया। सत्ताधारी वर्ग द्वारा दिखाए गए 'रामराज' के स्वप्न के छलावे को बेपर्दा किया। आज़ादी और संविधान द्वारा स्थापित जनतांत्रिक व्यवस्था के बीस वर्षों बाद भी देश में फैली निर्धनता, बेकारी, भुखमरी, तथाकथित तरक्की पर कवियों ने पैनी दृष्टि डाली और चुभने वाली वाणी में व्यंग्य किया। 'जनतंत्र' से मोहभंग की स्थिति को व्यक्त करते हुए रघुवीर सहाय ने लिखा :-

"बीस बरस बीत गए
लालसा मनुष्य की तिलतिल कर मिट गयी
x x x
टूटते टूटते जिस जगह आकर विश्वास हो जायेगा कि
बीस साल
धोखा दिया गया
वहीं मुझे फिर कहा जायेगा विश्वास करने को
पूछेगा संसद में भोलाभाला मंत्री
मामला बताओ हम कार्रवाई करेंगे
हाय-हाय करता हुआ हाँ-हाँ करता हुआ हें-हें करता हुआ
दल का दल
पाप छिपा रखने के लिए एकजुट होगा
जितना बड़ा दल होगा उतना ही खाएगा देश को।"[75]

-'एक अधेड़ भारतीय आत्मा'

राजनीतिक विद्रूपता व विसंगतियों की यह अभिव्यक्ति जनतंत्र के जननायकों का वह चेहरा सामने लाती है जो जनता के साथ होने या कार्यवाही करने की आड़ में अपना ही पेट भरते हैं। जनता के साथ होने का पाखण्ड करते हैं। आज़ादी मिलने के दो दशकों के बाद भी आम आदमी की इच्छाएँ ज्यों की त्यों ही रहती हैं और वह मृतप्राय हो जाती हैं। किन्तु यह तथाकथित जननायक बार-बार

अपने हित में मतदान करने के लिए तरह-तरह की बातें बनाकर भोली जनता को मूर्ख बनाते हैं। जनता प्रदत्त परिस्थितियों में बदलाव आने का इंतजार करती रहती है। इस सम्बन्ध में धूमिल लिखते हैं कि :-

"इस तरह जो था उसे
मैंने जी भरकर प्यार किया
और जो नहीं था
उसका इंतजार किया।"[76]

- 'पटकथा'

विडम्बना है कि शासक वर्ग निर्लिप्त रहते हैं और मुखौटा धारण करके भीतर ही भीतर क्रूर हँसी हँसते हैं और देश को खोखला करके अपनी चोर जेबें भरते हैं। आज़ादी के बीस वर्षों में जनता की यह दुर्गति देखकर इस वर्ग में खीझ उत्पन्न होती है और 'जनतंत्र' के मूल आधार के प्रति अनास्था का भाव उत्पन्न होता है। बीस वर्ष का एक बड़ा अंतराल उसे व्यर्थ नज़र आता है और 'आज़ादी' भी निरर्थक लगने लगती है :-

"बीस साल बाद और इस शरीर में
सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुज़रते हुए
अपने आप से सवाल करता हूँ-
क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है ?"[77]

- 'बीस साल बाद'

लम्बे संघर्ष के बाद मिली आज़ादी का कोई मतलब न दिखाई देना भयावह स्थिति की ओर इंगित करता है। रंग-बिरंगे स्वप्नों का एक प्रतीक तक सिमट कर रह जाना जनतंत्र लाने व आज़ादी पाने का उद्देश्य नहीं था। देश के जन-प्रतिनिधियों के स्वार्थपूर्ण रवैये से खीझ, आक्रोश, हताशा और निराशा का माहौल बनता है। उस समय के भ्रमों और खोखलेपन को कवि उद्घाटित करते हैं और

भारत वासियों की विडम्बना को यथारूप अपनी कविता में लाते हैं। इन स्थितियों पर सन् 1969 में रघुवीर सहाय ने लिखा था कि "आज के राजनीतिक वाद-विवाद में प्रायः सभी विषय मूल प्रश्न से हटकर उठ रहे हैं। अछूत प्रथा पर उठने वाला शोर, 10 सूत्री कार्यक्रम का ढिंढोरा इत्यादि ऐसे ही विषय हैं। नीति निर्धारित करने वाले अत्यंत मौलिक प्रश्नों पर, जिनमें भाषा और भारतीय एकता सर्वप्रमुख है, इस समय किसी राजनीतिक दल की आस्था नहीं है। इसी तरह भारतीय अर्थ व्यवस्था की आधार भूमिहीन श्रम शक्ति के पुनर्वास की समस्या किसी के लिए मौलिक समस्या नहीं बनकर आ रही है। अनिश्चित वर्षा की नींव पर टिके अस्सी प्रतिशत भारतीय कृषि समाज के लिए सिंचाई किसी राजनीतिक दल के लिए प्रमुख राजनीतिक कार्यक्रम आज नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे नयी पीढ़ी की आगत प्रतिभा के भविष्य के लिए निज भाषा में विद्या अध्ययन किसी राजनीतिक दल का कार्यक्रम आज नहीं है। इस सब विषयों पर अधूरे, कामचलाऊ और दिशाहीन नौकरशाही फैसलों को सबने मानों मान लिया है। परिणाम यह है कि भारतीय राजनीति की समस्त हलचल इस समय शिखर पर हो रही है।"[78]

जनतंत्र को अपनी कविता का विषय बनाने वाले यह कवि जनतंत्र के प्रत्येक पहलू के प्रति सचेत रहकर, समझदारी से बिना किसी पूर्वाग्रह के काव्य-रचना करते हैं। राजनीति और समाज में व्याप्त संवेदनहीनता और क्रूरता और छलावे को केंद्र में रखकर शोषक व सत्ताधारियों पर प्रहार करते हैं। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, धूमिल, सर्वेश्वर, रघुवीर, श्रीकान्त वर्मा आदि कवियों की कविता जनतंत्र में घटित होने वाली प्रत्येक घटना और आम जन की शोचनीय, दयनीय स्थिति को उजागर करती है। इन कवियों ने समकालीन परिवेश और परिस्थितियों से प्रभावित होकर कविता की है। अपेक्षित उन्नति का न होना, सभी के पास समान अवसरों का न पहुँच पाना कवि मन को क्षुब्ध करने का कारण बना। कवियों ने अभिजात्य तोड़कर और सीना ठोक कर, निडर होकर सामने आना अपनी ज़िम्मेदारी मानी। सर्वेश्वर ने लिखा :-

"लीजिये पहले मैं ही मरता हूँ
अभिजात्य तोड़ता हूँ
जो भी शब्द आता है ज़बान पर
कहने से नहीं डरता हूँ।"[79]

यह निडरता ही कवि को 'जन' का कवि बनाती है । यह व्यवस्था जब अपने सत्तात्मक रूप में मानव-समाज के शोषण में लिप्त होती है तब कवि कविता के जनतांत्रिक अधिकार का उपयोग कर पीड़ित जनों का पक्षधर बनकर राजनीति से संघर्ष करता है और जनतांत्रिक असंगतियों का चित्रण अपनी कविताओं में करता है। 'जनतंत्र की कविता' को वह मंच कहा जा सकता है जहाँ जनतांत्रिक देश में 'जन-साधारण' की जीवन स्थितियों का साक्षात्कार कर उन्हें उनके वास्तविक स्वरूप में रखने का प्रयास कवि करते हैं और उनकी कविता 'जनतंत्र की कविता' कहलाती है।

1.4.2 कविता का जनतंत्र

'कविता का जनतंत्र' अपने समय के सामाजिक-राजनीतिक षड्यंत्रों और जन साधारण को सत्वरहित करने वाली सत्ताधारी शक्तियों को पहचान कर उन्हें सचेत करने और सर्वहित के पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देने का कार्य करने की स्वतंत्रता कवि को देता है। 'कविता का जनतंत्र' कवि के लिए वह मंच उपलब्ध करवाता है जहाँ से मानव के समक्ष उसे ही पीड़ित करने वाली शक्तियों के असली चेहरे को सामने लाने की सुविधा उसे मिलती है। कवि कविता का प्रयोग एक अस्त्र के रूप में कर युग की मानसिकता को परिवर्तित करने हेतु करता है। क्योंकि :-

"कविता
भाषा में
आदमी होने की तमीज़ है।"[80]

-'मुनासिब काररवाई'

राजनैतिक-समाजिक संघर्षों को देख कर कवि आकुल होता है और सामाजिक महासमर में अपने शब्द्भेदक अस्त्रों के साथ उतर पड़ता है क्योंकि मानवीय व्यथा के करुण विलाप को और उसके कारणों को सामने लाना कवि-कर्म है। इस विलाप का कारण जब राजनैतिक तनाव होता है तो उसे सामने लाने के लिए कवियों को विशेष मशक्कत करनी पड़ती है । जनतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक सहभागिता के माध्यम से सत्ता पाई जा सकती है और सत्ता पाने की आकाँक्षी शक्तियाँ जनसाधारण का निर्मम प्रयोग करती हैं। समाज में व्याप्त उत्पीड़न, भ्रष्टाचार, अभाव आदि के मूल

में राजनीति व्याप्त रहती है। यह राजनीति ही है जो मानवीय जीवन को प्रभावित करती है और उससे प्रभावित होती भी है। एक कवि आम नागरिक होने के नाते इन राजनैतिक दंशों की पीड़ा को झेलता है। सजग व मर्मवेत्ता होने के कारण बुद्धिजीवी राजनीति के शोषक चरित्र को समझ जाता है और कविता में उस सत्य को बेपर्दा करना चाहता है। राजनीतिक प्रश्नों को वह नकार नहीं सकता। इस सम्बन्ध में नेमिचन्द्र जैन का कथन है कि "यह स्पष्ट है कि जो कवि अपनी कविता में इन्सान की हालत को समझने और परिभाषित करने का दावा करता है, जो अपने ज़माने के अनुभव को मूर्त करने के लिए उलझ रहा है, वह राजनीतिक परिस्थिति, कार्य और दृष्टि से अपने को विलग नहीं कर सकता।"[81] अपने युग के राजनैतिक दुष्चक्रों को भेद कर राजनीतिक दंशों को अभिव्यक्ति देने के लिए 'कविता का जनतंत्र' आवश्यक हो जाता है क्योंकि राजनीति किसी को कोई छूट नहीं देती। लेकिन कवि इस पक्ष पक्ष से किसी भी स्तर पर अछूता नहीं रह सकता। नेमिचंद्र जैन के अनुसार "राजनीति आज इस प्रकार इतने विविध रूपों और इतनी दूर तक समुदाय और व्यक्ति के जीवन में घुस आई है कि उससे किसी के लिए तटस्थ होने की गुंजाइश नहीं।"

कविता के जनतंत्र की आवश्यकता इसी बिंदु पर अपरिहार्य हो जाती है। 'कविता के जनतंत्र' से तात्पर्य केवल रचना स्वातंत्र्य तक ही सीमित नहीं होता अपितु कविता में हर उस भाव की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से है जो कवि चाहता है। कवि की भावाभिव्यंजना किसी स्तर पर दमित न हो यह कार्य 'कविता का जनतंत्र' करता है। कविता के माध्यम से अपनी बात निडर होकर कहने की स्वतंत्रता को कवि अज्ञेय रचना-स्वातंत्र्य के रूप में भी देखते हैं। उनका मानना था कि "लेखक के नाते हमारी स्वतंत्रता का महत्त्व केवल इतना नहीं है कि हम जो चाहें लिख सकें ; यह भी है कि हम समाज को वैसा बनाने को स्वतंत्र हों जैसा हम उसे बनाना चाहते हैं।"[82] क्योंकि यदि हम समाज और संस्थान के "ढाँचे को बदलने का प्रयत्न करने को स्वतंत्र नहीं हैं तो फिर हमारा रचना कर्म स्वतंत्र नहीं है।"[83] यदि कोई व्यवस्था यह चाहती है कि जो भी 'पढ़ा जायेगा उसका निर्धारण पूर्णतया या अंशतः उसके अधीन रहे, उसके लाभालाभ विचार के अधीन रहे' तब ऐसी स्थिति में 'रचना स्वातंत्र्य' न केवल संकटापन्न है वरन् आक्रान्त भी है।"[84] क्योंकि अगर व्यवस्था कहीं भी, किसी भी प्रकार से लेखन कर्म में रोड़े अटकाती है, अवरोध उत्पन्न करती है तो लेखक शोषित, बंधा हुआ महसूस करता है। सत्य को पूर्णतः अभिव्यक्त करने में कठिनाई

महसूस करता है और उसकी अभिव्यक्ति प्रभावित होती है। लेखक कर्म तभी स्वतंत्र हो सकता है जब सत्ता वर्ग रचना कर्म में किसी प्रकार की रोक न लगाए। अपितु शासन व्यवस्था और समाज विविध संस्थानों की सहायता से रचना को आम जन तक पहुँचाने में सहायक हो। लेखक की स्वाधीनता से अज्ञेय का तात्पर्य है कि वह अपने को 'निर्बंध-प्रतिपक्षी' के रूप में देख सकें और अपने उत्तरदायित्व को 'कभी शासन के मुकाबले में खड़े होकर' और कभी 'सरकार से लड़कर' सार्थक कर सके।"[85] इस सार्थकता के लिए 'स्वतंत्रता' की आवश्यकता है और स्वतंत्रता जनतांत्रिक व्यवस्था का अहम् अंग है।

कविता का अपना एक जनतंत्र होता है जो कवि को सत्य उजागर करने की छूट और शक्ति देता है। ग़लत को ग़लत और सही को सही कहने का सामर्थ्य देता है। रचनाकार की रचना को सार्थक बनाता है। 'अपना' और 'जनतंत्र' का हित करने में सहायक होता है क्योंकि यदि कविता या किसी भी विधा को छूट न दी जाए व किसी दृष्टि या विचारधारा में बंधने को विवश किया जाए तो उसकी सार्थकता विनष्ट होती है और किसी भी प्रकार से हितकारी नहीं हो सकती। जनतंत्र के लिए यह आवश्यक भी है कि रचना को उसका सत्य कहने की छूट दे। इसी स्वतंत्रता के कारण काव्य जनता से संवाद करता है, उसे सही दृष्टि देता है। कवि इस काव्य और जनता के बीच संवाद स्थापित करने की कड़ी का काम करता है। बिना घबराए अपनी बात रखने का सामर्थ्य कवि को कविता का यह जनतंत्र ही देता है। तभी कवि नागार्जुन 'अच्छी कविता को एक सार्थक संवाद कहते' थे :-

"जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ
जन कवि हूँ, मैं साफ़ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ ?"[86]

-'भारतभूमि में प्रजातंत्र का बुरा हाल है'

यह 'साफ़ कहना' काव्य व जनतंत्र दोनों की विशिष्टता है। माहौल कैसा भी हो आतंक हो या दहशत जनतंत्र में जनता को सत्य बताने की ज़िम्मेदारी कवि या रचनाकार की होती है। यह 'साहित्य की जनतंत्र' से और 'जनतंत्र की साहित्य' से प्रतिबद्धता है। जनतंत्र और साहित्य के इस अंतर्संबंध पर विचार करते हुए विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है कि "जनतंत्र के लिए जो तीन अभिलक्षण चाहिए उनमें पहला है कि चुनाव हो और चुनाव में राजा रंक सभी भागीदार हों,

दूसरा कि उसमें असहमति की छूट हो, लेकिन तीसरा कि निर्णय बहुमत के आधार पर हो । साहित्य इस मामले में तो जनतांत्रिक है कि वह सबको संबोधित है, प्राणिमात्र के सुख दुःख के साथ उसकी साझेदारी है और साझेदारी को प्रेषित करना ही उसका धर्म है ; लेकिन मूल्यांकन मत संग्रह द्वारा नहीं होता । साहित्य और जनतंत्र की प्रक्रिया में एक अंतर और भी है । जनतंत्र चलता तो है सहमति के आधार पर, पर असहमति को बर्दाश्त करता चलता है । साहित्य ठीक उलटे असहमति पर चलता है ।"[87]

यह असहमति निर्द्वन्द्व तथा निडर होती है और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है । सर्वेश्वर के शब्दों में कहें तो :-

"बाहर बहेलिये का डर है
यहाँ निर्द्वन्द्व कंठ स्वर है
फिर भी चिड़िया
मुक्ति का गाना गाएगी
मारे जाने की आकांक्षा से भरे होने पर भी
पिंजड़े से जितना अंग निकल सकेगी निकालेगी
हरसू जोर लगाएगी
और पिंजड़ा टूट जाने या खुल जाने पर उड़ जाएगी ।"[88]

-'जंगल का दर्द - संग्रह'

स्वतंत्र जनतांत्रिक देश में मुक्ति की यह आकाँक्षा वास्तव में बिना भय जीने की, वास्तविकता की यथारूप अभिव्यक्ति की आकाँक्षा है । यही रचनाकार का दायित्व भी है । क्योंकि रचनाकार 'कविता के जनतंत्र' के माध्यम से समाज में बदलाव लाने का इच्छुक होता है । जनतंत्र की चेतना में आवश्यक व संभावित सुधारों पर विचार करता है । क्योंकि कविता और जनतंत्र दोनों का लक्ष्य समाजिक हित ही होता है । अतः कवि जब जनतंत्र से 'जन' को गायब देखता है और तंत्र को हावी होते तो उससे मुक्त होने की माँग भी करता है :-

"हमको तो अपने हक सब मिलने चाहिए
हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन

"कम से कम" वाली बात हमसे न कहिये ।"[89]

-'हमने यह देखा'

यह जनतांत्रिक व्यवस्था का ही प्रतिफलन है कि अपने 'हक़ की लड़ाई' लड़ने के लिए हम आवाज़ उठा सकते हैं । कविताओं के माध्यम से कवि जनाकांक्षाओं को, वास्तविकताओं को सामने रख देते हैं । संविधान द्वारा दी गई अभिव्यक्ति की आज़ादी 'कविता के जनतंत्र' का आधार बनती है और कवि को जनतंत्र की अस्मिता सुरक्षित बनाये रखने की पृष्ठभूमि भी प्रदान करती है । 'कविता का जनतंत्र' जनतंत्र की कविता लिखने को प्रेरित करता है ताकि राजनितिक जनतंत्र की ह्रासोन्मुखता से उपजी हताशा से जनता हतोत्साहित न हो । इस दृष्टि से 'कविता का जनतंत्र' अत्यंत महत्वपूर्ण और अर्थवान हो जाता है । इस लेखकीय जनतंत्र को परिभाषित करते हुए रघुवीर सहाय कहते हैं कि 'लोकतंत्र में बोलने की आज़ादी ही एक विषय नहीं है। उस हद तक जीने की आजादी चाहिए जिस हद तक सरकारों को कवि की बोली अन्याय के संगठित साम्राज्य के विरोध में बर्दाश्त करना असंभव हो जाए ।'

जनतांत्रिक व्यवस्था की विसंगतियों और दहशत भरे माहौल को देखकर सामान्य मनुष्य को असहाय और कायर बनाने वाली स्थितियों के विरोध में रघुवीर सहाय उसके साथ खड़े दिखाई देते हैं । 'कविता का जनतंत्र' कवि को उस शोषित या दमित व्यक्ति के साथ खड़े होने को प्रेरित करता है । रचनाकार को अपने सृजन द्वारा जागृत करने को प्रवृत्त करता है । जनतंत्र के आतंक और दहशत भरे माहौल में वह उन रचनाधर्मियों को ढूँढना चाहते हैं जो अपनी कविता के माध्यम से निडर होकर जनतांत्रिक देश के आतंकित माहौल के विरोध में खड़े हो सकें । कविता के माध्यम से जनता में वह विश्वास जागृत कर सकें कि वह बिना खुशामद किए, बिना निर्धनता से घबराए आवाज़ उठा सके । इसके लिए कवि में भी खुशामद व निर्धनता के डर से मुक्ति आवश्यक है क्योंकि तभी विरोध करने में वह सक्षम हो सकता है :-

"इस लज्जित और पराजित युग में
कहीं से ले आओ वह दिमाग
जो खुशामद आदतन नहीं करता
कहीं से ले आओ निर्धनता

जो अपने बदले में कुछ नहीं माँगती

और उसे एक बार आँख से आँख मिलाने दो ।"[90]

-'आने वाला ख़तरा'

जनतंत्र की कविता लिखने वाले कवियों के समक्ष जब कविता का जनतंत्र प्रश्न बन जाये तो भी कवि का कर्तव्य है कि वह सत्य का उद्घाटन करे । उन स्थितियों में भी जब सत्ता में बैठे लोग कवि की वाणी को अर्थहीन बनाने के लिए प्रयत्नशील हों क्योंकि साहित्यकार या कलाकार जनता के प्रति प्रतिबद्ध होता है । हर परिस्थिति में कविता के जनतंत्र को बनाए रखना उसका कर्तव्य होता है । अपनी कला, सृजनात्मकता के माध्यम से जनतंत्र द्वारा प्रदत्त अधिकारों को स्वयं के लिए व जनता के लिए सुरक्षित रखने का दायित्व उन पर होता है । कवि की सार्थकता कविता के जनतंत्र को बनाए रखने में ही है । कवि विजयदेव नारायण साही भी फ़टकार कर सच बोलने को महत्त्वपूर्ण मानते हैं । वह चाहते हैं कि :-

"इस दहाड़ते आतंक के बीच

फ़टकार कर सच बोल सकूँ

और इसकी चिंता न हो

कि इस बहुमुखी युद्ध में

मेरे सच का इस्तेमाल

कौन अपने पक्ष में करेगा ।"[91]

-'विजयदेव नारायण साही'

इसी प्रकार नई कविता के प्रमुख कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना हर परिस्थिति में, दबाव में भी अडिग रहने की कामना करते हुए कहते हैं :-

"वज्र गिराओ जब जब तुम

मैं खड़ा रहूँ यदि सीना ताने

नरक अग्नि में मुझे डाल दो

फिर भी जिऊँ स्वर्ग-सुख माने

मेरे शौर्य और साहस को
करुणामय हो तो सराहिये
चरणों पर गिरने से मिलता है
जो सुख, वह नहीं चाहिए ।"[92]

-'प्रार्थना - 4'

रघुवीर सहाय भी कविता में स्वतंत्रता के पक्षधर हैं । साहित्य व राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हुए भी वह साहित्य को राजनीति की जी हुजूरी करवाने के विरोधी थे । उनका कहना था कि "किसी भी प्रकार की संगठित राजनीति को मैं कभी यह पूरा अधिकार नहीं दे सकता कि वह रचना की जाँच करे और उस पर निर्णय दे । और निर्णय देगी तो उस निर्णय को मैं पक्षपात का निर्णय मानूँगा, भले ही वह संयोगवश सही निर्णय हो । इस की संभावनाएँ बहुत अधिक हैं कि जिन कविताओं में किसी राजनैतिक दल ने राजनीति का इस्तेमाल नहीं देखा है उन्हीं में आदमी के लिए न्याय के पक्ष की सबसे ज्यादा राजनीति हो ।"[93]

स्पष्ट है कि रचना का सत्ता के अधीन जाना साहित्य और राजनीति दोनों के लिए अहितकर है । इसके रघुवीर खिलाफ हैं और इसलिए मूल्यहीन राजनीति के विरोध में आवाज़ उठाने को प्रेरित करते हैं । आवाज़ उठाने या विद्रोह करने की स्वतंत्रता कविता में ही मिल सकती है । इस विरोध को वह आवश्यक मानते हैं क्योंकि यह आज की आवश्यकता है । वह मानते हैं कि जनतंत्र वाले देश में जनविरोधी रूप का विरोध करने के लिए और अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए चीखना आवश्यक है :-

"पाँच दल आपस में समझौता किये हुए
बड़े-बड़े लटके हुए स्तन हिलाते हुए
जाँघ ठोक एक बहुत दूर देश की विदेश नीति पर
हौंकते डौंकते मुँह नोच लेते हैं
अपने मतदाता का
एक बार जान-बूझकर चीखना होगा

ज़िन्दा रहने के लिए
दर्शकदीर्घा में से
रंगीन फिल्म की घटिया कहानी की
सस्ती शायरी के शेर
संसद-सदस्यों से सुन
चुकने के बाद ।"[94]

-'फ़िल्म के बाद चीख़'

पतनशील व्यवस्था में रचनाकार के दायित्व की बात याद दिलाते हुए वह कहते हैं कि हस्तक्षेप आज की अनिवार्यता है । यह हस्तक्षेप आवश्यक है सत्ता में बैठे लोगों को याद दिलाने के लिए कि जन साधारण चाहे कितना भी विवश क्यों न हो किन्तु कवि की बोलती बंद नहीं की जा सकती क्योंकि एक सार्थक रचनाकार समाज में व्याप्त संकट से मुँह नहीं फेर सकता । समाज के प्रत्येक मुद्दे पर पूर्ण आक्रोश, तल्खी और निडरता से अपनी बात रखता है । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना साम्यवाद और पूँजीवाद पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि :-

"साम्यवाद या पूँजीवाद
मैं दोनों पर थूकता हूँ
और पूछता हूँ
जिसके पैरों में तुम जूते नहीं दे सकते
उसके हाथ में तुम्हें
बन्दूक देने का क्या अधिकार है ।"[95]

-'युद्ध स्थिति'

अपनी बौद्धिकता और जनतंत्र द्वारा प्रदत्त शक्ति के सहारे कवि के भीतर का डर दूर हो जाता है और वह जानता है कि उसके कहने का प्रभाव जनता पर अवश्य पड़ेगा :-

"कुछ होगा, कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का

मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा, टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट, मत झूठ मूठ अब मत रूठ
मत डूब सिर्फ टूट ।"[96]

-'आत्महत्या के विरुद्ध'

मुक्तिबोध भी मनुष्य की मुक्ति के लिए ख़तरे उठाने को प्रेरित करते हैं :-

"अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब ।"[97]

-'अँधेरे में'

जहाँ एक ओर मुक्तिबोध अभिव्यक्ति के लिए किसी भी हद तक जाने तथा उससे जूझने के लिए जन सामान्य को प्रेरित करते हुए दिखाई देते हैं, सोई हुई मनुष्य की आत्मा के अन्दर साहस भरने का कार्य करते हैं वहीं दूसरी ओर प्रयोगवादी कवि केदारनाथ सिंह लोगों के भीतर के साहस की कमी को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान लेते हैं । समाज में छाई हुई चुप्पी और तथाकथित शांति को भंग करने के लिए लोगों को उस दूब की भाँति उठ खड़ा होने की प्रेरणा देते हैं जो विषम परिस्थिति में भी अपने साहस और जुझारू प्रवृत्ति द्वारा अपने अस्तित्व को बनाए रखती है । कवि केदार के शब्दों में कहें तो :-

"ठण्ड से नहीं मरते शब्द
वे मर जाते हैं साहस की कमी से
कई बार मौसम की नमी से
मर जाते हैं शब्द ।"[98]

-'ठण्ड से नहीं मरते शब्द'

वास्तव में जनतंत्र को अपनी कविता का विषय बनाने वाले कवियों का यह मानना है कि यह वह 'जनतंत्र' नहीं है जिसकी अपेक्षा सभी को थी । जनतंत्र के नाम पर सत्ताधारी वर्ग निजी हितों को

साधने की जोड़-तोड़ में लगा रहता है । जनतंत्र के नाम पर आम जन को मिली सहूलियत उन्हें केवल नारे लगाने या जुलूस निकालने की छूट देती है । उस पर भी यदि कोई आन्दोलन शासन के विरोध में आवाज़ बुलंद करे तो उसका मुँह बंद करने के कई बहाने अख्तियार कर लिए जाते हैं । जनतंत्र में 'आपातकाल' इसका सबसे बड़ा उदाहरण है । फिर भी कविता का जनतंत्र कवियों को अपनी बात रखने की आज़ादी देता है और हर परिस्थिति में कवि अपनी आवाज़ बुलंद करता है । उसके शब्द नहीं मरते और उससे प्रेरित होकर मृतप्राय लोगों में भी चेतना आ जाती है । एक सच्चा रचनाकार निडर होकर अपनी बात कह देता है और 'कविता का जनतंत्र' सुरक्षा कवच बन जाता है । नागार्जुन के शब्दों में कहा जा सकता है :-

"जली ठूँठ पर बैठ कर, गयी कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी, शासन की बन्दूक ।"[99]

-'शासन की बन्दूक'

समन्वित रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी कविता में आज़ादी से जुड़े संघर्षों, विभिन्न आन्दोलनों, स्वतंत्रता प्राप्ति के उल्लास, स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक परिप्रेक्ष्य, जनता के जनतंत्र से जुड़ी उम्मीदों, उम्मीदों के टूटने, मोहभंग होने आदि विविध स्थितियों की सजग उपस्थिति मिलती है । यह उपस्थिति लेखक की सजगता और प्रतिबद्धता की सूचक है । लेखक की यही सजगता विविध राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों पर प्रखर दृष्टि रखे रहती है और वह प्रतिबद्ध होकर स्पष्टता से प्रत्येक स्थिति को अपनी कविता के माध्यम से अभिव्यक्ति देता है । या यों कहें कि वह अपने उस कर्तव्य का निर्वाह करता है जिससे एक संवेदनशील नागरिक और जागरुक रचनाकार विमुख नहीं रह सकता । जीवन से जुड़ा हर पहलू कविता में उपस्थित रहता है । यदि राजनीति की बात की जाए तो स्पष्ट होना चाहिए कि कविताओं में 'राजनीति की उपस्थिति' से तात्पर्य सत्ता, कुर्सी, राजनेताओं की प्रशंसात्मक अभिव्यक्ति से नहीं होता । उसके मूल में मानव-जीवन है । एक जनतांत्रिक देश में मानव प्रत्यक्षतः राजनीति से जुड़ा होता है । जनता द्वारा चुना गया प्रतिनिधि सत्ता में जाने के बाद जो भी क़दम उठाता है वह मानव-जीवन को प्रभावित करता है । अतः

राजनीति की बात आवश्यक हो जाती है ताकि, मनुष्य जीवन को प्रभावित करने वाला कोई भी राजनीतिक पहलू अनदेखा न रह जाए और अराजक न हो जाए।

हिन्दी कविता में राजनीतिक स्थितियों को सदैव शामिल किया गया है। आज़ादी मिलने पर हुए उल्लास को अभिव्यक्ति मिली है। स्वतंत्रता के साथ आई विविध समस्याओं और स्वातंत्रयोत्तर आंदोलनों को अभिव्यक्ति मिली है। जनतंत्र और उससे जुड़े सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्षों को कवियों ने उकेरा है। सन् 1960 के बाद की कविता में आज़ादी से जुड़े जनसामान्य के स्वप्नों को और उनके अपूर्ण रह जाने पर आज़ादी से हुए मोहभंग को अनेक कवियों ने अपनी कविता का विषय बनाया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय जनतंत्र के प्रति आस्था और विश्वास से पूर्ण जनता के जनतांत्रिक व्यवस्था से हुए मोहभंग को स्पष्टता से कवियों ने अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया। मुक्तिबोध, धूमिल, रघुवीर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, नरेश मेहता, दुष्यंत कुमार, गोरख पाण्डेय आदि ने अपने और जनता के स्वप्नभंग को प्रस्तुत किया। जनतंत्र से कवि के इस 'मोहभंग' का कारण वह जनतांत्रिक मान्यताएँ थीं जो ध्वस्त हुई और शोषण और ग़ैरबराबरी की स्थितियाँ उत्पन्न हुई। सत्ताधारियों ने सामान्य मनुष्य को बेगाना बना दिया। साठोत्तरी समय में हुए इस पतन के सम्बन्ध में अपने निबंध संग्रह "वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे" की भूमिका में रघुवीर सहाय ने लिखा कि "इसी दौर में मजबूत केंद्र के बहाने राजनीति का केंद्र में एकत्र होना और राष्ट्रीयता के बहाने मानवीय चिंता का सिकुड़ कर छोटा होना जारी रहा। इसी बीच विशिष्ट लोगों के मन में मानव-सम्बन्ध क्रूर और जनसाधारण के मन में कर्म निरानंद होता गया। अब जब मैं बीते रास्ते की ओर देखता हूँ तो मुझे अनेक लोकतंत्रीय मान्यताओं और मूल्यों के पतन को रोकने की एक लम्बी और बार-बार अधूरी, कई बार विफल यात्रा के पड़ाव दिखाई पड़ते हैं। ...इसीलिए यह समझने की ज़रूरत जान पड़ती है कि जो मारे जाते हैं वे गैर नहीं हैं। अपने नियामकों द्वारा हम अपनों से ही पराये बनाये जाते रहे हैं।"[100]

साहित्य में समाज में घटित उन आन्दोलनों की भी उपस्थिति है जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्षतः राजनीति और जन-समान्य के जीवन से रहा है। जनतंत्र से जुड़े अनेकानेक स्वप्नों को और वास्तविकता को 'कविता के जनतंत्र' के तहत कवियों ने खुलकर अभिव्यक्त किया है। राजनीति से प्रेरित आपातकाल या नक्सलबाड़ी जैसे आन्दोलनों ने कैसे जनजीवन को प्रभावित किया है उसकी

समग्र तस्वीर भी यहाँ देखी जा सकती है । इसका कारण है कि हिन्दी कविता मनुष्य जीवन से अभेद्य रूप से जुड़ी है और इसीलिए कवि अपनी राजनीतिक दृष्टि का उपयोग कर ग़लत के विरुद्ध और सही के पक्ष में आवाज़ उठाता है ।

'हिन्दी कविता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य' अध्याय में राजनीति, जनतंत्र और साहित्य की अवधारणाओं व अंतर्संबंधों पर बात करते हुए उन राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है जिनसे जनता का जीवन प्रत्यक्षतः प्रभावित हुआ है । 'हिन्दी कविता में जनतंत्र' की अवधारणा क्या है यह इन सभी स्थितियों पर एक दृष्टि डाले बिना जान पाना संभव नहीं है । क्योंकि, स्वातंत्र्योत्तर कविता और मुख्यतः सन् 60 के बाद की कविता 'जनतंत्र' की वह तस्वीर प्रस्तुत करती है जो 'धूमिल', रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और उन जैसे अनेक कवियों व जन सामान्य के जीवन में इतनी गहराई से घुस गया है कि किसी भी स्थिति में उससे अछूता नहीं रहा जा सकता । आगे के अध्यायों में सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा की कविता में जनतंत्र की अभिव्यक्ति को इसी राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रख कर सुविधापूर्वक समझा जा सकता है ।

सन्दर्भ

[1] राजनीति सिद्धान्त एवं चिंतन, ओम प्रकाश गाबा, पृष्ठ संख्या - 5-6

[2] "अलब्धलाभार्था लब्ध परिरक्षणी रक्षित विवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च ।।6।। तरयमायत्ता लोकयात्रा ।।7।।" - कौटिल्य का अर्थशास्त्र, चौथा अध्याय, पृष्ठ संख्या - 13,
-स्वातंत्रयोत्तर कविता में राजनीतिक चेतना, गुणमाला नवलखा, पृष्ठ संख्या - 81 पर उद्धृत

[3] "Every action thought and emotion of human beings in inseparably abound up with the life and struggles of the community, i.e. politics; whether the humans themselves are conscious of this, unconscious of it or even trying to escape from it, objectively their actions, thoughts and emotions nevertheless spring from and run into politics." – Studies in Europeon Realism, page – 9, George Lukas, स्वातंत्रयोत्तर कविता में राजनीतिक चेतना, गुणमाला नवलखा, पृष्ठ संख्या - 82 पर उद्धृत

[4] The political crisis is the most acute expression of the general crisis of our time, our moral and ideological conflicts all have a political background and there are hardly any aspects of our private lives which are not tangled with the political battle, in one way or the other." – Marxists on Literature : an Analogy, page 447, स्वातंत्रयोत्तर कविता में राजनीतिक चेतना, गुणमाला नवलखा, पृष्ठ संख्या - 27 पर उद्धृत

[5] If we refuse to take part in politics, we are either cynics despairing of a world gone mad or less than intelligent human beings-mere living tools who will allow our future to be settled for us without making an attempt to control our lives." – Guide to Modern Politics, Page 14 स्वातंत्रयोत्तर कविता में राजनीतिक चेतना, गुणमाला नवलखा, पृष्ठ संख्या - 28 पर उद्धृत

[6] ज्ञानसिंह संधु, राजनीति सिद्धान्त, पृष्ठ संख्या - 291

[7] राजनीति सिद्धान्त एवं चिंतन, ओम प्रकाश गाबा, पृष्ठ संख्या - 58-59

[8] https://books.google.co.in/books?id=D-lOAgAAQBAJ&pg=SA5-PA2&lpg=SA5-PA2&dq=%E0%A4%B2%E0%A5%8B%E0%A4%95%E0%A4%A4%E0%A4%82%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0+%E0%A4%95%E0%A5%80+%E0%A4%AA%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B7%E0%A4%BE&source=bl&ots=yuXRAoMWAJ&sig=m_C6DZSkkc8Qdq4NTNZqf-d-DXI&hl=en&sa=X&ved=0ahUKEwjh16-ngPTUAhUFMI8KHZdSCkk4ChDoAQhDMAY#v=onepage&q=%E0%A4%B2%E0%A5%8B%E0%A4%95%E0%A4%A4%E0%A4%82%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0%20%E0%A4%95%E0%A5%80%20%E0%A4%AA%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B7%E0%A4%BE&f=false

[9] वही

[10] राजनीति विज्ञान, एडी आशीर्वादाम् - कृष्णकांत मिश्र, पृष्ठ संख्या – 602-603

[11] वही

[12] दुष्यन्त कुमार रचनावली भाग-4, सं. विजय बहादुर सिंह, पृष्ठ 476-477

[13] साहित्यिक विधाओं की प्रवृत्ति, देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ संख्या – 12, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

[14] प्रेमचंद का चिन्तन, सं. नन्दकिशोर आचार्य, पृष्ठ संख्या - 152,153,163

[15] तार सप्तक के कवियों की समाज चेतना

[16] रघुवीर सहाय रचनावली, भाग – 3, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 107

[17] फिलहाल, अशोक वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 123

[18] हमारी समस्याएँ और उनका हल, नेहरू, पृष्ठ संख्या - 4

[19] संसदीय लोकतंत्र का इतिहास, सुभाष कश्यप, भूमिका

[20] जवाहरलाल नेहरू स्पीचेज़, 1949-1953,1954 पृष्ठ - 3,4,5,6

[21] यह पांच चरण थे - "एक, कमेटियों को मूल प्रश्नों पर रिपोर्टें तैयार करनी थीं; दूसरा, संवैधानिक सलाहकार बी.एन,राऊ, ने इन आरंभिक रिपोर्टों तथा दूसरे देशों के संविधानों में शोध करके एक कामकाजी दस्तावेज का मसविदा तैयार किया; तीसरा, डॉ. आंबेडकर की अध्यक्षता में संविधान का एक मसविदा तैयार किया गया, जिसे जनता के बीच बहस और टिप्पणियों के लिए प्रसारित किया गया; चौथा, मसविदे पर बहस हुई और संशोधन प्रस्तावित किये गए; और अंतिम, संविधान स्वीकृत किया गया ।" आज़ादी के बाद का भारत (1947-2000) बिपिन चंद्र, पृष्ठ - 53

[22] पहले लोगों को केवल संपत्ति व शिक्षा के आधार पर ही मत देने का अधिकार था । 1935 एक्ट के अनुसार मात्र 14 प्रतिशत लोग ही मत देने के लिए अधिकृत थे ।

[23] लेटर्स टू चीफ़ मिनिस्टर्स, 1947-1964, जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ 418 (पत्र दिनांक 15 जून1951) 1986, खंड 2 (1950-1952), दिल्ली ।

[24] जवाहरलाल नेहरू स्पीचेज़ खंड 2, 1949-1953, 1954, (1963 का संस्करण), पृष्ठ 11-16

[25] जयप्रकाश, पृष्ठ संख्या - 570

[26] Elections and Political Development, Dr. Norman D. Palmer, Edition–1976, Vikas Publishing House, Delhi. स्वातंत्रयोत्तर कविता में राजनीतिक चेतना, गुणमाला नवलखा, पृष्ठ संख्या - 28 पर उद्धृत

[27] वही

[28] हमारी समस्याएँ और उनका हल, नेहरू, पृष्ठ संख्या - 4

[29] संसदीय लोकतंत्र का इतिहास, सुभाष कश्यप, पृष्ठ संख्या - 173

[30] संसदीय लोकतंत्र का इतिहास, डॉ. सुभाष कश्यप, पृष्ठ संख्या – 183 से उद्धृत

[31] वही, पृष्ठ संख्या - 187

[32] वही, पृष्ठ संख्या - 187

[33] वही, पृष्ठ संख्या - 211

[34] आर्थिक आयोजन और प्रगति, डॉ. सोहनराज मोहणेत, पृष्ठ संख्या - 23

[35] प्रथम पंचवर्षीय योजना (मई - 1954), पृष्ठ संख्या - 3

[36] भारतीय विदेश नीति, यू.आर.घई, पृष्ठ - 363

[37] मुक्तिबोध रचनावली, भाग- 4, सं. नेमिचंद्र जैन, पृष्ठ संख्या- 154

[38] स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी कविता, डॉ. गोविन्द रजनीश, पृष्ठ संख्या- 241

[39] आलोचना के हाशिये पर साहित्य की बीसवीं शताब्दी, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ - 95

[40] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 66

[41] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 10

[42] स्वातंत्रयोत्तर कविता में राजनीतिक चेतना, गुणमाला नवलखा, पृष्ठ संख्या - 228 पर उद्धृत

[43] साठोत्तरी कविता, सं. सलिल शुक्ल, पृष्ठ संख्या - 8

[44] प्रतिनिधि कविताएँ, मुक्तिबोध, पृष्ठ संख्या - 141

[45] 'कल्पना' मार्च – 1974, धनञ्जय वर्मा, पृष्ठ संख्या - 24

[46] भारतीय विदेश नीति, यू.आर. घई, पृष्ठ संख्या - 264

[47] पंचशील के उदय पर नेहरू ने कहा कि "हरेक मुल्क को दूसरे की ऐसी कोशिश की हमदर्दी और दोस्ताना समझदारी के साथ और बिना किसी दखलअंदाजी या दबाव की निगाह से ही देखना चाहिए ।...यह एक ईमानदारी की नीति है जो कि दूसरे मुल्कों के साथ ख़ास सद्भावना और भाईचारे पर आधारित है ।"- नेहरू : व्यक्तित्व और विचार, सं. बनारसीदास चतुर्वेदी, पृष्ठ संख्या - 539

[48] वही, पृष्ठ संख्या - 554

[49] चिंतन के क्षण, पृष्ठ संख्या - 118

[50] टूटी छूटी कड़ियाँ, हरिवंश राय बच्चन, पृष्ठ संख्या - 113

[51] चुका भी हूँ मैं नहीं, शमशेर बहादुर सिंह, पृष्ठ संख्या-40

[52] परशुराम की प्रतीक्षा, रामधारी सिंह 'दिनकर', पृष्ठ संख्या - 7

[53] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 104

[54] आज़ादी के बाद का भारत, बिपिन चन्द्र - पृष्ठ संख्या -302

[55] वही, पृष्ठ संख्या - 304

[56] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 106

[57] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 107

[58] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 107

[59] आज़ादी के बाद का भारत (1947-2000), बिपिन चन्द्र, पृष्ठ- संख्या - 561

[60] आज़ादी के बाद का भारत (1947-2000), बिपिन चन्द्र,पृष्ठ संख्या - 311

[61] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 126

[62] प्रतिनिधि कविताएँ : नागार्जुन, सं. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या - 117

[63] स्टेट्समैन, 10 अप्रैल 1974 में उद्धृत, फैंसिन आर. फ्रैंकेल, इंडियाज़ पोलिटिकल इकॉनमी, 1947-77, दिल्ली, 1978, पृष्ठ संख्या - 518, आज़ादी के बाद का भारत से उद्धृत

[64] इंदर मल्होत्रा, इंदिरा गांधी, लंदन,1989, पृष्ठ 165 में उद्धृत

[65] आज़ादी के बाद का भारत से, पृष्ठ संख्या - 338

[66] नागार्जुन रचनावली, भाग - 2, पृष्ठ संख्या - 96

[67] हरिशंकर परसाई, विकलांग श्रद्धा का दौर, कैफियत

[68] नागार्जुन रचनावली, भाग - 2, पृष्ठ संख्या - 81

[69] स्वराज से लोकनायक, रामगोपाल दीक्षित, पृष्ठ संख्या - 640

[70] कुछ लम्बी कविताएँ, धर्मवीर भारती, पृष्ठ संख्या – 17, द्वितीय संस्करण – 2002, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

[71] विचारधारा और साहित्य, पृष्ठ संख्या - 118

[72] नॉवेल एंड द पीपल, रैल्फ फॉक्स, पृष्ठ संख्या - 13

[73] दिनकर रचनावली, भाग-1, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 276-277

[74] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 100-101

[75] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 86

[76] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 100

[77] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 10

[78] भँवर, लहरें और तरंग, पृष्ठ संख्या - 13-14

[79] कवितायें- दो, सर्वेश्वर, पृष्ठ संख्या - 199-200

[80] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 85

[81] जनान्तिक, नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ संख्या - 14

[82] शाश्वती, अज्ञेय, पृष्ठ संख्या - 84

[83] शाश्वती, अज्ञेय, पृष्ठ संख्या - 85

[84] शाश्वती, अज्ञेय, पृष्ठ संख्या - 22

[85] स्रोत और सेतु, अज्ञेय, पृष्ठ संख्या - 18-19

[86] नागार्जुन रचनावली, भाग - 1, पृष्ठ संख्या - 399

[87] साहित्य के सरोकार, विद्यानिवास मिश्र, सं. गिरीश्वर मिश्र, पृष्ठ संख्या -18

[88] जंगल का दर्द, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना,पृष्ठ संख्या- 48

[89] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 28

[90] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 78

[91]साखी, विजयदेवनारायण साही, पृष्ठ संख्या - 148

[92] कवितायें- दो, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृष्ठ संख्या - 133

[93] लिखने का कारण, पृष्ठ संख्या - 151

[94] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 54

[95] कवितायें- दो, सर्वेश्वर, पृष्ठ संख्या - 59

[96] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 59

[97] अंतस्तल का पूरा विप्लव : अँधेरे में, सं. निर्मला जैन, पृष्ठ संख्या - 145

[98] अकाल में सारस, केदारनाथ सिंह, पृष्ठ संख्या -102

[99] प्रतिनिधि कविताएँ : नागार्जुन, सं. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या - 104

अध्याय – दो

रघुवीर सहाय की कविता में जनतंत्र

अध्याय – दो

रघुवीर सहाय की कविता में जनतंत्र

2.1 जनतंत्र पर मंडराते ख़तरे की प्रतिध्वनियाँ और रघुवीर सहाय का काव्य

2.2 स्वतंत्रता बोध की वास्तविक अभिव्यक्ति और रघुवीर सहाय का काव्य

2.3 रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा और शिल्प

अध्याय - दो

रघुवीर सहाय की कविता में जनतंत्र

जनतंत्र अर्थात् जनता का तंत्र । एक ऐसी व्यवस्था जिसमें जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन किया जाता है । व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता, समान अधिकार, बंधुत्व, न्याय जनतांत्रिक व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं । जनतांत्रिक व्यवस्था एक ऐसी शासन व्यवस्था है जहाँ देश के प्रत्येक नागरिक को रोटी, कपड़ा और मकान मुहैया करवाने की ज़िम्मेदारी जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों की होती है। भारत के संविधान की प्रस्तावना इस बात का प्रमाण है कि देश की मूल प्रकृति संप्रभुता, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतान्त्रिक/गणतांत्रिक व्यवस्था को सुनिश्चित करती है । इसके साथ ही प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय का अधिकार देना भी भारत के संविधान की उद्देशिका में उल्लिखित है। प्रस्तावना में लिखा है - "हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व संपन्न, समाजवादी, धर्म निरपेक्ष, लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए और इसके समस्त नागरिकों को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, धर्म, विश्वास व उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखंडता सुनिश्चित करने वाला, बंधुत्व बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्पित होकर अपनी इस संविधान सभा में आज दिनांक 26 नवम्बर 1949 को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"[1]

ऐसे भारत देश से - जिसका संविधान, जिसका कानून, जिसकी शासन प्रणाली व जनतांत्रिक व्यवस्था अपने देश के प्रत्येक नागरिक को समान मानती हो और समान अधिकार देने के लिए वचनबद्ध हो - निश्चित ही अपेक्षाएँ होना स्वाभाविक है। साथ ही जब वर्षों की प्रतीक्षा के बाद भी जीने के लिए आवश्यक मूलभूत सुविधाएँ न मिलें तो मोहभंग होना भी स्वाभाविक है ।

रघुवीर सहाय की कविता में जिस 'जनतंत्र' की झलक मिलती है वह उनकी इस व्यवस्था से हुए मोहभंग का ही परिणाम है।

रघुवीर सहाय का स्थान उन रचनाकारों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जो स्वातंत्रयोत्तर भारत में दृष्टिगत होने वाली विविध समस्याओं के प्रति सजग और जीवन यथार्थ के प्रति सचेत रहे। उनका रचनाकर्म स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ आरम्भ हुआ जिसके प्रभावस्वरूप उनकी आरंभिक रचनाओं में आस्था, विश्वास झलकता है। किन्तु, साथ ही सामान्य जीवन और ऐतिहासिक घटनाक्रम में उपेक्षित आम जन की स्थिति पर भी उनकी दृष्टि सदैव लगी रही है। वह अपने लेखन के आरंभिक दिनों में नेहरू युगीन 'आशावाद' से प्रभावित होते हुए भी युगीन संकटों और समस्याओं से अनजान नहीं थे। युगीन असंगतियों की समझ, यथार्थ के साथ गहन सम्पृक्ति, सहज और सामान्य से जुड़ाव, उनकी स्थितियों के प्रति जागरूकता, राजनीतिक उथल-पुथल के बीच पिसते सर्व साधारण के जीवन की कटु वास्तविकताओं को रघुवीर सहाय ने देखा, न केवल देखा अपितु उसे बिना तोड़े-मरोड़े अपनी कविताओं में अभिव्यक्ति दी। जिस आदर्श भारत का स्वप्न हमारे संविधान निर्माताओं और देश के लोगों ने देखा उस आदर्श की कितनी अनुपालना हुई और व्यवहार में वह शासन कितना आया ? यह प्रश्न उस रघुवीर सहाय को जन्म देता है जो अपने आरंभिक आशावाद से अलग हटकर साठ के बाद के भारत के मानव विरोधी स्वरूप पर दृष्टिपात करता है। जो मोहभंग होने पर पाखंडी लोगों, असमानतामूलक समाज व्यवस्था, अपना अर्थ खोती जनतांत्रिक व्यवस्था का वास्तविक चेहरा सामने लाता है। जो मानव जीवन के विविध पक्षों को न सिर्फ जानता है बल्कि सम्पूर्णता में - यथारूप - व्यक्त करता है। जिस भारतीय समाज व्यवस्था में 'जन' निरंतर पिस रहा है, खंडित हो रहा है, अपना ही 'तंत्र' अर्थात् 'जनतंत्र' होने के बावजूद - उस स्वतंत्र भारत की उन स्थितियों की पहचान रघुवीर सहाय करते हैं जो जनतांत्रिक व्यवस्था को विकृत कर रही हैं। जिनमें एक आम आदमी का सामान्य जीवन जीना भी असंभव हो गया है।

ऐसी मानव विरोधी स्थितियों के लिए रघुवीर सहाय उस जनतांत्रिक व्यवस्था को ज़िम्मेदार ठहराते हैं जिसमें अव्यवस्था, विसंगतियों का बोलबाला है। हमारे समाज में गहराई से पैठ चुकी राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं को अपनी कविता में व्यक्त कर वह उस स्वाधीन भारत

का चित्रण करते हैं जहाँ जनतांत्रिक/लोकतांत्रिक व्यवस्था चरमरायी हुई है । किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था वास्तव में उतनी खंडित, उतनी चरमराई हुई है जितनी कवि की कविताओं में दिखाई देती है ? क्या स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ ? क्या कवि के मोहभंग का कारण जनतांत्रिक व्यवस्था की असफलता मात्र है ? इस अध्याय के अंतर्गत इसी पर चर्चा विविध शीर्षकों के अंतर्गत की जाएगी ।

2.1 जनतंत्र पर मंडराते ख़तरे की प्रतिध्वनियाँ और रघुवीर सहाय का काव्य

वास्तव में रघुवीर सहाय की कविताएँ उन स्वप्नों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो खंडित हैं, जो पूर्ण नहीं हुए । जनता की अपूर्ण अपेक्षाओं और अपनी 'जन' केन्द्रित दृष्टि के कारण 'जनतंत्र' के लिए ख़तरा बन चुकी स्थितियों की प्रतिध्वनियों को उन्होंने पहचाना और अपनी कविता के माध्यम से अभिव्यक्ति देना प्रारंभ किया । संसदीय व्यवस्था जब अपने आदर्श स्वरूप को स्थापित करने में विफल होती दिखाई दी, जब जनतंत्र में से 'जन' ही उपेक्षित होने लगा तब समाज के इस सचेत कवि की कविताओं में इस जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रति आलोचना का भाव दृष्टिगोचर होने लगा । स्वप्नों, अपेक्षाओं के टूटने की पीड़ा का परिणाम यह हुआ कि एक आम व्यक्ति की भाँति कवि की दृष्टि उन बिन्दुओं पर जा टिकी जो देश के सामान्य जन के लिए नकारात्मक/पीड़ादायक थे । रघुवीर सहाय ने देखा कि यह वह संसदीय व्यवस्था है जहाँ 'जनतंत्र' केवल 'मत देने वाले तंत्र' तक सिमट कर रह गया है । उम्मीद, आस्था, विश्वास के विपरीत हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था बन गयी है जहाँ उस व्यक्ति का शोषण हो रहा है जो अप्रत्यक्षतः सर्वस्व है । यह वह व्यक्ति है जिसके लिए, जिसके द्वारा यह जनतांत्रिक व्यवस्था संचालित होती है । किन्तु क्या सत्य यही है ? क्योंकि हमारे समाज में घटित होने वाली घटनाएँ आम जन की बिगड़ती जीवन स्थितियों का, जनतांत्रिक व्यवस्था के असफलता की ओर उन्मुखता का पुख़्ता प्रमाण प्रस्तुत करती हैं । समय चाहे बीसवीं सदी के अंत का हो या इक्कीसवीं सदी के आरम्भ का, सामाजिक-राजनीतिक स्थितियाँ यथारूप हैं या यह कहना ज़्यादा संगत होगा कि निरंतर और बिगड़ रही हैं । साम्प्रदायिकता, जातिगत भेदभाव, स्त्रियों की दशा, भाषा का बिगड़ता स्वरूप, धीमी गति से

चलती न्याय व्यवस्था, मीडिया आदि आज जिस रूप में हमारे सामने है वह निश्चित ही अपेक्षित रूप नहीं है। धर्म, जाति, वर्ण, लिंग, भाषा आदि के आधार पर भेदभाव न करने, प्रत्येक देशवासी को क़ानून के समक्ष समान मानने का दम भरने वाले इस देश की संसद, तंत्र, प्रशासन, मीडिया आदि को जब अपनी ज़िम्मेदारी पूरी करने में असफल होते हुए रघुवीर सहाय देखते हैं तो असंतुष्टि का भाव उनमें उपजता है। यही असंतुष्टि उनकी कविता को तल्ख़ बनाती है और धर्म, जाति, सम्प्रदाय, लिंग आदि के आधार पर होने वाले भेदभाव, आम जन की विवशता, शोषण, शासनतंत्र, मीडिया, भाषा की भूमिका पर वह कड़ा प्रहार करते हैं।

हमारा 'जनतंत्र' जिस समानता की बात करता है, जिस जनता के लिए बनाया गया है, जिस सर्वसाधारण के मौलिक अधिकारों, न्याय व्यवस्था, सुरक्षा को सुनिश्चित करता है उसी सर्वसाधारण की वास्तविक स्थिति का, अन्याय और दमन का दंश झेलते आम लोगों की बेबसी और पीड़ा का चित्रण रघुवीर सहाय की कविताओं में हुआ है। उनकी अनेक कविताएँ भारतीय जनतान्त्रिक व्यवस्था का पर्दाफ़ाश करती हैं। 'रघुवीर सहाय की कविता में जनतंत्र' जनतंत्र के उस पक्ष का प्रामाणिक दस्तावेज़ कहा जा सकता है जहाँ अव्यवस्था का बोलबाला है।

अपनी आरंभिक रचनाओं में रघुवीर सहाय आज़ादी मिलने की ख़ुशी में मुग्ध और नेहरू युग के मोह में मोहित दिखाई देते हैं। उनकी विषय वस्तु में परिवर्तन वहाँ से दिखाई देता है जहाँ स्वतंत्रता के एक दशक बीत जाने पर भी सामान्य जनता के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं दीख पड़ता। अपने रचनाकर्म का आरम्भ रोमानी कविताओं से करने वाले, नेहरू युग के मोह में आविष्ट रहने वाले रघुवीर सहाय जब 1960 के आसपास के युग सत्य को और जटिल होता देखते हैं तो 'नयी कविता' की सीमाओं से बाहर निकल कर 'सत्य' का यथारूप चित्रण करने लगते हैं। 'नयी कविता' दौर में भी रघुवीर सहाय में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ आकार लेती दिखाई देती हैं। समाज की असंगतियों से अनभिज्ञ वह नहीं दीखते। फिर भी उनकी आरंभिक कविताओं में आशा की किरण दिखलाई पड़ती है जिसके कारण जीवन विरोधी स्थितियों की पहचान कर उन्हें तोड़ने की आस्था या भावना उनमें मिलती है। वह लिखते हैं :-

"तोड़ो तोड़ो तोड़ो
ये पत्थर ये चट्टानें

ये झूठे बंधन टूटें
तो धरती को हम जानें
सुनते हैं मिट्टी रस है जिससे उगती दूब है
अपने मन के मैदानों पर व्यापी कैसी ऊब है ।"[2]

-'तोड़ो'

किन्तु शीघ्र ही जहाँ एक ओर साधारण जन की प्रतिष्ठा का बीड़ा उठाकर चलने वाली नयी कविता जीवन यथार्थ से विलग होती हुई और सैद्धांतिक बहसों में फँसती हुई दिखाई देती है वहीं दूसरी ओर प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं और विकास की अन्य परियोजनाओं की असफलता जन साधारण को 'मोहभंग' की ओर ले जाती है । उस पर 1962 के भारत-चीन युद्ध में भारत की हार 'नेहरू युगीन' सम्मोहन को तोड़ने और 'मोहभंग' की स्थिति को और मजबूत बनाने में प्रमुख भूमिका निभाती है । इस 'मोहभंग' की स्थिति को पहचान कर रघुवीर सहाय भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर करारी चोट करते हुए लिखते हैं :-

"बीस बरस बीत गए
लालसा मनुष्य की तिल तिल कर मिट गयी
टूटते टूटते जिस जगह पर आकर विश्वास हो जाएगा कि
बीस साल
धोखा दिया गया
वहीं मुझे फिर कहा जाएगा विश्वास करने को
पूछेगा संसद में भोला भाला मंत्री
मामला बताओ हम कारवाई करेंगे
हाय हाय करता हुआ हाँ-हाँ करता हुआ
दल का दल पाप छिपा रखने के लिए एकजुट होगा
जितना बड़ा दल होगा उतना ही खाएगा देश को ।"[3]

-'एक अधेड़ भारतीय आत्मा'

जिस राजनीतिक स्थिति का बयान इस कविता में हुआ है वह हमारे देश की शासन व्यवस्था का वह रूप है जिसे परदे में रखने का हर संभव प्रयास यहाँ किया जाता है। रघुवीर सहाय की ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिनमें राजनीतिक चेतना की ध्वनि, व्यवस्था का विरोध साफ़ सुनाई देता है। शायद इसीलिए उनकी कविता को राजनीतिक कविता भी कह दिया जाता है। किन्तु इस सन्दर्भ में डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के लेख 'हत्या के विरुद्ध एक कविता' का यह कथन अवलोकनीय है "रघुवीर सहाय की कविता को राजनीतिक कविता कहा गया है। पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि उनकी कविताओं में किसी ख़ास राजनीतिक मतवाद की गंध नहीं मिलती। वे न तो किसी दल का समर्थन करती हैं न किसी वाद का प्रचार। वे केवल आज के भ्रष्ट राजनीतिक तंत्र में जीते-मरते आदमी की पीड़ा का चित्रण करती हैं। यही रघुवीर सहाय की कविता की असली ज़मीन है।"[4] उनके काव्य संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' और 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो' की कविताएँ विकृत राजनीति और असंगठित व्यवस्था की ओर पाठक का ध्यान ले जाती हैं। इनमें 'जनतंत्र' का वह रूप दिखाई देता है जहाँ 'जन' की स्थिति टस से मस नहीं हुई है। जहाँ 'जनतंत्र' जनता का तंत्र न होकर कुछ विशेष लोगों की थाती बनकर रह गया है। जहाँ सामान्य जन की भागीदारी का आश्वासन झूठा पड़ चुका है। ऐसे तंत्र के लिए रघुवीर सहाय उस राजनैतिक तंत्र को ज़िम्मेदार मानते हैं जिन्होंने 'लोकतंत्र' जैसे विचार को प्रभाव में लाने से पूर्व उचित विमर्श नहीं किया। फलस्वरूप यह जनतांत्रिक व्यवस्था असमानता, शोषण को प्रश्रय देने वाली खोखली व्यवस्था बन कर रह गई। ऐसी व्यवस्था जहाँ मनुष्य के स्थान पर कुर्सी के लिए संघर्ष करना राजनीतिकों का परम धर्म हो गया। जहाँ मनुष्य की चिंता प्राथमिकता सूची में अंतिम स्थान पर चली गई और जन-प्रतिनिधियों की सम्पूर्ण ताकत सत्ता की जोड़-तोड़ करने में लग गई।

वास्तव में रघुवीर सहाय की कविताएँ जनतंत्र और राजनीति के उन पहलुओं पर कटाक्ष करती हैं जिनकी निर्मिती जन सामान्य की समृद्धि और विकास हेतु हुई थी किन्तु परिणति पतन की ओर ले गई। आज़ादी के बाद बीते दो दशकों पर अपना मत रखते हुए रघुवीर सहाय ने अपने एक लेख में कहा था कि "मैं जानता हूँ कि 1947 से 1967 के बीस वर्ष की राजनीतिक सत्ता किस तरह से केन्द्राभिमुख, दिशाहीन और गद्दीवादी हुई है और यह भी जानता हूँ कि राजनीतिक तन्त्र, संविधान, मंत्रिमंडल, संसद और राजनीतिक दलों ने शुद्ध सत्तापरक कारणों से किस प्रकार असली

जीवनदायी कार्यों से पलायन किया है ।"[5] वस्तुतः जिस 'सपनों के भारत'[6] की कल्पना गाँधी जी ने की और उनके साथ प्रत्येक देशवासी ने की, उन सभी की कल्पना के विपरीत भारत में शोषण, असमानता, अशिक्षा, अस्पृश्यता, दरिद्रता, भुखमरी, वैमनस्य, विद्वेष,(धार्मिक), अनास्था, अविश्वास की निरंतर वृद्धि हुई । भारतीय राजनीतिक दृष्टि मूल मुद्दों से हटकर निजी स्वार्थों की पूर्ति पर केन्द्रित हो गई । जनतांत्रिक व्यवस्था कुछ विशिष्ट लोगों की समृद्धि का आधार बन गई । इन जनतांत्रिक मान्यताओं के ध्वस्त होने, लोकतान्त्रिक मूल्यहीनता के बढ़ने, जन प्रतिनिधियों के अनपेक्षित व्यवहार, मानव-विरोधी राजनैतिक स्थितियों से उपजे भय, आतंक और असहायता को रघुवीर सहाय की कविताओं के रूप में आकार मिला है । जनतान्त्रिक विसंगतियों को उनकी अनेक कविताओं में देखा जा सकता है :-

"राजा मरेगा बजेगा इतिहास में नगाड़ा
पर यहाँ कुछ भी सुनाई न देगा मैदान में
सचिव जी देंगें जब लिखकर सूचना
कहेंगे कि तोता गुज़र गया हमारी जान में ।"[7]

-'लोकतंत्रीय मृत्यु'

इस कविता में उस परिवेश का चित्रण है जहाँ कुछ पता नहीं चलता, कुछ सुनाई नहीं देता और लोकतान्त्रिक मूल्यों की मृत्यु हो जाती है । उनके कविता संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' में ऐसी अनेक कविताएँ हैं जो इस जनतंत्र में व्याप्त अराजकता को प्रखरता से चरितार्थ करती हैं । जनतांत्रिक व्यवस्था को सुचारू रूपेण चलाने के लिए ज़िम्मेदार संस्था 'संसद' का वह चित्र रघुवीर सहाय खींचते हैं जो हास्यास्पद है, दुःखदायी है । देश के प्रतिनिधियों द्वारा किए जाने वाले ग़ैरज़िम्मेदाराना व्यवहार का वह प्रमाण है जो 'जनतंत्र' के लिए सबसे बड़ा ख़तरा है :-

"सेना का नाम सुन देशप्रेम के मारे
मेजें बजाते हैं
सभासद भद भद भद कोई नहीं हो सकती
राष्ट्र की

संसद एक मंदिर है जहाँ किसी को द्रोही कहा नहीं जा सकता
दूध पिये मुँहपोंछे आ बैठे जीवनदानी गोंद-
दानी सदस्य तोंद सम्मुख धर
बोले कविता में देशप्रेम लाना हरियाना प्रेम लाना
आइसक्रीम लाना है ।"[8]

-'फ़िल्म के बाद चीख़'

देश की व्यवस्था को चलाने वालों की ओछी हरकतें, निम्न बौद्धिक स्तर, संसद जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था की गतिविधियों में अरूचि, नकारात्मक हस्तक्षेप, अनपेक्षित तुच्छ टिप्पणियाँ, मूल्यह्रास जनतंत्र पर मंडराते ख़तरे की वह प्रतिध्वनियाँ हैं जिनके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाना आज की अनिवार्यता हो गई है । इस पर वह लिखते हैं :-

"एक बार जान-बूझ कर चीख़ना होगा
ज़िन्दा रहने के लिए
दर्शक दीर्घा में से
रंगीन फ़िल्म की घटिया कहानी की
सस्ती शायरी के शेर
संसद-सदस्यों से सुन
चुकने के बाद ।"[9]

-'फ़िल्म के बाद चीख़'

उनके काव्य-संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं के सन्दर्भ में डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव की टिप्पणी है कि "भारतीय स्वाधीनता के बीस वर्षों का व्यंग्य इस संग्रह की कविताओं में कितनी ही बार उभरता है और व्यापक मूल्यहीनता के प्रति एक गहरा विक्षोभ पैदा करता है । 'लोकतंत्र' जहाँ केवल शब्द है - ऐसे 'परिवेश' के निर्मम व्याख्याता हैं - रघुवीर सहाय ।"[10] रघुवीर सहाय की कविताओं के इस तेवर का कारण उनकी वह चैतन्य दृष्टि है जो हर सामाजिक-राजनीतिक विद्रूपता पर पैनी नज़र रखती है । जनतंत्र से सम्बद्ध अन्य विविध सरोकारों यथा शिक्षा, व्यवस्था, रोज़गार, न्याय, भाषा आदि का भी वास्तविक रूप में अपने इस और अन्य काव्य-संग्रहों की

कविताओं में उन्होंने चित्रण किया है । अशोक वाजपेयी का कहना है कि "वह ऐसे युवा कवि की रचना है जो अपने इस ख़ास प्रजातंत्र के ख़ास मोड़ पर अपनी आँखें खोले पूरे साहस से अपनी कविता में हमारी दुनिया को देख रहा है, छटपटा रहा है ।"[11] इसी छटपटाहट के चलते राजनैतिक विसंगतियों और जननेताओं के पाखण्ड को सामने लाते हुए वह लिखते हैं कि:-

"सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हलकी सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष ।"[12]

-'मेरा प्रतिनिधि'

राजनेताओं और जनप्रतिनिधियों का संवेदनहीन रवैया, पाखण्ड, मानव-विरोधी चेहरा इसी कविता की अगली पंक्तियों में और साफ़ होकर सामने आता है :-

"सुनो, वहाँ कहता है
मेरा प्रतिनिधि
मेरी हत्या की करुण कथा
हँसती है सभा
तोंद मटका
ठठाकर
अकेले अपराजित सदस्य की व्यथा पर
फिर मेरी मृत्यु से डरकर चिंचिया कर
कहती है
अशिव है, अशेमन है, मिथ्या है ।"[13]

-'मेरा प्रतिनिधि'

राजनीतिक व्यवस्था पर प्रहार करते हुए रघुवीर सहाय अपनी कविताओं में जनतांत्रिक व्यवस्था वाले इस देश में आतंक, दहशत, भय, हिंसा के माहौल का चित्रण करते हैं । यह ऐसी स्थितियाँ हैं जिनका जनतांत्रिक देश में कोई स्थान नहीं होना चाहिए किन्तु सत्य 'रामदास', सड़क पार करने को घंटों इंतज़ार करते बूढ़े, बच्चे, आधा पेट खाकर जीने को विवश निरंतर कायर बनता मनुष्य है । 'जनता के तंत्र' का चोला पहने, 'जनतंत्र' को सर्वस्व मानने वाले इस देश में क्रूरता, शोषण, हिंसा लगातार अपने पाँव पसार रही है । आम आदमी को असहाय, कायर बना रही है जिससे विरोध की एक चिंगारी भी न जल सके । चुपचाप इस आतंक, दहशत, हिंसा को सहने की विवशता बड़ी होती लड़की में, रामदास में, दयावती में, रामगुलाम में दिखाई देती है :-

"वही बड़ी होगी
डरी और दुबली रहेगी
और मैं न होऊंगा
वे किताबें, वे उम्मीदें न होंगी
जो उसके बचपन में थीं
कविता न होगी, साहस न होगा
एक और ही युगल होगा जिसमें ताकत ही ताकत होगी
और चीख़ न होगी ।"[14]

-'बड़ी हो रही है लड़की'

इस कविता में जहाँ उन स्थितियों का वर्णन है जिनमें आवाज़ उठाने का सामर्थ्य शनैः शनैः चुक रहा है वहीं रामदास उन लोगों का प्रतिनिधि है जो यह जानते हुए भी कि उन्हें मार दिया जाएगा ; कोई प्रश्न नहीं करते अपितु चुपचाप मरने को उपस्थित होते हैं । 'रामदास' कविता आतंक और दहशत की पराकाष्ठा है । यह उन स्थितियों का दस्तावेज़ है जिनमें आम आदमी के जीवन का कोई मोल नहीं । शोषण के चक्र में वह इतना निर्बल, कायर, विवश हो गया है कि स्वयं मरने को उपस्थित हो जाता है :-

"चौड़ी सड़क गली पतली थी
दिन का समय घनी बदली थी

रामदास उस दिन उदास था
अंत समय आ गया पास था
उसे बता यह दिया गया था
उसकी हत्या होगी"[15]

-'रामदास'

अपने देश, अपने समाज में आतंक के साए में जीवन जीता एक आम आदमी किस हद तक विवश है, कितना शोषित है यह 'रामदास' कविता में स्पष्टतः दृष्टिगोचर है। इस कविता पर विचार रखते हुए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का कहना है कि "रघुवीर सहाय की 'रामदास' कविता आज की उस क्रूर अमानवीय स्थिति को नंगे चित्र की तरह सामने रख देती है जिसमें हत्या जैसी असाधारण और भयानक घटना भी एक अत्यन्त सहज कर्म हो गयी है। इस कविता की पंक्तियाँ मंद गति से आगे बढ़ती हैं जैसे कोई कथा कही जा रही हो। कहीं कोई उत्तेजना, कोई आक्रोश या कोई रुदन नहीं है। कहीं कोई भय या दहशत पैदा करने वाला शब्द नहीं है। सब कुछ कितना सहज है। सब कितने आश्वस्त हैं। दिन के समय बीच सड़क का वाकया है यह !"[16] वहीं लीलाधर जगूड़ी के अनुसार "रोज़-रोज़ थोड़ा-थोड़ा मरते लोगों के झुण्ड में एक जीते-जागते व्यक्ति की विडम्बना का साक्ष्य 'रामदास' कविता में रचा गया है।"[17]

ऐसी हिंसात्मक गतिविधियों में वृद्धि राजनीतिक तंत्र की विफलता का प्रमाण है। जिस देश की व्यवस्था ऐसे राजनीतिकों के हाथ में हो जो स्वयं भ्रष्टाचार, कुर्सीप्रियता के मोह में जनता की समस्याओं की ओर ध्यान देना छोड़ दें, आम जन को वोट बैंक से अधिक कुछ न समझें वहाँ शोषण, हिंसा, हत्या जैसे कृत्यों को रोका नहीं जा सकता। 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'हिंसा', 'हत्या की संस्कृति', 'निर्भय हत्यारे' आदि कविताएँ राजनीतिक विफलता के परिणामस्वरूप इस जनतांत्रिक देश में उपजे शोषण, आतंक, भय, दहशत पर करारा प्रहार करती हैं। उस विडम्बनात्मक सामाजिक संरचना को उद्घाटित करती हैं जिसमें 'हिंसा' खुलकर सामने आती है। हत्यारे निडर होकर, सोच समझकर हत्या को अंजाम देते हैं और सामान्य जन चुपचाप हिंसा के आतंक में जीता है।

रघुवीर सहाय हिंसा का सम्बन्ध केवल खून-ख़राबे, मार-काट, हत्या से ही नहीं जोड़ते अपितु अन्याय, विषमता, लाचार करने, मखौल उड़ाने को भी हिंसा मानते हैं। यदि 'नाम पुकार कर और हाथ तौलकर चाकू मारना' हिंसा है तो निर्धन जनता के शोषण के प्रति उदासीन होकर तथा बेपरवाह होकर हँसना भी हिंसा है। बेरोज़गारी, निर्धनता, भुखमरी से मरने वाले लोगों की गिनती 'पाले में लू से मरने' वालों में करना भी हिंसा है। साथ ही अपने लाभ हेतु इन स्थितियों का बढ़ा-चढ़ा कर किया गया प्रदर्शन भी एक प्रकार की हिंसा ही है क्योंकि ऐसे प्रदर्शन कमज़ोर की हिम्मत तोड़ उसे और कमज़ोर बनाते हैं, आतंक और दहशत को बढ़ावा देते हैं और हर जीता व्यक्ति आतंक के साए में तिल-तिल कर मरता है। अपनी कविता 'निर्भय हत्यारा' में इस दहशत भरे जीवन जीने को विवश सामान्य जन का चित्रण करते हुए 'निर्भय हत्यारा' कविता में वह कहते हैं कि 'हत्यारे मारकर मनुष्य को लाश उसकी रख देते हैं/ सबूत के लिए, अपराध साबित नहीं होता/ और हर व्यक्ति जो जिंदा बचा रहता है/ हत्या के आतंक में पड़ा जीता है।' एक जनतांत्रिक देश में यूँ विवश होकर मृत्यु सम जीना दहशत और आतंक को बढ़ावा देना है। आज स्थितियाँ ऐसी हैं कि यह आतंक, यह दहशत आम आदमी के जीवन का अपरिहार्य अंग बन गया है। किन्तु इससे मुँह मोड़कर, आँखें बंद करके भी कोई हल नहीं निकल सकता है। यही कारण है कि रघुवीर सहाय दहशत को भी ज़रूरी मानते हैं क्योंकि दहशत होने पर कोई न कोई क़दम व्यक्ति अवश्य उठाता है। अनेक प्रतिबन्ध होने पर भी इससे मुक़ाबला करने का प्रयास करता है। दहशत को जीवन का अपरिहार्य अंग मानने का यह बहुत बड़ा कारण है। अपने लेख 'लिखने का कारण' में वह लिखते हैं कि "एक जगह ऐसी आती है जहाँ पर कि दहशत ज़िन्दगी का एक अनिवार्य अनुभव बन जाती है। आप ज़िन्दगी भर मूढ़ नहीं बने रह सकते हैं और आप ज़िन्दगी भर वृथा साहसी भी नहीं बने रह सकते हैं। दोनों को मिलाइएगा तो कहीं एक ऐसी जगह आएगी जहाँ पर यह तनाव मिलेगा कि हम कुछ करना चाह रहे हैं, और कुछ लोग उसको नहीं होने देना चाह रहे हैं और वे लोग इतने ताकतवर हैं कि वे हमें रोकने के लिए किसी भी तरह का तरीका अपना सकते हैं।...इसलिए दहशत होना भी ज़रूरी है।"[18]

वास्तव में भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था का जो रूप रघुवीर सहाय देखते हैं उसे वह वास्तविक लोकतंत्र नहीं मानते क्योंकि, जिस देश में सच्चा लोकतंत्र हो, जहाँ की राजनीतिक

व्यवस्था सही दिशा की ओर अग्रसर हो वहाँ अशिक्षा, जातिवाद, असमानता, दकियानूसी विचार, अहिंसा, दहशत, ग़ुलामी नहीं हो सकती । अपनी कविताओं में रघुवीर सहाय वर्तमान स्थितियों का यथारूप चित्रण कर उस जनतंत्र की ओर हमारा ध्यान ले जाते हैं जो अपेक्षित है क्योंकि, निश्चित ही जनतंत्र का जो रूप हमारे सामने है वह सफल नहीं माना जा सकता । जनतंत्र की सफलता तब मानी जा सकती है जब सामान्य मनुष्य लाचार न हो, 'अधिनायकों और महाबलियों का बाजा बजाने को' विवश न हो, उपलब्धियाँ आँकड़ों तक सीमित न हों, मनुष्य केवल 'मतदाता' न हो । जनतंत्र जनता में भय के स्थान पर आस्था का संचार करे और सामान्य जन केवल मतदान करने और सत्ता का गुणगान करने का यंत्र न हो । रघुवीर सहाय अपनी कविता 'अधिनायक' में उस राजनीतिक व्यवस्था पर प्रहार करते हैं जिस पर जनतांत्रिक व्यवस्था वाले देश को सुचारू रूप से चलाने का दारोमदार है । वह प्रश्न करते हैं कि :-

"राष्ट्रगान में भला कौन वह
भारत भाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका
गुन हरचरना गता है ।
x x x
कौन-कौन है वह जन-गण-मन
अधिनायक वह महाबली
डरा हुआ मन बेमन जिसका
बाजा रोज़ बजाता है ।"[19]

-'अधिनायक'

रघुवीर सहाय राजनीतिक व्यवस्था पर प्रहार करते हैं क्योंकि भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था और राजनीति के प्रति उनमें असंतोष का भाव है । वह ऐसे कवि हैं जो कविता की रचना में और कवि की स्वतंत्रता में असमानता, शोषण, दमन और अत्याचार के विरुद्ध सचेत रहना आवश्यक मानते हैं । यह सचेतता उनकी वाणी को प्रखर बनाती है । उनका मानना है कि यदि 'कलाकार' सचेत न हों तो जाने अनजाने वह अन्याय रूपी यथार्थ स्थिति का समर्थन करते हैं । वह

यथार्थ स्थितियों का प्रस्तुतिकरण मात्र करना अनुचित मानते हैं, उसे 'अभिजात मक्कारी' कहते हैं :-

"यह तो है ही' शुभ चिन्तक यों कहते हैं,
'अपमान, अकेलापन, फ़ाका, बीमारी',
क्यों है ? औ वह सब हम ही क्यों सहते हैं ?
हम ही क्यों यह तकलीफ़ उठाते जायें
दुःख देने वाले दुःख दें और हमारे
उस दुःख के गौरव की कविताएँ गाएँ !
यह है अभिजात तरीक़े की मक्कारी ।"[20]

-'हमने यह देखा'

वर्तमान समाज में व्याप्त अपराध, राजनीति, दमन तंत्र को कवि संगठित होते हुए देखते हैं और उनके विरोध में खड़े लोगों को एकाकी । इसी एकाकी के पास पहुँचना कवि के लिए कविकर्म है । यही कारण है कि यथार्थ के सहज चित्रण करने मात्र का समर्थन वह नहीं करते अपितु भयावह सत्य को उजागर कर संवेदनहीन नियंताओं पर प्रहार करना आवश्यक मानते हैं । वह लिखते हैं :-

"ताकतवर लोग खोजते हैं कमज़ोरों को
हर तरह अस्पताल, झोपड़ी हज़ार वर्ष से
वंचित जाति वर्ग, लाश लुटे लोग
ढहे घर दुआर जिसको वे आश्रय दें और
दूसरी तरफ चित्रकार जो अपने खून से
कागज़ पर उनकी तस्वीरें आँकें
जन के मन भय भरें ।"[21]

-'कैसियस क्ले की हार'

सत्य यह है कि जिस जनतांत्रिक व्यवस्था की अपेक्षा रघुवीर सहाय करते हैं उसमें 'जन के मन भय भरने' वालों के लिए कोई स्थान नहीं है । किन्तु यही यथार्थ की विडम्बना है कि हमारे देश का

आम नागरिक बार-बार विविध 'फ्रंटों' पर मात खाने के बावजूद चेतता नहीं है। अपनी सूक्ष्म दृष्टि को खुली रखकर रघुवीर सहाय यथार्थ से साक्षात्कार करते हैं और पाते हैं कि 'देवीदत्त', 'दयाशंकर', 'देवीदयाल घोषाल', 'अभिनेत्री', 'अधेड़ औरत', 'लड़कियाँ', 'एक कमरे में बंद अपाहिज', 'सड़क पार करता आदमी', 'मरने जाता रामदास' अव्यस्वथा, असमानता, साम्प्रदायिकता, जातिगत भेदभाव, कछुए की चलती न्याय व्यवस्था आदि सामाजिक समस्याओं से प्रतिदिन रू-ब-रू होते हैं। वह छले जाते हैं, खौफ़ के वातावरण में चुपचाप जीते हैं। इस चुप्पी का कारण जनतंत्र पर मंडराते खतरे की वह प्रतिध्वनियाँ हैं जिन्हें रघुवीर सहाय महसूस करते हैं और अभिव्यक्ति देते हैं । इस व्यवस्था की समस्याओं को उजागर करना रघुवीर सहाय अपनी ज़िम्मेदारी मानते हैं क्योंकि समाज की व्यथा को वह अपनी व्यथा मानते हैं । साथ ही उस खौफ़नाक स्थिति से भी वह परिचित हैं जिसमें :-

"कौन आदमी है जो बचा रह जाता है
हर बार जब ताकतवर लोग अपने मन का
संसार रचने को सामूहिक हत्याएँ करते हैं
कौन है जो बचा रहकर फ़िर पहचाना जाता है
और बचा रहता है
कौन है जो बचा तो रहता है
पर उसकी पहचान नहीं हो पाती
और कौन है वह जो जैसे ही पहचाना जाता है
मार दिया जाता है।"[22]

-'चेहरा'

जनसामान्य से रघुवीर सहाय का जो सघन तादात्म्य है उसे देखकर उनकी कविताओं के बारे में 'परमानन्द श्रीवास्तव' लिखते हैं कि "लोग भूल गए हैं कि कविताओं की चिंता तथा समाज की चिंता वहाँ एक हद तक एक दूसरे के लिए पर्याय हो चली है...कि उन्हें रूपवादी या कलावादी कहकर अलग करना मुश्किल है। यह ज़रूर है कि रघुवीर सहाय की समाज-चिंता के अपने रूप हैं, उसे अनुभव करने या जाँचने की अपनी कसौटी है, उसे व्यक्त करने के अपने ढंग हैं । कभी बहुत

सीधे, कभी बेहद जटिल । समाज से संपृक्त और स्थूल सामाजिकता से अलगाव दोनों रघुवीर सहाय को एक साथ कवि कर्म के हित में ज़रूरी लगता है । रघुवीर सहाय अंतर्विरोध के बावजूद अपने ढंग के प्रतिबद्ध कवि हैं ।"[23]

इसी प्रतिबद्धता का यह परिणाम है कि रघुवीर सहाय अपनी कविता में समाज की त्रासद, झकझोर देने वाली भयावह स्थितियों को सामने लाते हैं । 'दुर्भिक्ष नामक उनकी कविता उस सामाजिक सत्य का उद्घाटन करती है जहाँ आदमी 'मनुष्य' नहीं है । जहाँ समस्या उस सामाजिक वातावरण की है जो निरंतर व्यक्ति को आतंकित, भयभीत स्थितियों में रहने को विवश करता है । जहाँ अमानवीयता का बोलबाला है । जहाँ न जाने कब कौन 'देवीदत्त' बना दिया जा सकता है :-

"उसने कहा था यह
मैं शायद पागल हूँ, शायद पागल नहीं
मैंने फिर पूछा पढ़ाई क्यों छोड़ दी?
वह कुछ समझा नहीं
सिर्फ़ कहा अब मैं पढ़ता नहीं
लोग कहते हैं तुमसे नहीं होगा
जाओ कुछ ला दो न ।"[24]

-'दुर्भिक्ष'

मैंने सीधा पिता के पास जाकर पूछा :-

"वह जो था देवीदत्त क्या आप जानते हैं पागल हो गया
और वह बोले हाँ, बहुत होनहार था
उसको खिला देना, उसके कोई नहीं, बस बूढ़ा बाप है
एक के बाद एक विपदा पड़ती गयी, घर नष्ट हो गया ।"[25]

-'दुर्भिक्ष'

यहाँ देवीदत्त उस अमानवीय समाज का हिस्सा है जिसमें होनहार व्यक्ति कब विक्षिप्तावस्था में पहुँच जाता है इसका इल्म ही नहीं होता । इस कठोर, समस्याओं से भरे समाज में व्यक्ति कब

शोषण, अत्याचार का शिकार बन अपना मूल अर्थ खो देता है, कब अमानवीय स्थितियों का ग्रास बन मृत्यु को गले लगा लेता है - इसकी ख़बर तक किसी को नहीं होती। किन्तु कवि की चेतना, उसके सामाजिक सरोकार उसे शोषितों के पक्ष में खड़े रहने को प्रेरित करते हैं। अत्याचार की जगह अत्याचारी को ढूँढ उससे प्रश्न करना चाहते हैं जिससे, समाज में अन्याय व अत्याचार शाश्वत रूप न धारण कर लें। वह तटस्थ भाव से काम करने वाले कलावादियों का भी विरोध करते हैं और कहते हैं :-

"यदि तुम रंगों का हमला रोक सको तो रोको वरना
मत आँको तस्वीरें
कम से कम
विरोध में
और अगर चेहरे गढ़ने हों तो अत्याचारी के चेहरे खोजो
अत्याचार के नहीं।"[26]

-'कैसियस क्ले की हार'

अपनी लेखनी के माध्यम से वह समाज के हर उस पहलू की ओर दृष्टिपात करते हैं जो आम जन-जीवन की कठिनाइयों की वृद्धि का ज़िम्मेदार है। हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था की अशुद्धियों, ग़लत हाथों में देश की बाग़डोर का होना अर्थात् राजनीतिक विसंगतियों, हमारी न्याय व्यवस्था की कमियों के कारण समाज के दमित, ग़रीब, आम आदमी की निरंतर बिगड़ती स्थिति, स्त्रियों की दशा, शिक्षा व्यवस्था के स्वरूप पर वह अपना मत रखते हैं। यथार्थ की वास्तविक अभिव्यक्ति करना वह अपना कर्तव्य समझते हैं किन्तु साथ ही मानते हैं कि "कविता के नए से नए लेकिन तमाम औजारों का उपयोग करने के बाद और भी नए औजारों की तलाश कठिन होती जा रही है। औजारों या उपकरणों से बड़ी समस्या शायद यह है कि इतने बड़े समाज में इतने बड़े पैमाने पर जो यथार्थ घटित हो रहा है, उसे किस तरह समेटा जाए ?...एक ओर आत्म के विस्तार का और दूसरी ओर बाह्य यथार्थ को समेटने का, दोनों काम एक साथ करने का सवाल है कवियों के सामने।"[27]

जिस प्रकार वह राजनीतिक विद्रूप स्थितियों का यथार्थ देख कर आहत हो उस पर प्रहार करते हैं उसी प्रकार सामाजिक स्थितियों पर भी कुठाराघात करते हैं । हमारे आधे संसार यानी स्त्रियों की स्थिति हमारे समाज में क्या है, वह कितनी पीड़ाओं से गुज़रती है, किस भय, किस आतंक में जीने को विवश है - इसका एक प्रमाण यह है कि वह अपनी पहचान को ही छोड़ देना चाहती है । अपने स्त्रीत्व से मुक्ति पाकर उस समाज का हिस्सा बनना चाहती है जो सहज स्वीकृत है । सामाजिक ग़ुलामी की बेड़ियों को तोड़कर वह नारी 'पुरुष' बनने के प्रयास में एक विडंबनात्मक स्थिति में जीती है क्योंकि स्त्री रूप में जन्म लेने के बाद वह जो भी कर ले, कितनी भी समर्थ बन जाए यह समाज पुरुष की बराबरी की उसकी आकाँक्षा को किसी भी प्रकार पूर्ण होने नहीं देगा :-

"वह स्वीकृत वर्ग में शामिल होना चाहती है
और उस वर्ग की लड़कियाँ जो लड़का बनती हैं
उनकी तरह बनने की इसकी कोशिश एक दुःख भरी कोशिश है
क्योंकि वह चेहरा बदलकर
अपने वर्ग का ही लड़का बनेगी ।"[28]

-'चेहरा'

यह वह स्त्री है जो शोषितों की सूची में आगे है । वह नारकीय जीवन जीने को विवश है । स्वाधीनता के इतने वर्ष बीत जाने पर भी समाज में स्त्रियों की दशा चिंताजनक है । स्त्री के अधिकारों को छीन कर, उन्हें प्रतिनिधित्व से अलग करके रसोईघर तक सीमित किया जाना, संपत्ति और शिक्षा के अधिकार से वंचित रखना एक ऐसा षड्यंत्र है जो उन्हें अत्याचार झेलने को विवश करता है । रघुवीर सहाय के काव्य में वह स्त्री दिखाई देती है जिसे संविधान ने समानता का अधिकार दिया है किन्तु पुरुषवादी समाज ने सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक अधिकार नहीं दिए हैं । अपने जीवन सम्बन्धी फैसले लेने के अधिकार से वह वंचित हैं । देश में कई स्थानों पर आज भी बाल-विवाह, कन्या भ्रूण हत्या हो रही है । लिंगानुपात का स्तर चिंताजनक है । सामाजिक भेदभाव कायम है ।

यद्यपि शहरों के कुछ क्षेत्रों में स्त्रियों ने बाहर निकलकर काम करना आरम्भ किया है फिर भी स्थितियाँ बहुत नहीं बदली हैं। क्योंकि राजनैतिक, सामाजिक सत्ता आज भी पुरुष के हाथ में है और स्त्रियों की स्थिति में तब तक कोई प्रशंसनीय परिवर्तन नहीं आ सकता जब तक कि स्त्रियों की तक़दीर लिखने के लिए पुरुषों की भाषा का प्रयोग होता रहेगा। अपने एक निबंध "औरत की देह औरत का देश है" में स्त्रियों के जनतांत्रिक अधिकारों को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं कि "स्त्री के राजनैतिक अधिकार यों तो वही होते हैं जो पुरुष के होते हैं। परन्तु पुरुष के हाथ में इतनी सत्ता केन्द्रित हो गई है कि वह क़ानून, व्यवहार, वाणिज्य-व्यापार और प्रचारतंत्र द्वारा स्त्री का हर समय दमन किया करता है। यह कभी प्रकट होता है, कभी दबा ढँका रहता है - न पुरुष उसे देखना चाहता है, न स्त्री उसे दिखाना चाहती है। पुरुष निर्ममता के कारण और स्त्री भय के कारण। ...औरत को वोट देने का अधिकार देकर हमने लोकतंत्र नहीं बना लिया। औरत का सबसे पहला अधिकार यह बताने का है कि अपनी देह का वह क्या करती है। वही तय कर सकती है कि वह कब और किस पुरुष को देह का संग देगी और वही तय कर सकती है कि वह कब माँ बनेगी।"[29] किन्तु स्वतंत्र भारत में भी स्त्री उन्हीं विडंबनात्मक स्थितियों में जीने को विवश है जहाँ उन्हें घर बसाने, रसोईघर चलाने के यंत्र के अतिरिक्त कुछ नहीं समझा जाता। यही कारण है कि उनकी कविताओं में 'अकेली औरत', 'पागल औरत', 'चालीस के ऊपर की औरत', 'थकी हुई औरत' दिखाई देती है। वह औरत दिखाई देती है जिसके चेहरे पर मुश्किलों की सिकुड़नें हैं और जिसका भविष्य पहले से पुरुषों की भाषा में लिख दिया गया है :-

"थकी हुई औरत के चेहरे की सिकुड़नें
किसी एक परिवार की लम्बी मुश्किलों की
आड़ी सतरें हैं
उनकी लिखावट कुछ अलग दूसरों से है
क्योंकि परिवार के पुरखों ने अलग-अलग
भाषाएँ लिख दी हैं।"[30]

-'चेहरे की सिकुड़नें'

कष्टों, कुदृष्टि के झंझावात झेलती इस स्त्री के प्रति रघुवीर सहाय आदर का भाव रखते हैं और उन सन्दर्भों की जाँच करना अपेक्षित मानते हैं जो इस निष्ठुर समाज में कहीं छूट गए हैं। वह स्त्री को पूजनीय देवी या दया करुणा की वस्तु बनाने के स्थान पर उसे सामाजिक-राजनैतिक अधिकारों से युक्त स्वतंत्र 'व्यक्ति' के रूप में स्थापित देखना चाहते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि उसे शिक्षित किया जाए। एक सुरक्षित समाज दिया जाए। आत्मनिर्भर बनाया जाए। बोझ या भोग की वस्तु न समझा जाए। उन्हें उनके व्यक्तित्व के विकास की आज़ादी दी जाए ताकि उम्र के बदलते पड़ावों के साथ उसे अपमानित न होना पड़े। ताकि किसी कोठरी से आती चीख़ किसी स्त्री के जीवन की कथा न बने :-

"कई कोठरियाँ थीं क़तार में
उनमें किसी में एक औरत ले जाई गयी
थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया
उसी रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा
उसके बचपन से जवानी तक की कथा।"[31]

-'औरत की ज़िन्दगी'

रघुवीर सहाय की कविता में जो नारी है वह समाज की दमित, शोषित स्त्री अवश्य है किन्तु कवि के मन में उस स्त्री को पीड़ा से मुक्त देखने की चाहत भी है। उसके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव है :-

"तब मैंने देखा कि उसको इतने क़रीब से
पाकर यह क्या हुआ इतना अजब दर्द
वह नफ़रत नहीं था, वासना नहीं था
वह जो था अंत में आदर था।"[32]

-'औरत का सीना'

इसी आदरभाव के कारण वह आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में दिखाए जाने वाले स्त्री के रूप को भी अस्वीकार करते हैं, जहाँ सशक्तिकरण के नाम पर स्त्री को सुई, साबुन, शैम्पू, शराब बेचने का ज़रिया बनाया जा रहा है। बलात्कार जैसी घिनौनी घटनाओं को सनसनी बनाकर स्त्री-विरोधी

नीच मानसिकता को बढ़ावा दिए जाने वाले विज्ञापनों का भी वह विरोध करते हैं। उनका मानना है कि "इस तरह के बलात्कार विज्ञापन का एक परिणाम यह है कि आज पुलिस और प्रशासन अपनी स्त्रीविरोधी नीचता में साधारण नागरिकों को शामिल करने में सफल हो रहा है । आज किसी भी औरत के बारे में यह कहा जा सकता है कि चूंकि वह "परपुरुष" से सम्बन्ध रखती थी, इसलिए उस पर किसी ने बलात्कार किया तो क्या बुरा किया ?"[33] वास्तव में स्त्री विरोधी ऐसी मानसिकता ही इस जनतांत्रिक देश में स्त्रियों की शोचनीय अवस्था का कारण है। न केवल स्त्री के प्रश्न पर अपितु अशिक्षा, बेरोज़गारी, निर्धनता, साम्प्रदायिकता जैसे मुद्दों पर भी रघुवीर सहाय ने अपनी कविताओं में गहराई से विचार किया है क्योंकि यह सभी मुद्दे संयुक्त रूप से जनतांत्रिक देश की अवधारणा को धूमिल करते हैं।

जिन विषयों पर रघुवीर सहाय ने अपनी कविताएँ लिखी हैं वह ऐसे विषय हैं जिसमें आम आदमी लगातार उपेक्षित हुआ है। जनतांत्रिक व्यवस्था वाले देश के आधार इस 'जन' की उपेक्षा जनतंत्र पर मंडराते खतरे की ऐसी प्रतिध्वनि है जिसे इस कवि ने महसूस किया, सुना और अभिव्यक्त किया। एक जनतांत्रिक देश में जब साधारण जन जीवन की अनदेखी हुई हो, सामान्य जन में जब आतंक और हिंसा ने अपना पक्का घर बना लिया हो, जब जनता सत्ता के शीर्ष पर पहुँचने की सीढ़ी मात्र बनकर रह जाए, सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का कोई स्पष्ट सुदृढ़ आधार न दिखाई दे, सभी वादे कोरा झूठ या भुलावा देने का ज़रिया मात्र हों तो कोई भी जनतांत्रिक व्यवस्था सफल नहीं कही जाएगी। रघुवीर सहाय की दृष्टि जिन मुद्दों पर जाकर टिकी है वह ऐसे मुद्दे हैं जो काँटों की भाँति प्रतिपल चुभते रहते हैं । स्वतंत्रता के बाद रत्ती भर भी परिवर्तन न आया हो - ऐसा नहीं है किन्तु सामान्य जनता के आधारभूत स्वप्नों का पूर्ण न हो पाना इस सजग कवि का ध्यान उन्हीं समस्याओं पर ले जाता है जो अपनी पकड़ बनाए हुई हैं और निरंतर बढ़ती जा रही हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे मानव का मस्तिष्क शरीर में एक काँटा चुभने पर उसी स्थान की पीड़ा पर ही केन्द्रित रहता है।

रघुवीर सहाय आम आदमी की उपेक्षा को एक जनतांत्रिक देश में जनतान्त्रिक व्यवस्था की सबसे बड़ी असफलता मानते हैं क्योंकि इस जनतांत्रिक देश में जनता की हिस्सेदारी अभी भी संतुष्ट नहीं करती। भारतीय लोकतंत्र का मूल्यांकन करते हुए वह लिखते हैं कि "भारतीय गणराज्य

के 21वें वर्ष में आज सभी स्तरों पर वाद-विवाद जारी है कि हम किधर जा रहे हैं। बहस का उद्देश्य शुभ है किन्तु सभी स्तरों पर जाँच एक गोल दायरे में घूमकर रह जाती है क्योंकि उसका उपयोग समस्याओं की ज़िम्मेदारी कभी किसी पर और कभी किसी पर डालकर राजनीतिक कीचड़ उछालने में किया जा रहा है और ज़ाहिर है इस खेल में बाज़ी उसी के हाथ रहेगी जिसके पास सत्ता है और प्रचार के साधनों पर जिसका प्रकट या प्रछन्न कब्ज़ा है। वह इस बहस को कभी निर्णय की हद तक जाने नहीं देगा क्योंकि वह हिंदुस्तान की असलियत से आँखे चार नहीं कर सकता। हिंदुस्तान की असलियत है कि यह विशाल देश विश्व में बड़े शक्ति गुटों की कृपा पर आश्रित है और उसके कुल 20-25 प्रतिशत नागरिक साक्षर और शरीर से सबल हैं और ये ही समस्त राजनीतिक शक्ति का हिस्सा-बाँट आपस में किये हुए हैं बाकी 75 प्रतिशत निरक्षर और निर्बल प्राणी जिनमें से 27 करोड़ 1963 में 20 पैसे रोज़ पर बसर कर रहे थे, अंग्रेजों के छोड़े हुए खंडित हिंदुस्तान में अपनी अंधश्रद्धा, भाग्यवादिता और भयभीत लिए हुए सत्ता के व्यापारियों के जाति, भाषा और धर्म के झगड़ों को बनाए रखने का सामान मुहैया करते हैं। वे आज भी शासित हैं - अपने शासित आप नहीं जैसा कि उन्हें एक स्वतंत्र देश में आज़ादी के 22 बरस में हो जाना चाहिए था। यह कहना कि उन्हें वोट का अधिकार भी है और अवसर की स्वतंत्रता भी, स्कूली निबंध का सा तर्क है।"[34]

एक फरवरी 1970 को लिखे इस लेख की यह पंक्तियाँ स्पष्ट कर देती हैं कि रघुवीर सहाय की दृष्टि में इस जनतांत्रिक देश की स्थिति क्या थी। स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी देश की अधिकांश जनता अशिक्षित, निर्बल, बेरोज़गार और शासित थी। उनका 'तंत्र' केवल वोट देने तक सीमित था और जाति, भाषा, धर्म संप्रदाय के मुद्दों पर उन्हें उलझाकर सत्ताधारी वर्ग अपना उल्लू सीधा करने में लीन था। नीतियाँ बहुत सी बनाईं गई थीं किन्तु उनका लाभ आम व्यक्ति तक नहीं पहुँच रहा था। ऐसे देश में जनतंत्र पर मंडराते ख़तरे की प्रतिध्वनियों को सुन समझ कर उसका यथार्थ चित्रण अपनी कविताओं में रघुवीर सहाय करते हैं जिससे सत्य से वाकिफ़ हो उन पक्षों पर सुधारात्मक कदम उठाए जा सकें। असमानता की समाप्ति, न्यायपूर्ण व्यवस्था, निजी स्वार्थों से मुक्ति, भ्रष्टाचार का अंत, सत्ता में बने रहने के मोह का त्याग, जनता के हितों को सर्वोपरि मानने जैसी स्वस्थ भावनाओं के विकसित होने पर आज़ादी से जुड़े जनता के स्वप्न पूर्ण हो सकते हैं और

'जनतंत्र' को सफल कहा जा सकता है । इसी उम्मीद के साथ रघुवीर सहाय जनतंत्र के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाते हैं । ताकि यथास्थिति, जड़ता समाप्त हो और असमानतामूलक सामाजिक ढाँचा टूटे और शोषण मुक्त समाज निर्मित हो । इसीलिए रघुवीर सहाय अपनी कविताओं के माध्यम से हस्तक्षेप करते हैं और पतनशील व्यवस्था में अपना दायित्व निभाते हुए सकारात्मक सोच के साथ लिखते हैं :-

"कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा
टूट मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ
मत डूब सिर्फ टूट ।"[35]

-'आत्महत्या के विरुद्ध'

2.2 रघुवीर सहाय की कविताओं में स्वतंत्रता बोध

रघुवीर सहाय की कविताओं में स्वतंत्रता बोध की अभिव्यक्ति किस रूप में हुई है, वह स्वतंत्रता को किस रूप में देखते हैं, स्वतंत्रता से उनका क्या अभिप्राय है यह जानने से पूर्व आवश्यक है यह जानना कि वास्तव में स्वतंत्रता के मायने क्या हैं ? हमारे अनेक क्रांतिवीरों के बलिदान और लम्बे संघर्ष के परिणामस्वरूप हमारा देश 15 अगस्त सन् 1947 को अंग्रेज़ों की ग़ुलामी से आज़ाद हुआ । किन्तु जिस स्वतंत्रता के लिए एक लम्बा संघर्ष चला, अनेक बलिदान दिए गए वह स्वतंत्रता क्या अपने वास्तविक अर्थ में 'स्वतंत्रता' थी या एक राजनीतिक परिवर्तन मात्र थी ? विचारणीय है कि इस 'स्वतंत्रता' शब्द से तात्पर्य क्या है ? क्यों स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हमारे पूर्वजों ने संघर्ष किया, बलिदान दिए । इसका सामान्य व सीधा उत्तर है कि स्वतंत्रता एक सामान्य मनुष्य की उस इच्छा या आकाँक्षा का नाम है जिसके तहत वह अपने जीवन और जीवन से जुड़ी गतिविधियों को नियंत्रित कर सके और अभिव्यक्ति दे सके । यह स्वतंत्रता किसी व्यक्ति की भी हो सकती है या

किसी समाज की भी। केवल इतना ही नहीं 'स्वतंत्रता' बाह्य प्रतिबंधों के अभाव के साथ व्यक्ति में निहित अपार संभावनाओं को विकसित करने की सहूलियत का भी नाम है।

'स्वतंत्रता' के अर्थ और उसकी अवधारणा पर अनेक विचारकों, बुद्धिजीवियों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं और 'स्वतंत्रता' से जुड़े हर संभावित पहलू पर विचार मंथन किया है। यदि एक राजनीतिक सिद्धांत के रूप में 'स्वतंत्रता' पर विचार किया जाए तो स्वतंत्रता दो अर्थों में सामने आती है। एक - वह जहाँ स्वतंत्रता को 'मानवीय अस्तित्व के एक गुण'[36] के रूप में देखा जाता है और दूसरा - वह जहाँ स्वतंत्रता 'मनुष्य की एक दशा'[37] है। पहले अर्थ में स्वतंत्रता मनुष्य का सामान्य गुण है और मनुष्य अपने जीवन को मनचाहा रूप के लिए स्वतंत्र है। दूसरे अर्थ में स्वतंत्रता से तात्पर्य उस दशा से है जिसमें व्यक्ति अपने लिए व अपने द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को बिना बाह्य बंधन के पूरा करने में समर्थ हो। इस स्वतंत्रता की दशा के लिए अंग्रेज़ी के दो शब्दों 'फ्रीडम' (Freedom) और 'लिबर्टी' (Liberty) का प्रयोग होता है। 'फ्रीडम' स्वतंत्रता के 'गुण' की ओर संकेत करता है और स्वतंत्रता की 'दशा' के लिए 'फ्रीडम' और 'लिबर्टी' दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं।

स्वतंत्रता बोध को समझने के लिए स्वतंत्रता पर विचार करते हुए अलग-अलग विचारकों के जो मत सामने आते हैं उन पर एक नज़र डालना यहाँ अपेक्षित है। जे.आर.ल्यूकस के अनुसार "स्वतंत्रता का तात्विक अर्थ यह है कि विवेकशील कर्त्ता (Rational Agent) को जो कुछ सर्वोत्तम प्रतीत हो वही कुछ करने में वह समर्थ हो और उसके कार्य-कलाप बाहर के किसी प्रतिबन्ध से न बंधे हों।"[38] इस परिभाषा के मूल में 'मनुष्य का विवेकशील प्राणी' होना है। किन्तु सच्ची स्वतंत्रता सभी को समान रूप से प्राप्त स्वतंत्रता ही हो सकती है। मनुष्य विशेष में कोई ऐसा विशिष्ट गुण नहीं होता जिसके आधार पर किसी एक को विवेकशील कहा जा सके और उस आधार पर उनकी 'स्वतंत्रता की दशा' (लिबर्टी) निर्धारित की जा सके। स्वतंत्रता मूलतः वही कही जा सकती है जो सभी को समान रूप में प्राप्त हो।

एक 'जनतंत्र' में स्वतंत्रता का आशय मनुष्य की 'नागरिक स्वतंत्रता', 'राजनीतिक स्वतंत्रता' और 'आर्थिक स्वतंत्रता' से होता है। 'अर्नेस्ट बार्कर' के अनुसार 'नागरिक स्वतंत्रता' में तीन बातें आती हैं - दैहिक स्वतंत्रता, बौद्धिक स्वतंत्रता और व्यावहारिक स्वतंत्रता। 'दैहिक

स्वतंत्रता' (Physical Freedom) से तात्पर्य है कि "राज्य की किसी कार्यवाही के कारण व्यक्ति के जीवन और स्वास्थ्य को कोई क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए या इनके लिए कोई ख़तरा पैदा नहीं होना चाहिए ताकि मनुष्य मुक्त विचरण कर सके।"[39] 'बौद्धिक स्वतंत्रता' का अर्थ है कि "मनुष्य अपने मत या विचार को व्यक्त करने में स्वतंत्र हो।"[40] 'व्यावहारिक स्वतंत्रता' अर्थात "मनुष्य अन्य लोगों के साथ अनुबंध या सम्बन्ध स्थापित करते समय अपनी स्वतंत्र इच्छा से काम ले सके।"[41] स्वतंत्रता के यह तीनों रूप एक सामान्य जीवन जीने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसी नागरिक स्वतंत्रता के कारण व्यक्ति को कहीं भी आने-जाने, किसी भी व्यक्ति से बातचीत करने या व्यक्तिगत अथवा व्यावहारिक सम्बन्ध बनाने और सही-ग़लत के समर्थन या विरोध में अपना मत रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

'राजनीतिक स्वतंत्रता' का सम्बन्ध सीधे तौर पर 'जनतांत्रिक व्यवस्था' से है। 'विलियम ब्लैकस्टन' के अनुसार 'राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ शासन पर अंकुश रखने की शक्ति है।' वहीं 'बार्कर' के मतानुसार "राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ सरकार पर अंकुश रखने की शक्ति नहीं बल्कि सरकार बनाने और उस पर नियंत्रण रखने की क्षमता है।"[42] यानी सार्वजनीन वयस्क मताधिकार जिसके अंतर्गत सभी को बिना धर्म, जाति, वर्ण, लिंग के आधार पर भेदभाव किए अपनी सरकार चुनने की प्रक्रिया में भागीदारी करने का अधिकार है। यही अधिकार नकारात्मक राजनीतिक स्वतंत्रता को सकारात्मक स्वतंत्रता में परिवर्तित कर देता है। "साधारणतः राजनीतिक, नागरिक या क़ानूनी स्वतंत्रता अपने-अपने सीमित अर्थ में नकारात्मक स्वतंत्रता होती है। उदाहरण के लिए, वाणी की स्वतंत्रता (Freedom of speech), उपासना की स्वतंत्रता (Freedom to worship) इत्यादि केवल यह सूचित करती है कि व्यक्ति के किन-किन कार्यों पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा। परन्तु सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता सकारात्मक स्वतंत्रता की बात करती है।"[43]

भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था में यह सकारात्मक स्वतंत्रता एक अनिवार्य आवश्यकता है। नकारात्मक स्वतंत्रता का अभिप्राय है कि "यदि कोई व्यक्ति कुछ करना चाहता हो और कर भी सकता हो, तो उसे वैसा करने से रोका न जाए। इस तरह की स्वतंत्रता को औपचारिक स्वतंत्रता

(Formal Liberty) या नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative liberty) कहते हैं ।...व्यक्ति को नकारात्मक स्वतंत्रता प्रदान करते समय राज्य केवल अपने ऊपर संयम रखता है, सामाजिक व्यवस्था से कोई छेड़छाड़ नहीं करता । वह यह नहीं देखता कि इस स्वतंत्रता का लाभ कौन-कौन-से और कितने लोग उठा पाएँगें ।...जब समाज भारी आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त हो, तब नकारात्मक स्वतंत्रता इन विषमताओं के प्रति तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाती है ।"[44] दूसरी ओर "सकारात्मक या तात्विक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि कमज़ोर वर्गों की सामाजिक और आर्थिक असमर्थताओं को दूर करने के ठोस प्रयत्न किए जाएँ ताकि सबको अपने सुख के साधन जुटाने का उपयुक्त अवसर मिल सके ।"[45] ध्यातव्य है कि "आर्थिक क्षेत्र में नकारात्मक स्वतंत्रता और सकारात्मक स्वतंत्रता एक दूसरे का विपरीत पक्ष प्रस्तुत करती हैं । नकारात्मक सन्दर्भ में प्रायः आर्थिक स्वतंत्रता का यह अर्थ लगाया जाता है कि मनुष्य की आर्थिक गतिविधियाँ किसी प्रतिबन्ध से न बंधी हों ।...इसके विपरीत, आर्थिक स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना सर्वसाधारण की आर्थिक असमर्थता के निराकरण की माँग करती है ।"[46] यानी आर्थिक स्वतंत्रता यदि नकारात्मक है तो पूँजीपति वर्ग निरंकुश हो सकता है अपनी इच्छानुसार किसी की प्रतिभा या मजदूरी का मेहनताना निर्धारित कर सकता है । यहाँ आर्थिक स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना की आवश्यकता आ जाती है ताकि सर्वसाधारण का दमन न किया जा सके ।

स्वतंत्रता पर अपना मत देते हुए नेता जी सुभाषचंद्र बोस ने अपने एक भाषण में कहा था कि "स्वतंत्रता से मेरा आशय ऐसी सर्वांगीण स्वतंत्रता है - जो व्यक्ति और समाज की हो, अमीर और ग़रीब की हो, स्त्रियों और पुरुषों की हो तथा सभी लोगों और सभी वर्गों की हो । इस स्वतंत्रता का मतलब न केवल राजनीतिक ग़ुलामी से मुक्ति होगा बल्कि संपत्ति का समान बँटवारा, जातिगत अवरोधों और सामाजिक असमानताओं का अंत तथा साम्प्रदायिकता और धार्मिक असहिष्णुता का सर्वनाश भी होगा । यह आदर्श व्यवहारकुशल स्त्री-पुरुष को स्वप्न सरीखा लग सकता है, लेकिन केवल यही आदर्श आत्मा की भूख मिटा सकता है ।"[47]

नेता जी द्वारा दी गई स्वतंत्रता की यह परिभाषा वास्तव में आज आदर्श सरीखी ही है, पूर्णतः चरितार्थ नहीं हुई है । हमारे स्वतंत्र देश में यद्यपि क़ानूनन सभी को स्वतंत्रता प्राप्त है किन्तु

व्यावहारिक तौर पर यदि देखा जाए तो आज भी देश के सभी लोगों, सभी वर्गों को यह स्वतंत्रता पूर्णतः प्राप्त नहीं है। इस कटु सत्य को स्वीकार करना कठिन है किन्तु इसे देख समझकर इसकी अभिव्यक्ति रघुवीर सहाय ने अपनी कविताओं में की है। आज़ादी के लगभग 40 वर्ष बाद रघुवीर सहाय ने एक लेख लिखा था जिसमें 'स्वतंत्रता' पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये थे। उन्होंने लिखा था कि "स्वतंत्रता की कोई कल्पना रचना की स्वतंत्रता और ज़रूरत से अलग और रचना से जुड़े जनसमाज की जीवनदायिनी परम्पराओं से अलग नहीं हो सकती। चालीस वर्ष जो आज़ादी के बाद गुज़रें हैं वे इतिहास ने इन कल्पनाओं को ज्यों का त्यों सार्थक करने के लिए नहीं दिए थे। इस बात को कुछ लोग बिगाड़कर यों कहते है कि एक बड़े राष्ट्र के जीवन में चालीस वर्ष का समय बहुत कम होता है। वास्तव में उनका मतलब यह होता है कि जिन्हें आज़ादी के साथ सत्ता सौंपी गई थी उन्हें कुछ और समय मिलना चाहिए। यह विचार राष्ट्र, लोकतंत्र, उन्नति और रचनात्मकता के विषय में स्वस्थ वैज्ञानिक बुद्धि से उत्पन्न नहीं है। इस विचार से यह ध्वनि निकलती है कि 1947 ने आज़ादी कुछ विशिष्ट लोगों को सौंपकर बाक़ी लोगों के लिए एक समयबद्ध कार्यक्रम बनाकर एक दायित्व आज़ाद भारत के स्वामियों पर रख दिया था और प्रश्न केवल यह है कि उन्होंने अच्छा काम किया या नहीं।"[48]

वास्तव में करोड़ों लोगों की ही भाँति कवि रघुवीर सहाय को भी स्वतंत्र भारत से बहुत उम्मीदें थी। स्वतंत्रता का यह बोध ही उनकी आरंभिक कविताओं में आशा, उल्लास और विश्वास के रूप में अभिव्यक्त होता है। औपनिवेशिक स्वतंत्रता मिलने के साथ ही भारतवासियों के भीतर नई उम्मीदों और विश्वास ने जन्म लिया। नए सपने संजोये जिनका सम्बन्ध एक सुखी, स्वस्थ, सफल और सार्थक जीवन से था। स्वतंत्रता के साथ मिली लोकतांत्रिक अधिकारों की गारंटी, प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं आदि ने आम जन को आश्वस्त किया। उस जीवन को साकार होते हुए उन्होंने देखा जिसकी परिकल्पना आम जन के मानस में लम्बे अरसे से घर कर रही थी। स्वतंत्रता के बाद के आरंभिक दस वर्षों में जो कविताएँ लिखी गयी उनमें उस आस्था, उम्मीद और मनः स्थिति का पता चलता है। अपने समकालीन कवियों अज्ञेय (हरी घास पर क्षण पर, 1949), गिरिजाकुमार माथुर (धूप के धान, 1950), नागार्जुन (सतरंगे पंखों वाली, 1959), केदारनाथ सिंह (अभी बिल्कुल अभी, 1959), श्रीकांत वर्मा (भटका मेघ, 1959) आदि की ही भाँति रघुवीर सहाय की दूसरा

सप्तक (1959) और 'सीढ़ियों पर धूप में' की कविताओं में नए, परिवर्तित, स्वातंत्रयोत्तर जीवन के प्रति मोह दिखाई देता है । इसी स्वाधीनता बोध के चलते उन्हें नया समाज निर्मित होते हुए दीखता है । वह लिखते हैं :-

"बिजली चमकी
सुरपति के इस लघु इंगित पर
लो यहाँ जामुनी बादल नभ में ठहर गए
आशीष दे रहे हाथों से ।
... ...
खुलकर बरसा पहला पानी
... ...
फिर मिट्टी में जीवन की आशा जागी है
गलते हैं दकियानूसी मिट्टी के ढेले
पिछली फ़सलों की गिरी पड़ रही हैं मेड़ें
सारे अनबोये खेतों की उजली धरती
अब एक हुई, स्वीकार कर रही नव जल
गुरु आज्ञा-सा ।
जितनी बूँदें
उतने जौ के दाने होंगे,
इस आशा में चुपचाप गाँव यह भीग रहा है
खड़े-खड़े,
चौपालों बंग्लों में बैठे
जन देख रहे जल का गिरना
चिड़िया चुनगुन से टुकुर-टुकुर"[49]

-'पहला पानी'

इस कविता में पंडित नेहरू के आशावाद एवं लोकतान्त्रिक मूल्यों के प्रति आश्वस्त कवि की आशा एवं विश्वास का स्वर मुखर है। जो दो सौ वर्ष की ग़ुलामी से मुक्ति मिलने पर होना स्वाभाविक है। किन्तु आशावाद, जिजीविषा और यथार्थ से गहन जुड़ाव के कारण कवि द्वारा 'गाँव का चुपचाप भीगना', जन का 'गिरते हुए जल को देखना' भी स्वाभाविक है। यथार्थ जीवन से यह गहरा जुड़ाव कवि रघुवीर सहाय को विशिष्ट बनाता है। यही कारण है कि जो कवि स्वतंत्रता के बाद उल्लसित व आशान्वित दीखता है वही कवि समकालीन यथार्थ को भी उसके वास्तविक रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। स्वतंत्रता के अपेक्षित स्वरूप के तिलिस्म को टूटते हुए देख उसकी वाणी तल्ख़ रूप लेती है और वह कहता है :-

"बीस बरस बीत गए
लालसा मनुष्य की तिलतिल कर मिट गयी।"[50]

-'एक अधेड़ भारतीय आत्मा'

जिस मनुष्य की बात अपनी इस कविता में कवि कर रहा है वह भारत का आम व्यक्ति है। जिसके लिए स्वतंत्रता का अर्थ वह था जो गाँधी, नेहरू, सुभाषचंद्र बोस के विचारों और हर आम भारतीय की आशा भरी आँखों में था। यानी ऐसा भारत जहाँ अमीर-ग़रीब, उच्च-निम्न सब समान हों, सबको समान अवसर प्राप्त हों, जहाँ सब विकास पथ पर आगे बढ़ें, जहाँ अस्पृश्यता न हो, जहाँ सभी मिलकर रहें। किन्तु सत्य को यह आम जनता उसके विपरीत पाती है क्योंकि, हमारे संघर्षों के परिणामस्वरूप राजनीतिक स्वतंत्रता तो हमें मिली किन्तु आर्थिक व सामाजिक स्वतंत्रता नहीं। देश में बहुत से लोग अपने समाज विशेष में स्वतंत्र महसूस नहीं कर रहे थे। सभी के पास वह संसाधन व सुविधाएँ नहीं थीं जिनसे वह एक साधारण जीवन बिना विवश हुए सरलता से जी सकें। रघुवीर सहाय के अनुसार यह स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ नहीं था। उनके अनुसार "अंततः किसी भी विकासशील राष्ट्र की स्वाधीनता का दारोमदार इसी पर है कि वह अपने प्राकृतिक साधनों का इस्तेमाल कैसे करता है और किसके लिए करता है। आज़ादी की परिभाषाएँ कई हो सकती हैं, पर शायद उसकी सबसे अंतिम कसौटी यह है कि इस लोक में धरती, समुद्र, आकाश से जो कुछ सम्पदा उपलब्ध है उसका बँटवारा मनुष्यों के बीच बराबर-बराबर है या नहीं।...प्राकृतिक साधन के उपयोग की प्रौद्योगिकी पर राष्ट्र के नागरिकों के अधिकार को अर्थ देने के

लिए एक ओर तो बड़े उद्योगों में अधिकाधिक श्रमिकों की हिस्सेदारी आवश्यक है, दूसरी ओर ऐसी प्रौद्योगिकी का अविष्कार ज़रूरी है जो भूमिहीन साधारण नागरिक को अपने श्रम पर अधिक से अधिक अधिकार दे सके ।"[51] वह भौतिक उपलब्धियों को जनतंत्र की सफलता नहीं मानते । उनके लिए मनुष्य की स्वतंत्रता सर्वोपरि है । ऐसी स्वतंत्रता जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का विकास हो, रचनात्मकता में वृद्धि हो । वह लिखते हैं कि "हमें यह जानकार कोई क्रान्तिकारी ख़बर नहीं मिलती कि अब हम कितना इस्पात और कितना सीमेंट पैदा कर रहे हैं, हम कितना रोज़गार पैदा कर रहे हैं, यह जानने लायक बात है और इसी के साथ यह भी कि हमारी कितनी नई प्रतिभा अपने आपको रचनात्मक कर्म में लगा पा रही है और अविष्कार कर पा रही है, चाहे साहित्य में चाहे विज्ञान में । और सबसे बढ़कर हम यह जानना चाहेंगे कि राजनीति के द्वारा हमने मनुष्य को स्वतंत्रता की कितनी समझ दी है ।"[52] उनके लिए स्वतंत्रता का अर्थ केवल विदेशी शासकों की ग़ुलामी से आज़ाद होना नहीं था अपितु अपने देश, अपने समाज में प्रत्येक व्यक्ति के हर उस बंधन से मुक्ति से था जिसमें किसी न किसी विवशता के कारण व्यक्ति बंधा हुआ है ।

इस स्वातंत्र्य को अनेक कवियों/रचनाकारों ने महत्त्वपूर्ण माना । अज्ञेय ने एक सहिष्णु समाज में प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता की अनिवार्यता पर विचार रखते हुए कहा कि "व्यक्ति स्वातंत्र्य 'आधारभूत मूल्य' है । प्रत्येक स्वतंत्र समाज इस मूल्य की रक्षा करता है । एक 'आत्मचेतन, विकासमान समाज स्वयं भी स्वतंत्र होता है, अपने भीतर व्यक्ति को भी स्वतंत्र विकास का खुला अवकाश देता है ।' इससे उलट 'जिस समाज का विकास रुक गया होता है, जो बंधे पानी की भाँति सड़ रहा होता है वही व्यक्ति को भी बाँधता है, असहिष्णु होता है ।'"[53] अज्ञेय के लिए स्वतंत्रता से अभिप्राय 'समाज से स्वाधीन' होना नहीं था अपितु 'समाज में स्वाधीन' होना था । इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध का विचार था कि "व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ है, प्रत्येक के लिए मानवोचित जीवन का, आत्मविकास का, सामाजिक रूप से, समाज-रचनात्मक रूप से स्थायी और शाश्वत प्रबंध ।' यदि ऐसा प्रबंध है जिससे कि प्रत्येक को 'अपने बाल-बच्चों के जीवनयापन की चिन्ता न रहे तथा वह अपने को बेचे नहीं', जीवनयापन के लिए उसे 'तरह-तरह के समझौते न करने पड़ें' तो सच्चा व्यक्ति-स्वातंत्र्य प्राप्त हो सकता है ।"[54] किन्तु स्वतंत्रता के लगभग दो दशक बीतने पर भी जो स्थितियाँ थीं वह स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ से दूर थीं । जन साधारण

जीवनयापन के लिए कई 'फ्रंटों' पर अनेक समस्याओं का सामना करने को विवश था। स्वतंत्रता के पश्चात् लगभग 10 वर्ष का समय वह समय था जब भारत देश की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण शुरू तो हो गया था किन्तु फिर भी ग़रीबी, बेरोज़गारी, अशिक्षा आदि को दूर करने की गति ढीली थी। परिणामतः देश की जनता और बुद्धिजीवी वर्ग में आक्रोश था। इनका यही आक्रोश इस वर्ग की कविताओं, कहानियों आदि के माध्यम से उभरा। जिस स्वतंत्रता का हवाला देकर राजनीतिक तंत्र सामान्य जन को बरगला रहा था उसी स्वतंत्रता का बोध, उसका वास्तविक स्वरूप रचनाकारों को शासक वर्ग की कथनी से अलग दिखा। उन्होंने महसूस किया कि स्वतंत्रता मिले एक दशक से अधिक हो जाने पर भी जनता की स्थिति में बुनियादी स्तर पर भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जब स्वतंत्र भारत की अधिकाँश जनता अपमान, फ़ाका और बीमारी झेलने को विवश दिखी तो मोहभंग होना स्वाभाविक था। रघुवीर सहाय ने इन स्थितियों को देखकर कहा कि 'जिस समाज के अधिकांश व्यक्ति अपमान, अकेलेपन, फ़ाका और बीमारी की स्थितियों में जीने को विवश हों वह समाज स्वाधीन समाज नहीं हो सकता।' स्पष्ट है कि जिस देश की जनता स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ को न समझे, बेरोज़गार, अशिक्षित, निर्धन हो, जिसके पास तन ढकने को कपड़ा और पेट भरने को रोटी न हो उसके लिए स्वतंत्रता का क्या अर्थ होगा। 'स्वतंत्र भारत' में जनता की इस दयनीय स्थिति को शब्द देते हुए अपनी कविता 'आत्महत्या के विरुद्ध' में वह लिखते हैं कि :-

"...दूर
राजधानी से कोई क़स्बा दोपहर बाद छटपटाता है
एक फ़टा कोट एक हिलती चौकी एक लालटेन
दोनों, बाप मिस्तरी, और बीस बरस का नरेन
दोनों पहले से जानते हैं पेंच की मरी हुई चूड़ियाँ
नेहरू युग के औजारों को मुसद्दीलाल की सबसे बड़ी देन।"[55]

-'आत्महत्या के विरुद्ध'

स्पष्टतः नेहरू युग के खोखलेपन और भ्रामक व्यवस्था पर इस कविता के माध्यम से रघुवीर सहाय प्रहार करते हैं। नेहरू युग में वैज्ञानिक अनुसन्धान और तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में विकास पर ज़ोर

दिया जा रहा था। जनवरी 1938 में भारतीय विज्ञान कांग्रेस को दिए एक सन्देश में नेहरू ने कहा था कि "सिर्फ विज्ञान से ही अकेले भूख और ग़रीबी, गन्दगी और अशिक्षा, अन्धविश्वास और मृत हो रही परंपरा एवं रीति-रिवाज़ों, संसाधनों को भारी बर्बादी से बचाया जा सकता है।"[56] किन्तु इस दृष्टि से विकास की दिशा की ओर अग्रसर होते स्वतंत्र भारत के 'स्वतंत्र' आम लोगों की दशा में कोई अवलोकनीय परिवर्तन नहीं हुआ, यह संभव भी नहीं था। विज्ञान, तकनीक के विकास पर ध्यान केन्द्रित होने के कारण एक बहुत बड़े वर्ग की अनदेखी हुई। विकास के नाम पर पूँजीपति शक्तिसंपन्न हुए और पूँजीवादी दृष्टि और जनसाधारण की विवशता के कारण व्यक्ति स्वातंत्र्य भी प्रभावित हुआ। एक पूँजीवादी समाज में 'स्वतंत्रता' की स्थिति पर मुक्तिबोध ने विचार करते हुए कहा कि "पूँजीवादी समाज में 'हर चीज़ ख़रीदी और बेची जाती है' यहाँ तक कि 'अन्तरात्मा' भी। वहाँ 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' धनिक वर्ग को है क्योंकि वह दूसरों की स्वतंत्रता ख़रीद कर अपनी स्वतंत्रता बढ़ाता है।"[57] यही कारण है कि अनेक प्रयासों के बाद भी सभी तक समान साधन नहीं पहुँचे, असमानता रही और स्वतंत्रता के वास्तविक बोध से आम जनता अनभिज्ञ रही। स्वतंत्र भारत में 'राजधानी से दूर छटपटाते क़स्बे' में 'हिलती चौकी', 'फ़टा कोट' और 'एक लालटेन' स्वतंत्रता से जुड़े सपनों, उम्मीदों और समान विकास की असफलता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इतना ही नहीं 'मिस्तरी बाप' और 'बीस साल का बेटा नरेन' उन दो पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो स्वतंत्र भारत में भी निरंतर वैसे ही अपनी बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी करने हेतु संघर्षरत हैं जैसे स्वतंत्रता से पूर्व उनकी पीढ़ियाँ थीं। जिन्हें स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी ऐसी कोई बात नज़र नहीं आती जो उनके जीवन में उजाला भर सके क्योंकि राजधानी से दूर लोगों के जीवन स्तर में सुधार के लिए, बुनियादी स्तर पर परिवर्तन आवश्यक था जबकि राजनीतिक दृष्टि आधुनिकता, विकास, व्यक्ति के लोकतांत्रिक अधिकार, धर्मनिरपेक्षता जैसे विषयों पर टिकी थी।

वास्तव में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आवश्यकता थी चहुँओर विकास की। इसके लिए कई योजनाएँ भी बनाई गईं किन्तु उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली। भारत के सर्वांगीण विकास के नाम पर जो कार्य हुए उसमें आम व्यक्ति जाने-अनजाने उपेक्षित हो गया। स्वतंत्रता के बाद केवल राजनीतिक स्थिरता की ही नहीं सामाजिक परिवर्तन की भी आवश्यकता थी। जिसके लिए संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में (अनुच्छेद 36) विशेष रूप में कहा गया है कि "राज्य जनता

के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को यथासंभव प्रभावशाली उपायों से हासिल और सुरक्षित रखने की कोशिश करेगा, जिसमें आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन को हरेक संस्था के माध्यम से उपलब्ध होगा ।"[58] इसके लिए प्रयास भी हुए, विविध योजनाएँ बनाई गईं किन्तु उनकी पहुँच आम आदमी तक नहीं हुई । परिणामस्वरूप (एक स्वतंत्र लोकतान्त्रिक देश में जहाँ जनतंत्र हो और प्रत्येक नागरिक की भागीदारी का आश्वासन भी) लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विश्वास नहीं रह पाया । इन स्थितियों को देख 'आहत' रघुवीर सहाय का मोहभंग होना स्वाभाविक था । मोहभंग की इस स्थिति को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा :-

"टूटते टूटते जिस जगह आकर विश्वास हो जायेगा कि
बीस साल
धोखा दिया गया
वहीं मुझे फिर कहा जायेगा विश्वास करने को
पूछेगा संसद में भोला भाला मंत्री
मामला बताओ हम कार्रवाई करेंगे
हाय हाय करता हुआ हाँ-हाँ करता हुआ हें हें करता हुआ
दल का दल
पाप छिपा रखने के लिए एक जुट होगा
जितना बड़ा दल होगा उतना ही खायेगा देश को ।"[59]

-'एक अधेड़ भारतीय आत्मा'

यह स्थिति एक स्वतंत्र लोकतांत्रिक देश को अव्यवस्था और निरर्थकता की ओर ले जाती है । 'स्वतंत्रता' और 'लोकतंत्र' किसी देश को ऊँचाइयों तक ले जा सकते हैं किन्तु उसके लिए आवश्यक है एक ऐसा तंत्र जो ईमानदार हो, ज़िम्मेदार हो, समर्पित हो, महत्त्वाकांक्षी हो । जो लोकतान्त्रिक सफलता को केवल 'मत' देने के दायरे में सीमित करके न देखे । एक जनतांत्रिक देश जनता को शासन करने का अधिकार देता है - जैसे भारत में । किन्तु वास्तव में भारतीय जनतंत्र की स्थिति दयनीय है क्योंकि यहाँ जनता केवल मतदाता बनकर रह गई है । वह भी ऐसा मतदाता जो

असहाय है। जो 'किसी से न डरने' की बात कहता अवश्य है किन्तु यह भी उसकी विडम्बना ही है। वास्तविक स्थिति है कि :-

"देश की व्यवस्था का विराट वैभव
व्याप्त है चारों ओर
एक कोने में दुबक ही तो सकता हूँ
सब लोग जो कुछ रचते हैं उसमें
केवल अपना मत नहीं दे ही सकता हूँ
वह मैं करता हूँ
किसी से नहीं डरता हूँ
अपने आप और बेकार।"[60]

-'अपने आप और बेकार'

इस मतदाता की जनतांत्रिक स्वतंत्रता के बावजूद ऐसी स्थिति है क्योंकि :-

"पाँच दल आपस में समझौता किए हुए
बड़े-बड़े लटके हुए स्तन हिलाते हुए
जाँघ ठोंक एक बहुत दूर देश की विदेश नीति पर
हौंकते-डौंकते मुँह नोच लेते हैं
अपने मतदाता का"[61]

-'फ़िल्म के बाद चीख़'

वास्तव में एक स्वतंत्र जनतांत्रिक देश में अनेक स्वप्न, समर्पण, महत्त्वाकांक्षाओं के होते हुए भी जब रघुवीर सहाय जन साधारण की समस्याओं को निरंतर बढ़ते हुए देखते हैं तो विक्षुब्ध और हतोत्साहित होते हैं। यही कारण है कि वह स्वातंत्रयोत्तर भारत में व्याप्त राजनीतिक पाखंडों, कुर्सी की जोड़तोड़, स्वार्थ परता और अंतर्विरोधों को यथारूप सामने लाने का प्रयास करते हैं ताकि उस ओर सबकी दृष्टि जाए और सुधारात्मक कार्यवाही की जाए। उनकी इस आलोचनात्मक शैली का, प्रतिरोध का यह अर्थ कदापि नहीं है कि जनतांत्रिक संसदीय व्यवस्था में उनका विश्वास नहीं है या वह इस व्यवस्था के औचित्य को सिरे से ख़ारिज करते हैं। उनके आलोचनात्मक रवैये का

कारण है उनकी अपेक्षाएँ । वह अपेक्षाएँ जो भारत में स्वतंत्रता का वह स्वरूप देखना चाहती हैं जिसकी कल्पना हमारे महान क्रान्तिवीरों, पूर्वजों ने की थी । उनकी अपेक्षाएँ भारतीय जनतंत्र को विसंगतियों से मुक्त देखने की है उसके आदर्श रूप में । उस रूप में जहाँ जनतंत्र उस जनता के हित में सक्रिय हो जिसके लिए वह अस्तित्व में आया ।

रघुवीर सहाय के लिए जनता का तंत्र, देश की स्वतंत्रता, स्वतंत्रता का बोध तभी सार्थक है जब वह हर वर्ग, हर तबके, हर व्यक्ति, हर लिंग के लिए समान हो । जब ग़ैर बराबरी न हो, शोषण न हो, हिंसा न हो, भुखमरी, बेरोज़गारी, अशिक्षा, ग़रीबी का अंत हो जाए । किन्तु ऐसा न देख कर वह विरोध करते हैं । उनका विरोध भी सृजन की ओर इंगित करता है । सृजन उस चेतना का जो नवनिर्मिति में सहायक होगी । इसीलिए वह कहना चाहते हैं चाहे उसके लिए कितना ही संघर्ष क्यों न करना पड़े क्योंकि 'जानबूझ कर चीखना, ज़िन्दा रहने के लिए' आज की आवश्यकता बन गई है । उन्हें विश्वास है कि इस स्वतंत्र देश के वासी जागृत होंगे, अपनी कायरता से मुक्त होंगे, ऊब और निराशा के चंगुल से छूट जाएँगे तो स्वतंत्र हो जाएँगे । उनका दृढ़ विश्वास है कि :-

"कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा, टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ
मत डूब सिर्फ टूट..."[62]

-'आत्महत्या के विरुद्ध'

सत्ता का ये तिलिस्म टूटने पर ही जनता अपनी विडंबनात्मक स्थितियों से मुक्त हो पाएगी । क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने पर भी सामाजिक और आर्थिक रूप से इस देश के अधिकाँश लोग स्वतंत्र नहीं हो पाए हैं और, ऐसी स्वतंत्रता रघुवीर सहाय के लिए निरर्थक है । स्वतंत्रता की सार्थकता वह समाज में ही देखते हैं । इसलिए उस समाज के लिए लड़ना, विरोध करना वह अपना कर्तव्य मानते हैं । इस विरोध के लिए भी उन्हें स्वतंत्र रहने की आवश्यकता है क्योंकि तभी वह सार्थक रचना कर सकते हैं । सृजनात्मकता के लिए भी स्वतंत्र व्यक्तित्व को बनाए रखना वह आवश्यक मानते हैं । उनके 'अपने' लिए 'रचना' करने की स्वतंत्रता वास्तविक स्वतंत्रता बोध है

और पीड़ित, शोषित, भोली जनता को उनकी स्वतंत्रता का बोध कराना उनकी ज़िम्मेदारी । क्योंकि एक स्वतंत्र देश में जब "स्वाधीन इस देश में चौंकते हैं लोग / स्वाधीन व्यक्ति से" तो उससे भयावह कुछ नहीं हो सकता । इसलिए वह लिखते हैं "विराट भीड़ों के समाज को बदलने का आज सिर्फ एक ही साधन है । वह है उस सत्ता का उपयोग जो समुदाय का एक-एक व्यक्ति अलग-अलग निर्णयों से कुछ हाथों में दे देता है । सरकार, जो राज्य की प्रतिनिधि है, जो समाज की प्रतिनिधि है, जैसी भी वह हो, अधूरी, टूटी, नकली, मिलावटी, मूर्ख वही अकेला कारगर साधन भीड़ के हाथ में है । मैं इस साधन की अधिक से अधिक सही इस्तेमाल के लिए लड़े बिना नहीं रह सकता, पर इसका मतलब यह नहीं है कि मैं इस भीड़ का कायल हूँ । मैं बदमाशों, गधों, आधे पागलों और मक्कारों के लिए एक ज़िम्मेदारी महसूस करता हूँ, पर जो कुछ रचता हूँ सिर्फ अपनी ज़िम्मेदारी पर रचता हूँ - या फिर नहीं रचता, फिलहाल अपने को रचने योग्य बनाये रखता हूँ ।"[63] इसी रचना कर्म को वह उन लोगों के पक्ष में प्रयुक्त करना चाहते हैं जिनसे प्रतिभा या क्षमता होने पर भी उनके अधिकार निर्दयता से छीन लिए जाते हैं :-

"अद्वितीय हर व्यक्ति जन्म से होता है
किन्तु जन्म के पीछे जीवन में जाने कितनों से यह
अद्वितीय होने का अधिकार
छीन लिया जाता है ।"[64]

-'कला क्या है'

वह राजनीतिक साक्रियता पर, उसके सही क्रियान्वयन पर, जनता की जागृति पर, अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व पर और प्रत्येक की स्वतंत्रता पर एक साथ बल देते हैं । भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था व राजनीति के प्रति उनमें नकार का भाव नहीं है । इसीलिए वह बार-बार विरोध दर्ज करते हैं, आलोचनात्मक रवैया अपनाते हैं ताकि राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक विषमताओं की तरफ़ दृष्टि जाए और उसकी ख़ामियों को दूर कर देश की जनतांत्रिक व्यवस्था में 'जन' का विश्वास सुदृढ़ हो सके । स्वाधीन एकता हो और "वास्तव में देश के विभिन्न क्षेत्रों की एक-दूसरे के प्रति आर्थिक निर्भरता ही एक स्वाधीन एकता का सूत्र बन सकती है और यही लोकतंत्र का सूत्र भी है ।...जब तक समता और समृद्धि की नीतियों के अनुसार नियोजित समान आर्थिक विकास नहीं होगा, तब

तक स्थायी राष्ट्रीय एकता नहीं हो सकती ।"[65] स्पष्ट है कि रघुवीर सहाय के लिए स्वतंत्रता की सार्थकता केवल व्यक्ति या समाज या वर्ग विशेष तक सीमित रहने पर नहीं है अपितु उसकी सामाजिक सार्थकता में है और उनकी कविताओं में भी स्वतंत्रता के इसी रूप की ओर झुकाव मिलता है।

2.3 रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा और शिल्प

रघुवीर सहाय की कविताओं की भाषा और शिल्प विविध स्तरों पर विविध रूप दिखलाई पड़ता है । अपनी लेखनी के माध्यम से रघुवीर सहाय ने समाज के हर उस पहलू की ओर दृष्टिपात करने का प्रयास किया है जो एक आम आदमी के जीवन और उसकी कठिनाइयों से जुड़ा है। उनकी दृष्टि में जनतंत्र की अपेक्षित तस्वीर भी उसी दृष्टिकोण का परिणाम है । उनकी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति जिस भाषा में हुई है वह अत्यंत सरल है। किन्तु उनकी कविता सरल कविता नहीं है। सरल भाषा में रचित कविता को 'सरल कविता' कहना भ्रामक हो सकता है। रघुवीर सहाय की भाषा की यह सरलता उनके भाव को सरलीकृत नहीं करती अपितु उसे बोधगम्य बनाती है । उसका रूप यद्यपि सरल है तथापि अंतर्वस्तु की दुरूहता का सरलीकरण वह नहीं करती। रघुवीर सहाय एक ऐसे कवि हैं जिनके लिए रचना की अंतर्वस्तु जितनी महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण उसका रूप भी है अर्थात् दोनों का महत्त्व समान है।

'भाषा' रघुवीर सहाय के रचना शिल्प का बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा है । यथार्थ जीवन से गहन सम्पृक्ति उनकी भाषा की विशिष्टता है। उनके लिए उनकी कविता की भाषा, उसके स्वरूप का प्रश्न उतना ही ज़रूरी है जितना विषयवस्तु का क्योंकि स्वरूप और विषयवस्तु एक दूसरे के पूरक हैं और रचना को पूर्ण बनाते हैं । उनका यह मानना है कि समय के साथ परिवर्तित होते यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है कि अभिव्यक्ति के माध्यम में भी परिवर्तन हो क्योंकि, एक रचनाकार अपने समय के संकटों का सामना अपनी रचनात्मकता से ही करता है। इस सम्बन्ध में 'आत्महत्या के विरुद्ध' के अपने एक वक्तव्य में उन्होंने लिखा है कि "लोकतंत्र - मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इंसान की शानदार ज़िन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है। इस

स्थिति में सबसे आसान यह पड़ता है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की अभी तक बची हुई सुविधा का फ़ायदा उठाकर मैं अपने लिए बचे रहने की निजी बिलकुल अहस्तान्तरणीय रियायत ले लूँ। उससे कुछ मुश्किल यह है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूँ और उनके आसरे ज़िन्दा रहूँ जो इंसान के लिए दूसरे हथियारों से लड़ते हैं - साहित्येतर हथियारों से। सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ - किसी में ढाल सहित, किसी में निष्कवच होकर - अपनी भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफ़ा ज़िम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।"[66]

रघुवीर सहाय का यह वक्तव्य साहित्य और उसकी भाषा व शिल्प के सम्बन्ध में उनकी सोच को स्पष्ट कर देता है। उनके लिए रचनाकर्म केवल बौद्धिक तुष्टि का सरल उपाय नहीं है अपितु सामाजिक समस्याओं से जूझने का हथियार है। एक ऐसा हथियार जो यथार्थ की 'यथार्थ' अभिव्यक्ति करने में, जागृत करने में सक्षम है। इसकी धार को बनाए रखने के लिए ही वह परिवर्तन को आवश्यक मानते हैं। चूँकि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है, इस नियम के साथ रघुवीर सहाय की भाषा, उनका शिल्प भी परिवर्तित होता दिखाई देता है। इसकी आवश्यकता की ओर इंगित करते हुए वह लिखते हैं कि "एक कविता में किसी शिल्प को सार्थक करके अब दुबारा उसी शिल्प में मन नहीं लगता। मैं अब एक कविता से दूसरी में जाने के साथ एक शिल्प से दूसरे शिल्प में भी जाना चाहता हूँ।...अब शायद हर रचना का अपना एक शिल्प है, जो उसी में प्रतिफलित हो जाया करता है।"[67]

'हर रचना का अपना एक शिल्प' होने का ही यह परिणाम है कि रघुवीर सहाय की भाषा और शैली नए रूप में सामने आती है। कहीं अधिक विस्तृत होकर प्रत्यक्ष के साथ संभाव्य को भी अभिव्यक्त करती है तो कहीं केवल संकेत करके सम्पूर्ण स्थिति बयाँ कर देती है। उनकी भाषा में सहजता, गतिशीलता, बोधगम्यता, पारदर्शिता मिलती है। शब्दों की फ़िजूलखर्ची से वह बचना चाहते हैं और भाषा और शिल्प में 'नयेपन' को बरकरार रखने के लिए आबद्ध दिखाई देते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि रघुवीर सहाय के लिए रचना कर देना ही इतिश्री नहीं है। 'रचना' उनके लिए उन स्थितियों व संबंधों की खोज है जो नित नवीन रूप धारण कर रहे हैं। इन नवनिर्मित स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए वह भाषा में भी नयेपन को बनाए रखने के समर्थक हैं। यह कार्य उतना भी आसान नहीं है क्योंकि जैसे व्यक्ति और परिवेश में संघर्ष चलता है ठीक वैसे ही लेखक और भाषा

के बीच भी संघर्ष अनवरत चलता रहता है । इसी संघर्ष के बारे में बताते हुए वह लिखते हैं "हो सकता है कि आध घंटे या एक घंटे का समय ही हो वह, जिसमें कि कविता लिखी जाती है, लेकिन जितनी देर तक वह लिखी जाती है उसमें शिल्प और अनुभावन के बीच में एक संघर्ष होता रहता है । यानी, भाषा मेरे साथ मनमानी करना चाहती है और मैं उसको इससे रोकना चाहता हूँ, और यह संघर्ष चलता रहता है ।"[68]

लेखक और भाषा के बीच का यह संघर्ष रघुवीर सहाय की भाषा चेतना के विकास का आधार है । जब वह महसूस करते हैं कि बदलती परिस्थितियों, अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हेतु पुरानी भाषा समर्थ नहीं है तब अपनी सृजनात्मकता के साथ वह नई भाषा की खोज में निकल पड़ते हैं । ज़ाहिर है कि नई भाषा की खोज से तात्पर्य नए यथार्थ, नई अनुभूति, नए परिवेश की उत्पत्ति से है । इसी कारण वह भाषा के नए रूप का आग्रह करते हैं । वह लिखते हैं :-

"शब्द,
अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाए वहाँ-वहाँ होता हुआ
तुम तक पंहुचे
चीज़ों के आर-पार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक
स्वछन्द अर्थ दे
मुझे दे ।"[69]

-'नया शब्द'

लेकिन पाते हैं कि 'भाषा कोरे वादों से/वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी !"[70] भाषा के भ्रष्ट होने से अभिप्राय उसके अवमूल्यन से है ; उसके दुरुपयोग से है । जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् निरंतर हो रहा है । भाषा का भ्रष्ट होना कोई साधारण बात नहीं है क्योंकि जब भाषा भ्रष्ट होती है तो कवि का वह हथियार भ्रष्ट होता है, जिसके सहारे वह विविध मोर्चों पर लड़ता है । यदि वह भ्रष्ट, अवमूल्यित भाषा में लिखता है तो वह कविता न कोयला रह जाती है न राख । केवल 'जली हुई लकड़ी' बनकर रह जाती है जिसका कोई महत्त्व नहीं है । जिससे न चिंगारी दहक सकती है न

ऊष्मा मिल सकती है न आग धधक सकती है । लेकिन रघुवीर सहाय अपनी सृजनात्मकता से नई भाषा के अन्वेषण को नई 'आग' के अन्वेषण में परिवर्तित कर देते हैं । वह लिखते हैं :-

"न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही
यह कि मैं घोर उजाले में खोजता हूँ
आग
जब कि हर अभिव्यक्ति
व्यक्ति नहीं
अभिव्यक्ति
जली हुई लकड़ी है न कोयला न राख ।"[71]

-'फ़िल्म के बाद चीख़'

'आग की उजाले में खोज' परिस्थितियों की भीषणता का प्रमाण है ।

रघुवीर सहाय की भाषा के सम्बन्ध में कुछ आलोचकों का मत है कि उनकी भाषा अख़बार की भाषा है । सपाट या इकहरी । किन्तु, वास्तविकता यह है कि उनकी कविता में भाषा शब्द अतिरेक और दुरूहता का अतिक्रमण कर आम-आदमी के हालातों का सघन व मार्मिक वर्णन सरल व बोधगम्य तरीके से करती है । इत्वार रव्वी का मत है कि "भाषा में कबीर जैसी सहजता के साथ अभिव्यक्ति का मार्मिक तीखापन और बातों में लोहिया जैसी सच्चाई और खरेपन की यह कविताएँ बीस वर्ष के प्रजातंत्र के सारे खोखलेपन को खोलकर रख देती हैं ।"[72] उनकी भाषा न सपाट है न इकहरी अपितु ऐसी है जो सोचने को विवश करती है । वह बोलचाल की भाषा में ऐसे गंभीर, महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपनी बात रखते हैं जिन पर दृष्टि ले जाना आज की आवश्यकता है । एक साधारण व्यक्ति के जीवन में पानी, बानी, शिक्षा का क्या स्थान और महत्ता हो सकती है उसे एक छोटी सी कविता में वह कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं :-

"बरसों पानी को तरसाया
जीवन से लाचार किया
बरसों जनता की गंगा पर

तुमने अत्याचार किया
हमको अक्षर नहीं दिया है
हमको पानी नहीं दिया
पानी नहीं दिया तो समझो
हमको बानी नहीं दिया
अपना पानी
अपनी बानी हिन्दुस्तानी
बच्चा बच्चा मांग रहा है।"[73]

-'पानी पानी'

यह कविता प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में मात्र 'पानी' की आवश्यकता तक ही सीमित नहीं है अपितु, पानी शब्द से जुड़े विविध अर्थ आवेग के साथ यहाँ आ खड़े होते हैं। 'पानी' शब्द यहाँ जल के अतिरिक्त सम्मानजनक जीवन जीने के लिए आवश्यक प्रतिष्ठा, गौरव, भाषा की आवश्यकता पर भी बल देता है। कविता में 'पानी पानी', 'बच्चा बच्चा' शब्दों का दोहराव हर एक की बेचैनी, क्रोध, आक्रोश को अभिव्यक्ति देता है। बोलचाल के सामान्य शब्द लेकर समाज के प्रत्येक व्यक्ति - चाहे वह बच्चा हो या बड़ा, की अधिकारों के प्रति सजगता और उसकी प्राप्ति की माँग के स्वर को, उसके तीव्र वेग को रघुवीर सहाय ने यहाँ अभिव्यक्त किया है।

कविता में बोलचाल की भाषा का प्रयोग केवल मात्र नई भाषा की खोज के निमित्त नहीं हुआ है। अपितु रघुवीर सहाय ने ऐसा समाज से, यथार्थ से सम्पृक्ति के कारण किया है। "हिन्दी कविता में पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में जो विराट परिवर्तन हुआ है, उसके पीछे यह गहरा अनुभव ही है कि आज के विशाल जीवन-सागर के उतार-चढ़ाव को, उसके प्रामाणिक अस्तित्व को, बातचीत की लय के माध्यम से ही पकड़ा जा सकता है। उस लय की तलाश ही अभिव्यक्ति की तलाश है। उसी के लिए भाषा के गठन को, उसकी प्रतीक योजना को, शब्दावली को बदलने की ज़रूरत पड़ी है। गुस्सा, खीझ, व्याकुलता, उल्लास, घबराहट, भेड़िया धसान, संतुलन अथवा आत्मसंयम के विविध मनोयोगों से भावनाओं और विचारों के इन अभूतपूर्व संपुंजों को भाषा की उछाल में पकड़कर, हस्तामलकवत् करने की कोशिश होती रही है।"[74]

जीवन के विविध मनोभावों और विचारों के संपुंजों की सहज, अचूक अभिव्यक्ति निश्चित् ही जिस भाषा में संभव हो सकती है वह रघुवीर सहाय की दृष्टि में आम व्यक्ति के दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली यह बोलचाल की भाषा है। इस भाषा में वह अपनी अभिव्यक्ति को संवेद्य बनाते हैं। यह कार्य सरल नहीं है। इसके लिए परिवेश से सीधा सम्बन्ध, संवेदना, समझ अपेक्षित है। सरल भाषा में गूढ़ विषयों की प्रस्तुति, गाम्भीर्य को बनाए रखकर करना अत्यंत कठिन है। जिसमें रघुवीर सहाय सफल हुए हैं। इस सन्दर्भ में 'रामदास' कविता की यह पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा सकती हैं :-

"चौड़ी सड़क गली पतली थी
दिन का समय घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था
अंत समय आ गया पास था
उसे बता यह दिया गया था उसकी हत्या होगी।"[75]

-'रामदास'

बोलचाल की भाषा में रघुवीर सहाय व्यंजकता के माध्यम से परिवेश की जटिलता को मारक ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं। इन पंक्तियों में 'रामदास' का उदास होना उस भयावहता को व्यंजित करता है जो आज के समय में व्याप्त है। यह उस सत्य की व्यंजना है जिससे सामना होने पर व्यक्ति भीतर तक छलनी हो जाता है। उनकी कविताओं को पढ़कर हृदय में दूर तक कहीं कुछ छटपटाता चला जाता है। उदहारण स्वरूप उनकी कविता अधिनायक को देखा जा सकता है। ऐसी प्रस्तुति के आधार में अनुभव कार्य करता है। सृजनात्मकता के नए आयाम उद्घाटित होते हैं। शासक और शासित के भेद को जिन सामान्य बोलचाल के शब्दों में जिस मारक तरीक़े से वह प्रस्तुत करते हैं वह निश्चित् ही सराहनीय है :-

"राष्ट्रगीत में भला कौन वह
भारतभाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका
गुण हरचरना गाता है

मखमल, टमटम, बल्लम, तुरही
पगड़ी छत्र चँवर के साथ
तोप छुड़ाकर ढोल बजाकर
जय-जय कौन करता है।
- - -
पूरब-पच्छिम से आते हैं
नंगे-बूचे नरकंकाल
सिंहासन पर बैठा, उनके
तमगे कौन लगाता है।
कौन-कौन है वह जन-गण-मन
अधिनायक वह महाबली
डरा हुआ मन बेमन जिसका
बाजा रोज़ बजाता है।"[76]

-'अधिनायक'

बोलचाल की इस साधारण भाषा में भी रघुवीर सहाय आम व्यक्ति के जीवन की असंगतियों और अंतर्विरोधों को सूक्ष्मता के साथ उद्घाटित् करते हैं। बिना मन बाजा बजाने वालों की विडम्बना और 'महाबली' की क्रूरता को उघाड़ कर सामने रख देते हैं। उनकी भाषा उनके अनुभव से पुष्ट हुई भाषा है। परिणामतः दैनिक जीवन की भाषा जीवन यथार्थ को अधिकाधिक संवेद्य बनाती है। बोलचाल की इस भाषिक संरचना को लोकभाषा के शब्दों का प्रयोग और अधिक समर्थ तथा पूर्णतः 'लोक' का पक्षधर बना देता है। उदाहरणार्थ उपर्लिखित कविता में प्रयुक्त "सुथन्ना", "बल्लम", "पच्छिम" शब्द। इन लोक या देशज शब्दों का प्रयोग रघुवीर सहाय की कविताओं में जीवन के विविध पक्षों, विविध भंगिमाओं, विविध स्थितियों को आत्मसात् करने के प्रयास में हुआ है। यह भाषा के प्रति उनकी रचनात्मक आस्था का फल है। इसे नगर और ग्राम से समान संवेदनात्मक सम्बद्धता का परिणाम भी कहा जा सकता है।

रघुवीर सहाय अपनी कविता में प्रयुक्त भाषा और शब्दों के प्रति सजग भी दिखाई देते हैं। जिसका कारण है सत्ता व पूँजीपति वर्ग के द्वारा शब्दों को तोड़-मरोड़ कर, विकृत, निरर्थक व द्वयार्थी बनाकर अपने हितानुरूप प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति। ऐसे में यह अत्यावश्यक हो जाता है कि रचनाकार सचेत रहकर भाषा का प्रयोग करे। उनकी 'दो अर्थों का भय' कविता इस भय की पुष्टि करती है :-

"मैं सब जानता हूँ पर बोलता नहीं
मेरा डर मेरा सच एक आश्चर्य है
पुलिस के दिमाग में वह रहस्य रहने दो
वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं
जहाँ सुना नहीं उनका ग़लत अर्थ लिया और मुझे मारा
इसलिए कहूँगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों।"[77]

-'दो अर्थों का भय'

वह न केवल ऐसी भाषा चाहते हैं जिसके दो अर्थ न किए जा सकें अपितु ऐसी भाषा की अपेक्षा करते हैं जो साधारण जन से भी संवाद स्थापित कर सके और जो 'चीज़ों के आर-पार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक स्वच्छन्द अर्थ दे।' कविता के माध्यम से संवाद स्थापित करने की इस कड़ी में वह नामों को भी विशिष्ट अर्थ देकर उसे समष्टि से सम्बद्ध कर देते हैं। अर्थात् उनकी कविताओं में आने वाला व्यक्ति किसी समाज का प्रतिनिधि बनकर सत्य उजागर करता है। रामदास, खुशीराम, मैकू, मुसद्दी, हरचरना, दयाशंकर, देवीदत्त ऐसे ही व्यक्ति हैं। यह पात्र इस जनतांत्रिक देश में विविध स्तरों पर व्याप्त शोषण को विविध प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं। इनमें 'रामदास' असमानता का बोध कराने वाला, 'दयाशंकर' निम्नमध्यवर्ग की सृष्टि का, 'हरचरना' शोषित-दमित का प्रतीक बन जाते हैं। नामों का ऐसा प्रयोग सत्य को जीवंत रूप में अभिव्यक्त करता है। इस सम्बन्ध में आलोचक नामवर सिंह की टिपण्णी यहाँ उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है कि

"वास्तविकता को अपनी सारी जीवन्तता में व्यक्त करने का एक और तरीका इधर बड़े पैमाने पर रघुवीर सहाय ने इस्तेमाल किया है, जिसमें व्यक्तिवाचक नामों का सहारा लिया गया है ।...कविता में व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग एक समय निराला ने भी किया था, नए पत्ते के ज़माने में मसलन "मास्को डायलॉग" शीर्षक कविता में गिडवानी का, जो काफी व्यंजक है ।... किन्तु रघुवीर सहाय द्वारा नामों का प्रयोग कितना विशिष्ट और कितना काव्यात्मक है ।"[78]

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को 'शब्द' के रूप में प्रयुक्त करने की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में स्वयं रघुवीर सहाय ने लिखा था कि "मुझे यह ग़लत या सही अहसास है कि शायद पहली बार मैंने नामों का शब्दों के रूप में इस्तेमाल किया है । मुझसे पहले या बाद में और लोगों ने किया होगा ज़रूर, लेकिन पात्रों के रूप में, सुनिश्चित चरित्रों के रूप में किया है । मोचीराम किसी आदमी का नाम नहीं है यह तो उपाधि है । लेकिन नाम, जिसके कि मायने हो जाते हैं, एक शब्द बन जाता है ।...वह शब्द व्यक्तियों को एक प्रकार का अर्थ भी देता है : एक व्यक्ति विशेष का भी और मान्यताओं के एक पूरे संसार का भी । इस तरह की एक डिबिया बनाकर मैंने उसका इस्तेमाल किया ।"[79]

इस विशिष्टता के सम्बन्ध में कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा है कि "मानव-यंत्रणा का साक्षात्कार रघुवीर सहाय को बेशुमार पाठकों से जोड़ता है । रघुवीर सहाय की कविताओं में सुथन्ना संभालती जनता ही नहीं है, बेचू, मंगरे, गोबर, मैकू, रामधुन, रामगुलाम, नेताराम, भोला, रामदास, दिग्विजय नारायण सिंह के साथ मोरारजी देसाई, विनोबा, नेहरू और लोहिया भी हैं । यहाँ आँख मारते गृहमंत्री, जीवनदायी तोंददानी सदस्य, खिसियाए कुलपति, घिघियाते उपकुलपति, भुसंडा विचारक, भीमकाय भाषाविद्, कुकुआते राजकवि, दम हिलाते-फुदकते संपादक, भीख खाती हुई दुधमुँही बच्ची, मैले नाखून वाला चीकट लड़का है । औरतों में तेज़तर्रार, महगी-मचलती नारियाँ हैं और पीली कन्यायें हैं - सीला चाचियाँ हैं । एक खुर्राट चलते पुर्जा मक्कार बूढ़ों की परिषद है, अकादमी है, स्तन हिलाते राजनीतिक दल हैं । रघुवीर सहाय की कविता का यह संसार इतना यथार्थ है कि हर जगह, हर शहर, हर गाँव में मौजूद है । इन कविताओं के प्रतीकों में एकदम नया अर्थ है । इनमें भोगने-झेलने की झूठी पीड़ा का नाटक नहीं है ।

इनमें समकालीन कविता का एक नया मुहावरा है और राजनीतिक स्थितियों को अभिव्यक्ति देने की एक नयी टेकनीक है।"[80]

रघुवीर सहाय अपनी रचनाशीलता से, सरल भाषा प्रयोग से, छोटे-छोटे भाषा अव्ययों से, बिबों से, प्रतीकों से, क्रियाओं से संश्लिष्ट जीवन यथार्थ को भली प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं। उनकी भाषाई प्रयुक्तियाँ और अभिव्यक्ति के तरीक़े विषयवस्तु को ऐसे प्रस्तुत करते हैं कि उन्हें बस यूँ ही अनदेखा नहीं किया जा सकता। उनकी भाषा पर यद्यपि आलोचकगण अख़बारी व सपाट होने का आरोप लगाते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि अखबार की भाषा किसी भी घटना या विषय को सरल रूप में बस प्रस्तुत कर देती है किन्तु, उसी सरल व सीधी भाषा में रघुवीर सहाय अपनी रचनात्मकता से नवीन अर्थ व गांभीर्य भर कर विषय की महत्ता को बनाए रखने के साथ मारक भी बनाते हैं। उनकी कविता में जटिलता नहीं होती जीवंतता होती है। वर्तमान की सही पहचान की अभिव्यक्ति होती है।

भाषा की ही तरह रघुवीर सहाय काव्य के शिल्प को भी अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि 'एक ही शिल्पावस्था में मन नहीं रह पाता।' अपने एक लेख में उन्होंने लिखा है कि "मेरा सृजनात्मक सुख तो यह जानने में है कि मैंने अपने को कहाँ से तोड़ कर अपने लिए एक नई बस्ती बसाई है, और यदि यह भी कमोबेश देख सकूँ की वह नई सृष्टी मेरी पुरानी बस्ती को उजाड़कर बनी है तो क्या कहने।" इस सन्दर्भ में उनकी एक पंक्ति यहाँ उद्धृत की जा सकती है :-

"अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ
और आप कहते हैं कि कविता की है।"[81]

-'नेता क्षमा करें'

उनकी इस सोच की प्रतिच्छाया ही उनके काव्य शिल्प में दिखाई देती है। सामान्यतः शिल्प से तात्पर्य किसी वस्तु के सौंदर्य को उद्घाटित करने वाले उपादानों, तत्त्वों व साधनों से लिया जाता है, किन्तु साहित्य में किसी रचना की सृष्टि में और उसके सौंदर्य को सहृदय के समक्ष परस्तुत करने में जिन तत्वों का प्रयोग होता है उसे काव्य-शिल्प कहा जाता है। काव्य शिल्प के इन तत्त्वों में भाषा,

छंद, लय, तुक, उपमान, बिम्ब, प्रतीक, विषयवस्तु, शब्द योजना को मुख्य रूप से सम्मिलित किया जाता है, यद्यपि 'शिल्प का इतिहास बहुत पुराना है तथापि आज शिल्प जिस स्वरूप में हमारे सामने है उसमें कालांतर में विविध प्रयोगों और अर्थों के स्तर पर बहुत परिवर्तन हुए हैं।

रघुवीर सहाय के शिल्प का स्वरूप शिल्प के इन पारंपरिक उपादानों व स्वरूप से भिन्न है, उनके काव्य का शिल्प शब्द-बाहुल्य, दुरूहता, कृत्रिमता का अतिक्रमण करता है, रघुवीर सहाय शिल्प को पारंपरिक अर्थ में नहीं लेते अपितु उसे रचना प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष मानते हैं। कविता की रचना करते हुए वह यथार्थ और अनुभव का समंजन करके उसे पूर्ण सृजनात्मकता के साथ सुविचारित ढंग से कविता में नियोजित करते हैं। यथार्थ की अभिव्यक्ति के पक्षधर होते हुए भी शिल्प की महत्ता को कतई कम करके वह नहीं देखते, वह लिखते हैं कि "अगर शिल्प मेरे भीतर आग्रह नहीं करता है तो मुझे लिखने की कोई जरूरत नहीं...मेरे पास एक तरह की एक और - एक अतिरिक्त चेतना है, एक अतिरिक्त व्यथा है, जिससे कि मैं हर चीज़ को उलट पलट कर, नए ढंग से सजाकर, नए ढंग से दुरुस्त करके और नया बना देने की इच्छा रखता हूँ... वही तो शिल्प है।"[82]

रघुवीर सहाय की यह नया बना देने की इच्छा ही शिल्प परिवर्तन की आवश्यकता की ओर उन्हें प्रवृत्त करती है। यह प्रवृत्ति उनकी कविताओं को और अधिक व्यंजक और संप्रेषणीय बनाती है। उनका शिल्प यथार्थ को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करता है। उनकी यह विशिष्टता है कि वह केवल सामने उपस्थित को ही अभिव्यक्ति नहीं देते अपितु अपनी सोच व अनुभव के आधार पर निष्कर्ष तक जाने का प्रयास करते हैं। विभिन्न तथ्यों और अनुभवों को गुंफित करके एक नए व संभव यथार्थ की सृष्टि करते हैं। यह सृष्टि शिल्प के द्वारा ही अस्तित्व में आती है और रचना व रचनाकार की महानता से रू-ब-रू करवाती है। स्पष्ट है कि ऐसी निर्मिति की आधारभूमि में लेखक की विचारधारा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इस 'संभव यथार्थ' की रचनात्मक अभिव्यक्ति में उनकी भाषा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती नज़र आती है। तथ्य, अनुभव, विचारधारा, भाषा और शिल्प की एकता कवि द्वारा सृजित इस 'संभव यथार्थ' के माध्यम से 'यथार्थ' को नवीन अर्थ प्रदान करती है।

रघुवीर सहाय 'कविता' की रचना केवल पाठक को खुश या उत्तेजित करने हेतु नहीं करते अपितु उससे विचार करने की अपेक्षा रखते हैं। वह लिखते हैं :-

"सन्नाटा छा जाए जब मैं कविता सुना कर उठूँ :
वाह वाह वाले निराश हो घर जाएँ
घर जाकर मेरी कविता सुनें जैसी उन्हें याद रह जाए
वैसी सही, कोई हर्ज़ नहीं-
अगर एक-दो शब्द वे अपने मन से जोड़ भी दें
कोई हर्ज़ नहीं, मगर उन्हें लगने लगे घटक शब्द
कहीं ग़लत जुड़ गया और वे सोचते रह जाएँ"[83]

-'कविता पाठ'

इसीलिए वह विविध स्थलों पर विविध शैलियों व शिल्प के तत्त्वों का प्रयोग करते हैं। जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्षों की ओर कहीं वे संकेत भर कर देते हैं तो कहीं पूर्ण प्रक्रिया का विस्तृत ब्यौरा देते हैं। ताकि पाठक की चेतना में कुछ हलचल हो, वह सोचे, विचार करे कविता में निहित यथार्थ पर। उदाहरणार्थ, उनकी एक छोटी सी कविता है 'चढ़ती स्त्री' जिसमें कुल चार पंक्तियों में एक स्त्री के जीवन के संघर्षमय यथार्थ को कवि ने संकेतित किया है और यह संकेत मन में कहीं गहरे बैठ जाता है :-

"बच्चा गोद में लिए
चलती बस में
चढ़ती स्त्री
और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।"[84]

-'चढ़ती स्त्री'

दूसरी ओर ऐसी कविताएँ भी मिलती हैं जहाँ वह विस्तार में, गहराई में जाकर पूर्ण वर्णन करते हैं। जहाँ वह आवश्यकता, स्थिति के अनुरूप व्यवहार करने की विवशता को, दिखावा करने की मजबूरी को प्रस्तुत करते हैं। उनकी ऐसी कविताओं में न केवल शैली अवलोकनीय है अपितु इस जनतांत्रिक देश के आम आदमी की विडम्बनाओं को भी अभिव्यक्ति मिली है। जहाँ मनुष्य की सहज प्रवृत्ति 'हँसी' भी राजनीति व दबाव का शिकार हो गई है। जहाँ मानव की स्वाभाविक क्रियाओं पर भी 'नज़र' रखी जाती है :-

"हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है
हँसो अपने पर न हँसना क्योंकि उसकी कड़वाहट
पकड़ ली जायेगी और तुम मारे जाओगे
ऐसे हँसो कि बहुत ख़ुश न मालूम हो
... ...
और ऐसे मौकों पर हँसो
जो कि अनिवार्य हों
जैसे ग़रीब पर किसी ताकतवर की मार
जहाँ कोई कुछ नहीं कर सकता
उस ग़रीब के सिवाय
और वह भी अक्सर हँसता है।"[85]

-'हँसो हँसो जल्दी हँसो'

इस कविता की विडम्बना उसी जनतांत्रिक देश के वासियों की विडम्बना है जहाँ मनुष्य एक शानदार दिखावटी जीवन और धोबी के कुत्ते की विडम्बना के बीच फँसा हुआ है। इस अर्थहीन जीवन की अभिव्यक्ति के लिए वह जैसा वाक्य विन्यास करते हैं उसका स्वभाव गद्य का सा है। जिसका कारण बौद्धिकता और तर्क का आग्रह है। "आत्महत्या के विरुद्ध", "हँसो-हँसो जल्दी हँसो" व "लोग भूल गए हैं" की कविताएँ उतनी लयबद्ध नहीं हैं जितनी उनके प्रथम संग्रह की। "कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" और "एक समय था" की अधिकाँश कविताएँ गद्य की बनावट में हैं जिन्हें डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी "गद्य कविता" की संज्ञा देते हैं। इस गद्य कविता के एक उदहारण में "राजा की रक्षा" नामक कविता को देखा जा सकता है :-

"किसी समय राजा थे अनेक
और अनेक कृपाकाँक्षी
राजा किया करते थे हत्या राजाओं की
और एक दूसरे के कृपाकाँक्षियों की भी

लोकतंत्र में अब भी हत्याएँ होती हैं
सर्वप्रथम उनकी जो कृपाकाँक्षी नहीं
... ...
अब कोई मरता है लोकतंत्र में वह
दरअसल हत्या होती है
राजा अब कहीं अधिक रक्षित हैं
वे या तो मरे हैं बूढ़े हैं
या बूढ़े होकर भी जिए जाया करते हैं।"[86]

-'राजा की रक्षा'

उनकी कविताओं का यह स्वरूप इसलिए सफल है क्योंकि साधारण व्यक्ति के साधारण जीवन से उनका लगाव गहन है और अपने इस मूल्यवान अनुभव से वह जिस 'गद्य कविता' की रचना करते हैं वह लय, छंद की विरोधी नहीं है अपितु मानव जीवन के नित परिवर्तित यथार्थ की अभिव्यक्ति में सहायक है। अशोक वाजपेयी उनकी काव्य-भाषा की सरल, सहज शैली और अलंकरण, बिम्ब, प्रतीक विहीन रचना धर्मिता की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि "रघुवीर सहाय की कविता का मुहावरा बिना किसी अलंकरण या लाग-लपेट के बयान का है और उसके सीधे-सादेपन से स्थिति की क्रूरता और सहने का एक अटूट बिरादरीपन दोनों ही प्रकट होते हैं। बिना विश्लेषणों या बिम्बों की सहायता से "अनुभव के ऐन्द्रिक ग्रहण" को भाषा में चरितार्थ कर पाना सीधे-सादे बयान द्वारा कठिन काम है। रघुवीर सहाय की कविता हिन्दी में अन्तर्निहित इस शक्ति का एक बार फिर अहसास कराती है और हमारे समय में कविता की सम्भावना को आगे बढ़ाती है। शब्द बहुलता, अतिरेक और दुरूहताओं का अतिक्रमण कर वह एक ऐसा शिल्प और मुहावरा अर्जित करती है जो मनुष्य की हालत के बारे में अत्यंत सघन और मार्मिक बयान करने में समर्थ है।"[87] साफ़ तौर पर देखा जा सकता है कि उनकी कविताओं के रचनाशिल्प में बोलचाल की भाषा का आग्रह मिलता है। बोलचाल की इस शैली का प्रयोग उनकी रचना क्रिया का स्वाभाविक अंग है। प्रयत्नपूर्वक ऐसा प्रयोग वह नहीं करते। जीवन की विभिन्न भंगिमाओं को अभिव्यक्त करते हुए वह जिन शब्दों का

प्रयोग करते हैं वह सायास नहीं है अपितु, ऐसी भाषा व देशज या तद्भव या लोकभाषा में प्रचलित इन शब्दों की प्रयुक्ति सहज उनकी कविता में आती है। जिसके बिना वह परिवेश निर्मित नहीं हो सकता जो वह चाहते हैं। उदाहरणार्थ 'हमारी हिन्दी' नामक कविता ली जा सकती है :-

"एक अधेड़ खसम है जिसके प्राण अकच्छ किये जा सकें
एक गुलकुचिया-सा आँगन कई कमरे कुठरिया एक के अन्दर एक
बिस्तरों पर चीकट तकिये कुर्सियों पर गौंजे हुए उतारे कपड़े
फ़र्श पर ढँनगते गिलास
खूँटियों पर कुचैली चादरें जो कुँए पर ले जाकर फींची जायेंगी।"[88]

-'हमारी हिन्दी'

अरुण कमल ने रघुवीर सहाय की इस रचनात्मकता और भाषाई विशिष्टता की प्रशंसा करते हुआ कहा है कि "ऐसे कवि कम हैं जिनके यहाँ कविता दर्पण भी है और दीप भी - बाहर को आँकती, भीतर को उघारती। फिर भी किसी भी कवि की धातु का पता हमें उसकी भाषा, उसके शब्दों से ही चलता है - "उनकी जैसी धातु हो वैसी आवाज़ उनमें बजा जाती है।" रघुवीर सहाय के शब्द अनेक धातुओं से मिलकर बने हैं, शायद अष्टधातु के शब्द हैं। लेकिन कहीं न कहीं बिलकुल पेंदे में शायद थोड़ी सी मिट्टी भी है जिसके बिना कोई कवि, कवि नहीं होता।"[89]

रघुवीर सहाय शब्द चयन में ही सजग कवि नहीं हैं अपितु शब्द प्रयोग के प्रति भी सजग दिखाई देते हैं। शब्द क्रीड़ा के द्वारा वह कविता में नए अर्थ भरते हैं और नाटकीयता की सृष्टि करते हैं। केवल शब्द क्रीड़ा, शब्दों या वाक्यांशों की आवृत्ति द्वारा या आदेशपरक शैली द्वारा विडम्बना, क्रोध, दुःख, विवशता, चापलूसी के नाटकीय विधान को क्रमशः निम्न उदाहरणों में देखा जा सकता है :-

"अगर कहीं मैं तोता होता
तोता होता तो क्या होता
तोता होता
होता तो फिर
होता फिर क्या

होता क्या ? मैं तोता होता
तोता तोता तोता तोता
तो तो तो तो ता ता ता ता
बोल पट्ठे सीता राम ।"[90]

- 'अगर कहीं मैं तोता होता'

इस कविता में रघुवीर सहाय ने एकदम नवीन तरीके से यथार्थ को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है । उनकी नवीन भाषाई सौन्दर्य दृष्टि यहाँ देखी जा सकती है । यह कविता एक तोते के माध्यम से उस मनः स्थिति को अभिव्यक्ति देती है जहाँ व्यक्ति 'स्वप्नजीवी' हो यथार्थ से पलायन करता है । 'अगर कहीं मैं तोता होता' से होती हुई कविता अंततः यह स्पष्ट कर देती है कि जो तोता होता तो वह तोता ही होता, कुछ और नहीं हो सकता था । यानी यथार्थ से पलायन कर चापलूसी करते हुए जीवन बिता देना 'तो तो तो तो' करते रहना व्यर्थ है । महत्ता इस बात की है कि जो सत्य है, जो वास्तविकता है, वह बस है । कविता में 'तोता' शब्द के साथ कई बार खिलवाड़ करके जहाँ सौन्दर्य सृष्टि वह करते हैं वहीं सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्यात्मक प्रहार भी करते हैं । ऐसे ही कुछ अन्य उदाहरण यहाँ दृष्टव्य हैं :-

"समय आ गया है जब तक कहता है सम्पादकीय
हर बार दस बरस पहले मैं कह चुका होता हूँ कि समय आ गया है
...
गरजा मुस्टंडा विचारक-समय आ गया है
...
समय आ गया है
दस बरस बाद फिर पदारूढ़ होते ही
नेताराम, पदमुक्त होते ही न्यायाधीश
कहता है- समय आ गया है ।"[91]

-'आत्महत्या के विरुद्ध'

उनके काव्य शिल्प में सरल, गद्यात्मक, नाटकीय, बोलचाल की भाषा का ही नहीं छंद, बिम्ब का भी प्रयोग मिलता है। प्रायः प्रतीकों और रूपकों के प्रयोग के प्रति वह आग्रह उनकी कविताओं में बहुत अधिक नहीं मिलता क्योंकि वह यथार्थ की प्रस्तुति सीधे-सीधे करते हैं। लिखने का कारण में वह लिखते हैं कि 'प्रतीक का इस्तेमाल मैं नहीं करना चाहता हूँ। मैं उसके सख्त खिलाफ हूँ क्योंकि वह मुझे दयनीय बना देता है।' जो प्रतीक या रूपक उनकी कविताओं में मिलते हैं वह सायास नहीं आवश्यकतानुरूप सहज ही आ गए हैं। उनकी कुछेक कविताओं में छंद, लय, ताल जैसे जो शिल्पगत उपादान आए हैं उन्हें वह यथार्थ से जोड़कर देखने के पक्षधर हैं। ताल, लय के प्रयोग के सन्दर्भ में वह लिखते हैं "मैंने अपनी कविता के इस चरण तक पहुँचते-पहुँचते शैली में ताल और गति के कुछ प्रयोग कर पाए हैं। ताल को साधारण बोलचाल की ताल के जैसा बनाने में कुछ कविताओं में, जैसे "अनिश्चय", और "मुँह अँधेरे" तथा "दुर्घटना" में थोड़ी बहुत सफलता मिली है हालाँकि उस कोशिश में भी कहीं-कहीं उर्दू की गति की बंधी हुई शैली का सहारा लेना पड़ा है।"[92]

छंद को भी रघुवीर सहाय कविता के लिए ज़रूरी मानते हैं। 'छंद' शब्द का प्रयोग वह व्यापक अर्थ में करते हुए उसे अनुशासन से सम्बद्ध करते हैं। उनकी कविताओं में छंद का प्रयोग केवल पद्यात्मकता या बाहरी सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है अपितु कविता की भाषा को नवीन अर्थ से वह भर देते हैं। इतना ही नहीं उनकी 'नए सृजन' की प्रवृत्ति छंद का रचनात्मक प्रयोग कर जीवन के जटिल रूप और व्यापक अनुभव का चित्रण करती है । "अर्थात्" में वह लिखते हैं कि 'हर कविता छंद में बंधी होती है। छंद के बिना कविता होती ही नहीं। छंद होता है तभी कविता लिखने की ज़रूरत पड़ती है।...मगर छंद ऐसी चीज़ है कि उसे कोई कवि सुन पाता है कोई नहीं सुन पाता।' उनकी प्रसिद्ध कविता 'रामदास' भी छन्दोबद्ध है :-

"रामदास उस दिन उदास था
अंत समय आ गया पास था
उसे बता यह दिया गया था उसकी हत्या होगी।"[93]

-'रामदास'

लयात्मकता के प्रयोग द्वारा कविताओं में मानव जीवन की विडम्बनाओं को इस प्रकार उन्होंने अभिव्यक्ति दी है कि एक सुर में एक के बाद एक हर पहलू सामने आता चलता है। "इस कविता

का बंधा हुआ छन्द और इसकी सधी हुई लय स्थिति की क्रूरता को और भी सहज बना देती है । हर पाँचवीं पंक्ति में बार-बार 'हत्या होगी' शब्द की आवृत्ति भीषण दुर्घटना को एक सामान्य दिनचर्या में बदल देती है ।"[94] नारी जीवन की विडम्बनाओं को व्यक्त करती उनकी एक कविता है जिसमें विवाहित स्त्री का समूचा जीवन तत्क्षण आँखों के सामने आ खड़ा होता है । भारतीय परिवारों में स्त्री की चहारदिवारी तक सिमट जाने की व्यथा कँटीली, गीली, सीली, ढीली शब्दों के प्रयोग द्वारा विस्तारित होकर स्पष्ट हो जाती है :-

"होय कँटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भर कर भात पसाइए ।"[95]

-'पढ़िए गीता'

अपनी कविताओं में बिम्बों का भी सृजनात्मक प्रयोग उन्होंने किया है । बिम्बों के द्वारा वह आज के समाज के कटु सत्य को उजागर करते हैं । मध्यवर्ग की दिखावे की प्रवृत्ति और खोखलेपन को उजागर करते हुए वह लिखते हैं :-

"झाँय- झाँय करते हैं, रिंरिंयाते हैं
हाँय-हाँय करते हैं, हिनहिनाते हैं
गरजते हैं घिघियाते हैं
ठीक वक्त पर चीं बोल जाते हैं
सभी लुजलुजे हैं, थुलथुल हैं, लिबलिब हैं, पिलपिल हैं
सबमें पोल है, सब में झोल हैं, सभी लुजलुजे हैं ।"[96]

-'सभी लुजलुजे हैं'

यह ध्वनि व अमूर्त बिम्ब है जिसके माध्यम से मध्यवर्ग का असली चेहरा वह सामने लाए हैं । बिम्ब प्रयोग के द्वारा वह निरंतर परिवर्तित होती समाज की स्थिति का वर्णन करते हैं व उन वास्तविकताओं को सामने लाते हैं जो केवल शब्द प्रयोग से संभव नहीं हो पाता । वर्णन और बिम्ब के भेद को वह मिटाते हैं । इस सन्दर्भ में उनकी कविता (मेरा प्रतिनिधि) का एक अंश अवलोकनीय

है जिसमें वर्णन और बिम्बों की टकराहट अर्थ को बहुत विस्तार देती है । जहाँ वर्णन प्रस्तुत कथन है और बिम्ब अप्रस्तुत विधान है । वर्णन में एक सामान्य सभाकक्ष है किन्तु बिम्ब एक विशेष सभाकक्ष अर्थात् आधुनिक भारतीय जनतांत्रिक देश की राजनीतिक विद्रूपता के स्थान का है :-

"सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हलकी सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष ।"[97]

-'मेरा प्रतिनिधि'

आज़ादी के बाद के भारत में जनतंत्र के नाम पर जनतांत्रिक संस्थाओं को भ्रष्ट करते लोगों के अमर्यादित चरित्र को वह यहाँ सामने लाते हैं । रघुवीर सहाय की काव्यभाषा की यह विशेषता है कि पुराने ढर्रे पर कोई तिलिस्म रचने का प्रयास उन्होंने नहीं किया है । उनकी भाषा में मिलने वाली सरलता, सहजता, सपाटबयानी उनकी कविता को गाम्भीर्य प्रदान करती है । सामाजिक-राजनीतिक विषयों के तनाव को सपाटबयानी व लय, छंद, तुक आदि के साथ मिश्रित करके उन्होंने ऐसे प्रस्तुत किया है कि वह भीतर तक भेदता है । यही सपाटबयानी उनके व्यंग्य को तीखा बनाती है और काव्यभाषा को समृद्ध करती है । जीवन का कोई पक्ष उनसे अछूता नहीं रहा है । महानगर में घटने वाली बलात्कार और हत्या जैसी घटनाओं के घटित होने और कठिनाई में सत्तावर्ग के सदैव 'साथ' होने के नारों के खोखलेपन को उजागर करती उनकी कविता 'अमार सोनार दिल्ली' को यहाँ देखा जा सकता है जिसमें स्त्रियों में व्याप्त असुरक्षा की पीड़ा दर्ज है :-

"यही कि मैं शिशु सहित माँ के
साथ हूँ साथ हूँ साथ हूँ
बशर्ते कि बलात्कार से माँ
और बन्दूक से बच्चा
अपने को बचा ले ।"[98]

-'अमार सोनार दिल्ली'

रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा और शिल्प की यह विशेषता है कि वह सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों, विसंगतियों को खुले रूप में सामने रखने में समर्थ है। कविता की भाषा में गद्यात्मकता का पुट भावों को भी यथारूप पाठक तक पहुँचाने में समर्थ है। उनकी काव्य भाषा के इस गुण को रेखांकित करते हुए अज्ञेय ने रघुवीर सहाय की कविता उद्धृत की है :-

"शक्ति दो, बल दो, हे पिता
जब दुःख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली-की-सी तुपकली चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर
घर तक पहुँचा आएँ
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा-
शक्ति दो।"[99]

-'शक्ति दो'

कविता की भाषा के गद्य के निकट होने के गुण को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा कि "भाषा को साधारण बोल-चाली गद्य के निकट लाने का जो कार्य उन्होंने (निराला ने) आरम्भ किया, उसी को भवानी प्रसाद मिश्र ने दुहराया - "जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख" और उसी की परासीमा रघुवीर सहाय में देखिये - उनकी कुछ कविताओं में तो पद विन्यास में रत्ती भर भी अंतर नहीं है, जहाँ भावसंकुलता हो वहाँ भी नहीं।"[100]

रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा की प्रशंसा करते हुए कृष्णदत्त पालीवाल ने कहा है कि "रघुवीर सहाय की काव्यभाषा हिन्दी के किसी भी दूसरे कवि से तुलनीय नहीं है। उसका एक अलग काव्य-व्यक्तित्व है- काव्य मुहावरा है- अर्थ झंकार है- कहने की नुकीली कला है और गतिमान अदा है। कविताओं की सपाटबयानी में तुकों का उपयोग सटीक बैठता है - जो कथ्य के तनाव को कविता के आखिरी बिंदु तक स्खलित नहीं होने देता। नई कविता में बोलचाल की भाषा का सरल-सहज उपयोग भवानी प्रसाद मिश्र ने किया है और उसी तरह का उपयोग रघुवीर कर सके हैं। फिर भी दोनों की भाषा की अलग-अलग भाव स्थितियाँ है। भवानी भाई भाषा को आत्म-रस से भर देते हैं - किन्तु रघुवीर सहाय उससे काफ़ी तटस्थ व्यवहार करते हैं। यह तटस्थता एक ऐसी

अनोखी मौलिकता बन जाती है - जिसे नयी काव्य-भाषा की नयी उपलब्धि माना जा सकता है। दैनिक जीवन के चलते शब्दों से कविता को पुनः संभव बनाने की कला रघुवीर सहाय से आगे के कवियों को सीखने की चीज़ है।"[101]

कहा जा सकता है कि रघुवीर सहाय की कविता में जीवन, समाज, राजनीति से जुड़े विविध पहलुओं को, भारतीय जनमानस को प्रभावित करती स्थितियों को, उन्हें विचलित करते प्रश्नों, उद्वेगों और समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली है। आज़ाद भारत में जनतांत्रिक व्यवस्था को सुचारू रूपेण चलाने हेतु ज़िम्मेदार संस्थाओं, नेताओं, दलों आदि की नगण्य होती भूमिका को, व्यक्तिगत और संस्थागत राष्ट्रीय विफलताओं को पैनी दृष्टि के साथ बोलचाल की भाषा में गहन व्यंजना देते हुए उन्होंने प्रस्तुत किया है। एक सजग कवि और पत्रकार होने के नाते उनकी दृष्टि में वह सभी विषय आए हैं जिनसे हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था ख़तरे में पड़ती दिखाई देती है। सीधी-सादी भाषा उनकी काव्य रचना की वह ताकत है जो मर्म बेधने की शक्ति रखती है। सत्ता वर्ग की स्वार्थान्धता, चारित्रिक भ्रष्टता, कुर्सी प्रियता, व्यक्तिगत लाभ को महत्त्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति, समाज में बढ़ती गुंडागर्दी, जन सामान्य की समस्याओं, विडम्बनाओं की अनदेखी को वह उसके वास्तविक रूप में सामने लाते हैं। स्वतंत्रता मिलने के बाद भी आज़ाद देश में वह स्वतंत्रता जन साधारण के लिए कितनी सार्थक है, उनके जीवन में व्याप्त निराशा और कुंठा और जनतंत्र को लेकर हृदय में मची ऊहा-पोह को उनकी कविताओं में देखा जा सकता है।

रघुवीर सहाय की कविताओं में 'जनतंत्र' को लेकर जो चित्रण मिलता है उसमें कमज़ोर, शोषित, ग़रीब, विवश व्यक्ति के जीवन के दुःख, निरीहता, बेबसी के चित्र अधिक हैं। इस वर्ग की ओर दृष्टि केन्द्रित होने के कारण भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था के विरुद्ध खीझ, क्रोध और नाराज़गी को उनकी कविता में देखा जा सकता है। पूँजीवादी सभ्यता के परिणामस्वरूप अमीर-ग़रीब के बीच बढ़ती खाई, और जीवन में बढ़ते तनाव को उन्होंने शब्द दिए हैं। स्वतंत्रता के बाद हुए विकास कार्यों या जन सामान्य के हितार्थ बनी योजनाओं की विफलता पर उनकी नज़र टिकी रही है। उनकी कविताएँ उनके भीतर मची बेचैनी का प्रतिफलन है। आम-आदमी उनकी चिंता का

केन्द्र है । समाज के साथ वह इस कदर एकाकार होते दीखते हैं कि 'व्यक्तिवाचक संज्ञा' भी व्यक्तिवाचक नहीं रह जाती है । पीड़ा का केन्द्रबिन्दु एक हो जाता है । वह आम-आदमी की पीड़ा के केन्द्र की पड़ताल करते हैं और 'जनतंत्र' में 'जन' के 'तंत्र' से ग़ायब होने की टीस उन्हें सालती है । परिणामतः जनतांत्रिक व्यवस्था की कमियाँ उनकी कविता का मुख्य विषय बन जाती हैं, स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ पर अपनी कविताओं के माध्यम से वह विचार करते हैं और बिना किसी छद्म के, निडरता से उसे अभिव्यक्ति देते हैं ।

सन्दर्भ

[1] भारत का संविधान, द्विभाषी संस्करण, पृष्ठ संख्या - 1

[2] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 32

[3] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 86

[4] समकालीन हिन्दी कविता, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 145

[5] 'आलोचना' पत्रिका, जुलाई-सितम्बर - 1968, पृष्ठ संख्या - 31

[6] मैं ऐसे भारत के लिए काम करूँगा जिसमें सबसे दरिद्र व्यक्ति भी महसूस कर सके कि यह उनका देश है और उसके निर्माण में उनकी प्रभावकारी आवाज़ है । यह ऐसा भारत होगा जिसमें न उच्च वर्ग होगा, न निम्न वर्ग । वह ऐसा भारत होगा जिसमें सारे समुदाय पूर्ण मेल-जोल के साथ रहेंगे । ऐसे भारत में अस्पृश्यता के लिए कोई जगह नहीं हो सकती... महिलाओं को पुरुषों की तरह ही समान अधिकार होंगे... यही है मेरे सपनों का भारत ।
- आधुनिक भारत, विपिन चन्द्र, पृष्ठ संख्या 214 पर उद्धृत ।

[7] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 38

[8] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 52-53

[9] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या – 54

[10] नयी कविता का परिप्रेक्ष्य, परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या - 90

[11] आलोचना, जुलाई-सितम्बर - 1968, अशोक वाजपेयी, 'आत्महत्या के विरुद्ध' के सन्दर्भ में'।

[12] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 64-65,

[13] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 65

[14] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 79 - 80

[15] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 31

[16] समकालीन हिन्दी कविता, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 134

[17] रघुवीर सहाय, सं. विष्णु नागर, पृष्ठ संख्या - 49

[18] लिखने का कारण, पृष्ठ संख्या - 155

[19] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 102

[20] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 26

[21] लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या-38

[22] लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 59

[23] लोग भूल गए हैं - 'एक दिन रेल में' पृष्ठ संख्या - 20

24 लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 93

[25] लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 94

[26] लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 37

[27] साक्षात्कार - 'जनसत्ता' हिंदी दैनिक 16 जनवरी 1990, 'कविता के सवाल : रघुवीर सहाय के हल' - गिरिधर राठी।

[28] लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 59

[29] अर्थात्, हेमन्त जोशी (सं.) पृष्ठ संख्या - 88-89

[30] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 162

[31] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 71

[32] लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 44

[33] वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे, पृष्ठ संख्या - 65

[34] भँवर, लहरें और तरंग, पृष्ठ संख्या - 25-26

[35] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 59

[36] "इसका अभिप्राय है कि जहाँ प्रकृति के अन्य तत्त्व-वस्तुएँ या जीव-जंतु प्रकृत्ति के निर्विकार नियमों (Immutable laws) से नियमित होते हैं, वहाँ केवल मनुष्य ऐसा है जो प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना सकता है। अतः वह अपने जीवन को मनचाहा रूप दे सकता है। ...मनुष्य की सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति उसके इसी गुण की देन है। इस अर्थ में स्वतंत्रता मानव मात्र का सामान्य गुण है।" - राजनीति सिद्धान्त एवं चिंतन, ओम प्रकाश गाबा,पृष्ठ संख्या - 81

[37] अर्थात् "मनुष्य स्वयं-निर्धारित लक्ष्यों (Self appointed goals) की पूर्ति में समर्थ होता है और उस पर बाहर से ऐसे कोई बंधन नहीं लगे होते जो उसे अपने जीवन को मनचाहा रूप देने से रोकते हों। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि स्वतंत्रता की 'दशा' का विचार तभी हमारे सामने आता है जब हम मनुष्य में स्वतंत्रता के 'गुण' या क्षमता (capacity) को स्वीकार करके चलते हैं।" - राजनीति सिद्धान्त एवं चिंतन, ओम प्रकाश गाबा,पृष्ठ संख्या - 81

[38] राजनीति सिद्धान्त एवं चिंतन, ओम प्रकाश गाबा,पृष्ठ संख्या - 82

[39] राजनीति सिद्धान्त एवं चिंतन, ओम प्रकाश गाबा, पृष्ठ संख्या - 88

[40] वही, पृष्ठ संख्या - 88

[41] वही, पृष्ठ संख्या - 88

[42] वही, पृष्ठ संख्या - 88

[43] वही, पृष्ठ संख्या - 91

[44] वही, पृष्ठ संख्या - 90

[45] वही, पृष्ठ संख्या - 91

[46] वही, पृष्ठ संख्या - 90

[47] 19 अक्तूबर 1929 को लाहौर में छात्र सम्मलेन में दिए गए अध्यक्षीय भाषण का अंश

[48] रघुवीर सहाय रचनावली, भाग - 3, आज़ादी, एकता और आधुनिकता, पृष्ठ संख्या - 145

[49] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 17-18

[50] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 89

[51] वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे, पृष्ठ संख्या – 56-57

[52] अर्थात्, हेमन्त जोशी (सं.), पृष्ठ संख्या - 56-57

[53] स्रोत और सेतु, अज्ञेय, पृष्ठ संख्या - 145

[54] नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृष्ठ संख्या - 180

[55] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 34

[56] जवाहरलाल नेहरु, सेलेक्टेड वर्क्स, ओल्ड सीरिज़ जिल्द, पृष्ठ संख्या - 8.7

[57] नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृष्ठ संख्या- 179

[58] भारत का संविधान, अनुच्छेद - 36

[59] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 89

[60] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 15

[61] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 54

[62] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 59

[63] रघुवीर सहाय रचनावली, भाग - 3, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या – 47

[64] लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 11

[65] अर्थात्, हेमन्त जोशी (सं.), पृष्ठ संख्या - 14

[66] अर्थात्, हेमन्त जोशी (सं.), वक्तव्य

[67] रघुवीर सहाय रचनावली, भाग - 3, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या – 85

[68] लिखने का कारण, पृष्ठ संख्या - 100

[69] रघुवीर सहाय रचनावली, भाग 1, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या – 122, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली |

[70] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 51

[71] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 51-52

[72] नवभारत टाइम्स, 'मतदाता की कविता' यानी हाथ की छटपटाहट (रघुवीर सहाय की काव्यानुभूति और काव्यभाषा, डॉ. अनन्तकीर्ति तिवारी पर उद्धृत), पृष्ठ संख्या – 26

[73] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 75

[74] विजयदेव नारायण साही, छठवाँ दशक, पृष्ठ संख्या - 244

[75] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 31

[76] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 102

[77] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 73-74

[78] कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या - 123 -124

[79] लिखने का कारण, पृष्ठ संख्या - 164-165

[80] 'इन्द्रप्रस्थ भारती', वर्ष - 4, अंक - 2; अप्रैल-जून - 1991, डॉ. विजयमोहन सिंह, पृष्ठ संख्या - 306

[81] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 45

[82] लिखने का कारण, पृष्ठ संख्या - 49

[83] कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 15

[84] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 65

[85] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 45-46

[86] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 151-152

[87] नयी कविता और रघुवीर सहाय का काव्य से उद्धृत, डॉ. अजिता तिवारी, पृष्ठ संख्या – 187

[88] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 40

[89] पूर्वग्रह, अंक - 102 पृष्ठ संख्या- 71

[90] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 22

[91] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या – 32,37

[92] पूर्वग्रह, अंक - 102 पृष्ठ संख्या - 138 - 139 / दूसरा सप्तक, वक्तव्य, पृष्ठ संख्या – 138,139

[93] रघुवीर सहाय संचयिता, सं. कृष्ण कुमार, पृष्ठ संख्या - 31

[94] समकालीन हिन्दी कविता, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 134

[95] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 29

[96] सीढ़ियों पर धूप में, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 140-141

[97] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 65-66

[98] रघुवीर सहाय रचनावली, भाग 1, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 186

[99] प्रतिनिधि कविताएँ : रघुवीर सहाय, सं. सुरेश शर्मा, पृष्ठ संख्या - 23

[100] सर्जना और सन्दर्भ, अज्ञेय , पृष्ठ संख्या - 179

[101] रघुवीर सहाय की काव्यानुभूति और काव्यभाषा, डॉ. अनन्तकीर्ति तिवारी, पृष्ठ संख्या - 127

अध्याय – तीन

श्रीकांत वर्मा की कविता में जनतंत्र

अध्याय – तीन

श्रीकांत वर्मा की कविता में जनतंत्र

3.1 अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान का चित्रण

3.2 राजनीतिक पक्षधरता और व्यर्थता बोध

3.3 श्रीकांत वर्मा की काव्य-भाषा व काव्य-शिल्प

अध्याय – तीन

श्रीकांत वर्मा की कविता में जनतंत्र

श्रीकांत वर्मा आज़ादी के बाद की हिंदी कविता के अत्यंत महत्त्वपूर्ण कवि हैं ।'भटका मेघ' से आरम्भ होकर 'गरुड़ किसने देखा है' तक की उनकी काव्य-यात्रा का साक्षी बनने पर यह ज्ञात होता है कि उनका काव्य संसार स्वातंत्रयोत्तर भारत में आकाँक्षाओं और स्वप्नों के विखंडन के प्रभावस्वरूप क्षत-विक्षत जीवन का चित्र उकेरता है । स्वातंत्रयोत्तर भारत में नव निर्माण और विकास से जुड़ी उनकी दृढ़ आस्था से चलकर यथार्थ से साक्षात्कार करती हुई उनकी कविता मोहभंग तक पहुँचती है । श्रीकांत वर्मा का महत्त्व इस बात में है कि उनकी काव्य-यात्रा की शुरुआत किसी पूर्वाग्रह से नहीं होती । वह उस कविता की आलोचना करते हैं जिसमें कटुता, निराशा, घृणा, अजनबीयत, अराजकता का ज़ोर हो । जीवन में सौन्दर्य, प्रेम, आस्था में निष्ठा रखने वाले श्रीकांत वर्मा की काव्य यात्रा का प्रारम्भ एक सकारात्मक, आशावादी दृष्टिकोण से होता है । नकारात्मक पक्षों, स्थितियों को भेद उसके पार जाकर मानव की जीवंत और उच्चतम चित्तवृत्ति को देखने वाली दृष्टि का वह समर्थन करते हैं और उस सृजन का आग्रह करते हैं जो एक नए वृहत्तर मानव व्यक्तित्व को रचे ।

स्वातंत्रयोत्तर भारत से जुड़ी उनकी उम्मीदें, एक वृहत्तर मानव समाज की सृष्टि का उनका विश्वास उनकी इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :-

"धान रोपने वाले हाथों में बहुत-सा उजाला है ।"[1]

या

"लोहे को पानी-सा ढाल रही भट्ठी में, बहुत सा उजाला है ।"[2]

उनका विश्वास आज़ादी से जुड़े स्वप्नों को पूर्ण होता देखने को लालायित विश्वास है । यही कारण है कि उनकी आरंभिक कविताओं में उल्लास, पूर्णतः परिवर्तित समय तथा नए व बेहतर जीवन की

अपेक्षा दिखलाई पड़ती है । सत्य का वह स्वरूप दिखलाई पड़ता है जिसमें सृजन व विकास की संभावनाएँ हैं । वह लिखते हैं :-

"सत्य नहीं वह जो चला गया ।
...सत्य वह
जो तुममें शेष है ।
छटपट कर, हिम की हर परत तोड़ते
बौने अंकुर-सा शेष है ।
प्राप्ति वह जो कलमों, हलों और मुट्ठी में
शब्द और सृजन और सीपी-सा शेष है ।"[3]

-'वर्ष का अंतिम दिन'

एक बौना अंकुर वृक्ष बनने के लक्ष्य तक पहुँचने हेतु कठोर ज़मीन से जो संघर्ष करता है उसकी कल्पना कठिन है । जिस शेष सत्य की बात यहाँ कवि करता है वह उस व्यक्ति का सत्य है जिसमें उस सत्य को समष्टि तक पँहुचाने की, बाहर लाने की छटपटाहट है और वह उसके लिए संघर्षरत है । यह वह व्यक्ति है जो जोश, उत्साह से सराबोर है, जिसमें आस्था कायम है । 'भटका मेघ' में संकलित उनकी कविताएँ इसी संघर्ष और आस्था से युक्त हैं । यही कारण है कि अनेक कठिनाइयों, तकलीफ़ों के होने पर भी श्रीकांत अपनी तथा एक जनप्रतिनिधि के रूप में अपने माध्यम से जनसामान्य की स्वातंत्र्योत्तर समाज से जुड़ी उम्मीदों को बनाए रखने के लिए प्रयासरत दिखाई देते हैं । इस प्रेरणा के पार्श्व में एक विचार है जो जनतंत्र में विश्वास बनाए रखकर विविध बाधाओं के बावजूद उस समय के आने की उम्मीद से जुड़ा है जिसकी आकाँक्षा जन-जन ने की थी । अपनी कविता 'आस्था की प्रतिध्वनियाँ' में वह लिखते हैं :-

"अँधकार में हमने जन्म लिया
और बढ़ीं,
हम सब विद्रोहिणियाँ कारा में चुनी गयीं ।
लेकिन कारा हमको

रोक नहीं सकती है ।

जन-जन का तीर्थ बनीं जो जन की आस्था ।

मीरा सी ज़हर पिए

हम तुझ तक आती हैं ।

हम सब सरिताएँ हैं ।

समय की धमनियाँ हैं ।

समय की शिराएँ हैं ।

समय का हृदय हमको चिर-जीवित रखना है ।"[4]

-'आस्था की प्रतिध्वनियाँ'

वह स्वयं को प्रेरित करते नज़र आते हैं जो कुछ करने की उनकी बेचैनी का प्रमाण है । उनके भीतर चलते वैचारिक मानसिक तूफ़ान का साक्ष्य है । वह निरंतर उठने, आगे बढ़ने को तत्पर दीखते हैं । इस प्रेरणा के केंद्र में व्यक्ति है - वह स्वयं और भारत देश के लोग । वह उद्बोधन के स्वर में कहते नज़र आते हैं :-

"प्राण ! उठो, उठो, उठो

गिरना अनिवार्य नहीं

उठना अनिवार्य है ।"[5]

-'सूर्य के लिए'

अपनी काव्य-यात्रा के प्रथम चरण में यानी 'भटका मेघ' की कविताओं में आस्था, प्रेम को अभिव्यक्ति देने वाले श्रीकांत कई स्थलों पर बेचैन दीखते हैं । यह बेचैनी है कुछ कर गुज़रने की, अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर पाने की, दिग्भ्रमित होने की, निरर्थकता की । यद्यपि 'भटका मेघ' की कविताएँ बहुत सफल कविताएँ नहीं मानी जातीं किन्तु इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि उनके भीतर चलते द्वंद्व के दर्शन इस संग्रह की कुछ कविताओं में हो जाते हैं । यह द्वंद्व उनके व्यक्तिगत जीवन का था । यह तथ्य है कि श्रीकांत वर्मा जिनकी पहचान विद्रोही कवि के रूप में बनी थी, जिसने जन सामान्य की पीड़ा को समझा वह एक सत्ताधारी दल के साथ जा मिला ।

एक कवि, एक पत्रकार और फिर एक दल का प्रवक्ता वह बन गया । संभव है एक जन समर्पित कवि से सत्ता तक पँहुचने के निर्णय का आधार व्यक्तिगत रहा हो, उसके पीछे सकारात्मक सोच रही हो किन्तु फिर भी द्वंद्व सदैव बना रहा । इस द्वंद्व की झलक निम्न पंक्तियों दृष्टिगोचर है :-

"भटक गया हूँ
मैं असाढ़ का पहला बादल !
श्वेत फूल सी अलका की
मैं पँखुरियाँ तक छू न सका हूँ ।
किसी शाप से शप्त हुआ
दिग्भ्रमित हुआ हूँ ।
शताब्दियों के अंतराल में घुमड़ रहा हूँ, घूम रहा हूँ ।"[6]

-'भटका मेघ'

इन पंक्तियों में लक्षित अलका नगरी वह नगरी है जो अपने वैभव, समृद्धि, आह्लादित वातावरण के लिए जानी जाती रही है । यह वह अलका नगरी है जहाँ सुख है, समानता है, जनता की प्रसन्नता है, जन सामान्य के लिए कुछ कर पाने की अभिलाषा है किन्तु उसे छू तक न पाने की पीड़ा कवि में दिखती है । अपने पथ से भ्रमित होना उन्हें अभिशप्त होना लगता है और वे स्वयं को लम्बे अन्तराल में यहाँ-वहाँ भटकता पाते हैं । बादल का भटकना स्वयं उनका दिग्भ्रमित होना है । इस भटकाव में उस आस्था के खंडित होने के संकेत हैं जो उनकी आरंभिक कविताओं में मिलते हैं । प्रारम्भ में उनमें विकास, वृहत्तर मानव जीवन, प्रेम और सौहार्द्र की अपेक्षाएँ थीं जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी आरंभिक कविताओं में की । किन्तु जब उन्हें यह अहसास होता है कि स्वातंत्रयोत्तर सत्य वह नहीं था जिस पर उनकी अखंड आस्था थी तब वह बेचैन होते हैं । उनकी इस बेचैनी का पता नामवर जी को लिखे पत्र की इन पंक्तियों से भी मिल जाता है :- "जब कभी ऐसी रचना पढ़ता हूँ जिसमें मानव यातना और मानव संघर्ष के गौरव को अभिव्यक्ति मिली है तो सहसा ही ऐसा लगता है कि यह वही है जिसे वाणी देने के लिए मेरी कलम छटपटा रही है और मेरे ही अंश को अभिव्यक्ति मिली है ।"[7] समाज की वास्तविक यातनामयी स्थिति देख कर उनकी

वह आस्था तार-तार होती है और उनमें मोहभंग की प्रक्रिया शुरू होती है। जब उन्हें महसूस होता है कि जिसे वह अभिव्यक्ति दे रहे हैं वह सत्य नहीं है तब वह स्वयं को एकाकी पाते हैं। कविताओं को निरर्थक पाते हैं। वह लिखते हैं :-

"मैं एक अदृश्य दुनिया में जी रहा हूँ
और अपने को टटोल कर कह सकता हूँ
दावे के साथ
मैं एक साथ ही मुर्दा भी हूँ और ऊदबिलाव भी।
मैं एक बासी दुनिया की मिट्टी में
दबा हुआ
अपने को खोद रहा हूँ।"[8]

-'एक मुर्दे का बयान'

यहाँ अपने को खोदने से तात्पर्य आत्मनिरीक्षण से है। जहाँ वह पाते हैं कि जिस दुनिया की आकाँक्षा उन्हें है, जिन स्थितियों की चाह उन्हें है वह दृष्ट नहीं। इसीलिए वह स्वयं को मुर्दा पाते हैं और साथ ही सत्य जानने को आतुर ऊदबिलाव भी। यथार्थ से साक्षात्कार होने पर वह महसूस करते हैं कि उन्हें एक नई दिशा मिली है जिस ओर जाकर उसके सत्य को सामने लाना वांछित है। 'सरहद पर' की एक कविता में इसकी अभिव्यक्ति मिलती है :-

"एक कुहरे की सतह
जो गर्भ से मुझमें अभी तक बह रही थी,
आज बन चट्टान की चादर
मुझे हर जोड़ पर ज्यों तोड़ जाती है,
गला मेरा टीप, अपने गीत गाती है,
माँगती है रास्ता,
फिर-फिर मुझे झकझोर देती है,
अनवरत गर्जन, पछाड़ें शोर देती है।

मैं नहीं चलता, मुझे कोई चलाता है।
पीठ पर कूबड़ सरीखा उगा आता है।
मुझे
दुहरा दर्द, दुहरी दिशा, दुहरा जन्म देता है।
सत्य, मैंने जिसे दाबा था अभी तक,
आज मुझको विकृत कर आकार लेता है।"[9]

यहाँ से कवि का 'मोहभंग' आकार लेता है। उनके भीतर अनेक प्रश्न आकार लेते हैं। नवीन अनुभूति होते ही वह छटपटाते हैं। भीतर चल रहे विद्रोह के दबे रह जाने की टीस उन्हें विचलित करती है। वर्षों तक श्रीकांत वर्मा के भीतर चलता द्वंद्व अनुभव से सुदृढ़ होकर उन्हें व्यर्थता बोध तक पँहुचाता है। जिस सत्य को दाबे रखने की बात कवि करते हैं वह ऐसा कटु सामाजिक सत्य है जिसमें अनास्था है, निराशा है। वह सत्य जिसे जानबूझकर आस्था, विश्वास, उम्मीद की चादर से वह भीतर छिपाए रहे। इस सत्य से साक्षात्कार होते ही उनके भीतर खलबली मचती है। उन्हें अहसास होता है कि :-

"नये अनुभव की सरहद पर
ठिठक गए पाँव
लगा, छोड़ कहीं आया/ पीछे अपनी छाँव...।"[10]

काव्य रचना के अगले चरण यानी 1967 के बाद की उनकी कविताएँ नई मानसिकता से ओत-प्रोत दिखती हैं। जिसकी खाद के रूप में उनका महानगरीय जीवनानुभव, असफलता का बोध, अस्तित्व का संकट, ऊब, निरर्थकता, एकाकीपन आदि काम करते हैं। उनका व्यक्तिगत अनुभव उनकी कविताओं की कच्ची सामग्री बनता है। यह व्यक्तिगत अनुभव जब कविता का रूप धारण करता है तो वह नितांत व्यक्तिगत नहीं रह जाता, सबका साझा हो जाता है। सामूहिक सच बन जाता है। इस सम्बन्ध में उनके विचार उनके लेख 'कविता और राजनीति' पढ़ने पर स्पष्ट हो जाते हैं। वह लिखते हैं कि "कविता का दूसरा, अनुभव का, संसार वास्तव में कवि का संसार है

जिसमें वह रहता है, झेलता है, जीता और मरता है ; राज्य क्रांतियों में हिस्से लेता और राजनेताओं के तलुए चाटता है ; राजनीति के मंच से क्रान्ति का आह्वान करता और क्रान्ति विरोधी मंच से पुरस्कार ग्रहण करता है । कवि का संसार बहुत विवाद योग्य नहीं । बहुत हद तक वह आम आदमियों का संसार है जिसमें घाव, आत्महत्याएँ, क्रान्तियाँ, उत्थान और पतन, कवि और आलोचक सबका अस्तित्व है और कविता किसी के आड़े नहीं आती । बल्कि कविता कवि को इस संसार में अधिक से अधिक हिस्सा लेने की छूट देती है । यहाँ प्रतीकों का नहीं घटनाओं का, अर्थ का नहीं ध्वनियों का संसार है । अपने आप में यह बेमतलब संसार है । कविता इसी अर्थहीन संसार को अर्थ देने की प्रक्रिया है ।"[11] उनके विचारों को व्यावहारिक रूप में देखा जा सकता है । उनके व्यक्तिगत जीवन के निष्कर्ष सामूहिक सत्य को अभिव्यक्ति देते हैं । 'मगध' तक पहुँचने से पूर्व उनके व्यक्तिगत और सामाजिक द्वंद्व का एकाकार हो जाता है । यानी जनतंत्र से जुड़ी उम्मीदों पर श्रीकांत और देश के उन सभी नागरिकों की मनःस्थिति एक ही हो जाती है जिसमें जनतांत्रिक व्यवस्था में अव्यवस्था का बोलबाला है । द्वंद्वात्मक स्थिति में जब मनुष्य होता है तो कोई निर्णय लेने में स्वयं को असमर्थ पाता है, भीतर-भीतर घुटता है, अस्तित्व के संकट के तीव्र बोध से ग्रसित होता है । अंततः जीवन की विविध स्थितियों, विविध स्तरों पर व्यर्थता बोध का अनुभव करता है । श्रीकांत वर्मा की कविता में यह व्यर्थता बोध दिखाई देता है । यह बोध उन्हें कितना सालता है, इस व्यर्थता बोध की आधार भूमि क्या है और उनकी कविता में जनतंत्र के स्वरूप से उसका क्या सम्बन्ध है ? साथ ही अतीत से उठाए नगर और पात्र जीवन, समाज, राजनीति से जुड़ी अभिव्यक्ति में किस प्रकार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और इस अभिव्यक्ति में उनकी भाषा और शिल्प की क्या भूमिका है ? उसे उनकी कविताओं और जीवन स्थितियों के सन्दर्भ में 'राजनीतिक पक्षधरता और व्यर्थता बोध', 'अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान का चित्रण' एवं 'श्रीकांत वर्मा की काव्य-भाषा व काव्य-शिल्प' उपाध्यायों की अंतर्गत समझा जा सकता है ।

3.1 राजनीतिक पक्षधरता और व्यर्थता बोध

श्रीकांत वर्मा एक ऐसे कवि थे जो अपने वर्तमान के प्रति सदैव सजग रहे । उनके आस-पास के वातावरण और परिस्थितियों से जो अनुभव उन्हें हुए उनकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी कविताओं में की । सन् 1956 में वह दिल्ली आए और सन् 1957 में उनका पहला काव्य संग्रह 'भटका मेघ' प्रकाशित हुआ । 'भटका मेघ' में संकलित उनकी कविताओं में प्रकृति, मनुष्य जीवन के प्रति मोह, आस्था का भाव दीखता है । यह भाव दिल्ली आने के पूर्व के अनुभवों से सम्बद्ध था । किन्तु दिल्ली आने पर हुए महानगरीय बोध ने प्राकृतिक सौन्दर्य, गँवई दृश्यों, हरियाली, आस्था की अभिव्यक्ति से उन्हें विलग किया और उन्होंने एक दूसरी दुनिया के चित्र अपनी कविताओं में उकेरे । इस दूसरी दुनिया में उनका साक्षात्कार उस सत्य से हुआ जिसमें कृत्रिमता, आतंक, संवेदनहीनता, क्रूरता, अन्धकार, अमानवीयता थी । महानगर में आने के बाद महानगरीय जीवन की विसंगतियों को उन्होंने क़रीब से अनुभव किया । दिल्ली ने उन्हें बहुत कुछ दिया । सम्मान, यश, रचनात्मक संतुष्टि भी ; किन्तु, साथ ही व्यर्थता बोध का भाव भी दिया ।

यह व्यर्थता बोध जितना उनके व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों से जुड़ा था उतना ही महानगरीय क्रूरताओं को झेलते, स्वातंत्रयोत्तर विडम्बनाओं से जूझते युवाओं के सत्य से भी सम्बद्ध था । यह नवस्वतंत्र जनतांत्रिक देश में फैली उन त्रासद स्थितियों से जुड़ा था जहाँ जनतांत्रिक व्यवस्था से जुड़े स्वप्नों की अकाल मृत्यु हो गई थी । दिल्ली जैसे महानगर में जब बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, भुखमरी, ग़रीबी, अशिक्षा जैसी सामाजिक बीमारियाँ पनप रही थी तो देश के पिछड़े और ग्रामीण क्षेत्रों के सम्बन्ध में अनुमान सहज ही लगाया जा सकता था । महानगर में जीवन को अर्थ देने के जिस उद्देश्य से वह आए थे उसे यहाँ की अव्यवस्था और जनतांत्रिक मूल्यों के विघटन से पूर्ण न होता देख अस्तित्व के संकट से वह जूझते हैं और किसी भी प्रकार से जीवन को अर्थ देने के लिए विचलित हो उठते हैं । व्यर्थता बोध उन्हें भीतर ही भीतर कचोटता है । उनकी अनुभूति शब्दों का चोला पहन अभिव्यक्ति पाती है । वह लिखते हैं :-

"मैं अब हो गया हूँ निढाल
अर्थहीन कार्यों में

नष्ट कर दिए
मैंने
साल-पर-साल
न जाने कितने साल !
-और अब भी
मैं नहीं जान पाया
है कहाँ मेरा योग ? "[12]

-'घर-धाम'

यहाँ उस समय के व्यर्थ जाने की पीड़ा परिलक्षित होती है जिसे सही दिशा, सही जगह यदि दी जाती तो उसकी परिणति सुखद होती । यह पंक्तियाँ उनकी 'घर-धाम' नामक कविता की हैं जो 'माया दर्पण' काव्य-संग्रह में संगृहीत है । महानगर में बिताए लगभग दस वर्षों में उन्हें जो अनुभव हुए उनसे वह असंतुष्ट, व्यग्र होते दिखाई देते हैं । वह महसूस करते हैं कि इतने वर्षों का समय व्यर्थ चला गया । उन कार्यों को पूर्ण करने की चाह में बीत गया जो निरर्थक थे, जिनका कोई सामाजिक या रचनात्मक परिणाम फलीभूत नहीं हुआ । समाज के प्रति उनकी व्यक्तिगत भागीदारी उन्हें नगण्य लगती है और वह अपनी भूमिका, अपना योगदान उसमें न देखकर विचलित हो जाते हैं । 'दिनारम्भ' में 'एक मुर्दे का बयान' नामक कविता में वह लिखते हैं :-

"मैं एक अदृश्य दुनिया में, न जाने क्या कुछ कर रहा हूँ ।
मेरे पास कुछ भी नहीं है -"[13]

-'मुर्दे का बयान'

यह भाव उस व्यक्ति के भाव हैं जो करना बहुत कुछ चाहता है किन्तु करने में स्वयं को असमर्थ पाता है । जिसे कुछ स्पष्ट नज़र नहीं आता । खाली हाथ रह जाने, समय के व्यर्थ जाने का यह भाव किसी भी स्थिति में कम होता नज़र नहीं आता । 'माया दर्पण' में यह अहसाह और गहराता है । वह लिखते हैं :-

"मैं अनुभव कर रहा हूँ
सब कुछ
बस छूकर
चला जाता है ।"[14]

-'मायादर्पण'

यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि कुछ भी पकड़ में न आने का भाव, कुछ कर न पाने की अनुभूति कितनी पीड़ादायक हो सकती है । जब एक सामान्य परिवार का सामान्य व्यक्ति आँखों में अनेक सपने लेकर बाहर निकलता है, जीवन में आने वाली कठिनाइयों को अनदेखा कर, हर समस्या का सामना कर आगे बढ़ने को लालायित होता है और अंततः सत्य के झंझावातों से जूझते यह पाता है कि वह खाली हाथ है, वह अप्राप्य है जो अपेक्षित है तो किस कुंठा या निराशा या अवसाद का शिकार वह हो सकता है । सबके 'बस छूकर चले जाने' की यह पीड़ा केवल श्रीकांत वर्मा की ही नहीं है । यहीं से वह अपने को व्यापक सन्दर्भों से जोड़कर देखना आरम्भ करते हैं । स्पष्ट है कि जिस मनोव्यथा से वह रू-ब-रू होते हैं, जो समस्याएँ उनकी हैं वह केवल उनकी नहीं हैं । यह उनके व्यक्तिगत यथार्थ से अवश्य सम्बद्ध है किन्तु यह स्थिति व्यक्ति मात्र की नहीं है । उनका सच सामूहिक सच है । महानगरीय जीवन के खालीपन, एकाकीपन, दुःख से जूझने वाले वह अकेले नहीं है । व्यर्थता बोध के शिकार केवल वह नहीं है । अस्तित्व के संकट से वह अकेले नहीं लड़ते । बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, ग़रीबी, अशिक्षा, भुखमरी के शिकार एक बहुत बड़े वर्ग की अनदेखी उन्हें विचलित करती है । उनके भीतर आक्रोश बढ़ता है और प्रश्न आकार लेता है कि क्या उनका जीवन यूँ ही बीत जाना चाहिए ? :-

"सारे संसार की सभ्यताएँ दिन गिन रही हैं ।
क्या मैं भी दिन गिनूँ ?
अपने निरानन्द में
रेंक और भाग और लीद रहे गड्ढे से
मैं पूछकर
आगे बढ़ जाता हूँ -

मगर ख़बरदार ! मुझे कवि मत कहो ।

मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ

ईजाद करता हूँ

गाली

फिर उसे बुदबुदाता हूँ ।"[15]

-'मायादर्पण'

'गाली ईजाद' करने का कार्य निश्चित ही कोई ऐसा व्यक्ति नहीं करेगा जो संतुष्ट हो, शांत हो, ख़ुशहाल हो । 'गाली ईजाद' करने और फिर उसे बुदबुदाने की क्रिया नाराज़गी की अभिव्यक्ति का साधन है । 'मायादर्पण' और 'दिनारम्भ' की बहुत सी कविताएँ उसी नाराज़गी को बयाँ करती है । वह उस नाराज़ युवक की ज़िन्दगी का सत्य उजागर करती हैं जिसका जीवन नितांत खाली है । जिसके जीवन में पाने के लिए सब कुछ है किन्तु खोने के लिए कुछ भी नहीं है । कारण - कि वह सब कुछ पहले ही खो चुका है । जहाँ अब कुछ भी सार्थक नज़र नहीं आता । वहाँ अब न कुछ पाने का उत्साह रह गया है न खोने का दुःख । उनकी पीड़ा को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :-

"मैं उठता हूँ और उठकर

खिड़कियाँ, दरवाज़े ।

और कमीज़ के बटन

बंद कर लेता हूँ

और फ़ुर्ती के साथ

एक कागज़ पर लिखता हूँ

मैं अपनी विफलताओं का

प्रणेता हूँ ।'

x x x

जो मुझसे नहीं हुआ

वह मेरा संसार नहीं ।"[16]

-'समाधि लेख'

इन पंक्तियों से यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि श्रीकांत वर्मा के मन में युवा मन की कितनी गहरी आकाँक्षाएँ समाहित हैं। इन कविताओं में कहीं-कहीं घोर अकेलापन व पराजय की चीख़ है। यह चीख़ युवाओं के खंडित होते स्वप्नों की चीख़ है। स्वतंत्र, जनतांत्रिक देश के नागरिकों के चूर-चूर हुए स्वप्नों और आकाँक्षाओं को तिलमिलाकर प्राण देते इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। स्थितियाँ इतनी भयावह हैं कि :-

"कोई भी जगह नहीं रही
रहने के लायक
न मैं आत्महत्या कर सकता हूँ
न औरों का खून।"
x x x
"मुझे न औरों से
प्रेम है
न अपने से।"[17]

-'अंतिम वक्तव्य'

स्वतंत्र भारत में 'जनतंत्र' का विघटन, अवमूल्यन होते हुए श्रीकांत वर्मा ने स्वयं देखा। बीसवीं शती में फैली अमानवीयता, बर्बरता, क्रूरता को महसूस किया। 1962 में हुए चीन युद्ध ने उन्हें झकझोरा। स्वतंत्र भारत के नए अनपेक्षित कटु यथार्थ से उनका मोहभंग हुआ। नेहरू युग से जुड़ी उम्मीदें टूटी और वे आक्रामक हुए। यह आक्रामकता उनकी कविताओं में यत्र-तत्र देखी जा सकती है। इस आक्रामकता की पृष्ठभूमि में उनके व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभव, पतनशील जनतांत्रिक व्यवस्था, अनास्था, राजनीतिक अनुभव सक्रिय रूप में काम करते हैं।

श्रीकांत वर्मा एक सजग कवि, जागरुक नागरिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध होने के कारण जीवन के किसी भी पहलू से अछूते नहीं रहे। आर्थिक विषमताओं से निरंतर घिरे रहने के कारण और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ, आलोचनाएँ, लेख आदि लिखे। 'तूफ़ान', 'भारतीय श्रमिक', कृति जैसी पत्रिकाओं का

सम्पादन कार्य किया, फिल्म लेखन की दिशा में प्रयास किया, बिलासपुर के एक 'म्युनिसिपल हाई स्कूल' में अध्यापन कार्य किया, पत्रकारिता का कार्य किया। संघर्ष के इस लम्बे समय में विविध जीवनानुभवों से वह गुज़रे। आज़ादी के लगभग बीस वर्षों बाद भी व्यक्तिगत अनुभवों और महानगरीय जीवन में युवावर्ग की ऐसी स्थिति देखकर उन्हें वितृष्णा हुई। मोहभंग हुआ। श्रीकांत ने बचपन में ही अपने घर में राजनीतिक वातावरण देखा था और राजनीति के प्रति उनका लगाव भी था। आरम्भ में मार्क्सवादी चिंतन से प्रभावित होने पर भी बाद के वर्षों में उन्होंने कांग्रेस से नाता जोड़ा। भारतीय राजनीति के एक बहुत प्रभावी व्यक्तित्व और क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ डॉ. राममनोहर लोहिया के सन् 1963 में वह संपर्क में आए। सन् 1969 में 'कांग्रेस पार्टी' में फूट पड़ने पर श्रीकांत ने इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली सरकार में आस्था दिखाई। उनका मानना था कि इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में ही जनतांत्रिक देश में 'जन' की स्थिति सुधर सकती थी। सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन संभव हो सकता था। अतः सन् 1969 में श्रीकांत विधिवत् रूप से कांग्रेस के सदस्य बन गए।

कांग्रेस पार्टी के लिए श्रीकांत वर्मा ने बहुत परिश्रम किया। 1976 में वह मध्य प्रदेश से राज्य सभा के सदस्य रूप में चुने गए, 1980 में प्रचार संयोजक नियुक्त हुए। राजनीति से जुड़ने के पीछे एक कारण यदि आर्थिक संघर्षों की समाप्ति था तो दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि राजनीति को वह एक ऐसा माध्यम मानते थे जहाँ रहकर जनता के तंत्र वाले देश में 'जन' की स्थिति में सुधार लाया जा सकता था। उनका विचार था कि "साहित्य एक सीमा तक समाज को बदल सकता है, उसे अंततः बदलने का माध्यम राजनीति ही हो सकती है।"[18] उनका यह वाक्य उनकी राजनीतिक पक्षधरता का प्रमाण है। विडम्बना यह है कि समाज को बदलने के लिए राजनीति को एक महत्ववपूर्ण माध्यम मानने वाले श्रीकांत वर्मा औपचारिक और विधिवत् रूप से राजनीति से जुड़ने और लम्बे समय तक पूर्ण निष्ठा से राजनीति में काम करने पर भी कभी संतुष्ट नहीं दिखे। 'एलिएनेशन' (आत्म-निर्वासन) का भाव उनमें सदा बना रहा। श्रीकांत वर्मा के समकालीन और आज के अत्यंत महत्त्वपूर्ण कवि केदारनाथ सिंह की रचना 'मेरे समय के शब्द' के 'स्मृतियाँ' खंड में लिखे एक संस्मरण 'श्रीकांत वर्मा : दीवार पर खड़िया से लिखा एक नाम' को पढ़ने पर श्रीकांत वर्मा की इस भीतरी बेचैनी का प्रमाण मिलता है। कवि केदारनाथ सिंह लिखते

हैं कि "सन् 1976 के अगस्त में जब मैं नया-नया दिल्ली आया तो उस समय श्रीकांत जी नॉर्थ एवेन्यु में रहते थे। संयोगवश मुझे भी उनके पड़ोस में ही रहने के लिए एक कमरा मिल गया। वहाँ रहते हुए प्रायः रोज ही उनसे मिलना होता था। ये आपातकाल के दिन थे और श्रीकांत जी उस दल के सदस्य और एम.पी. थे, जिसने देश पर आपातकाल लागू किया था। वे पूरी निष्ठा के साथ दल के लिए काम कर रहे थे, पर अपने आत्मीय क्षणों में कई बार भीतर से परेशान भी दिखते थे। मैंने लक्ष्य किया कि उनकी बहस का स्वर धीरे-धीरे धीमा होने लगा था और कहीं गहरे में वह अपने ही प्रश्नों से घिरने लगे थे। यह उनके जीवन का सबसे रचनाशून्य काल था।"[19]

स्पष्ट है कि राजनीति में रहते हुए भी द्वंद्व की स्थिति उनमें निरंतर बनी रही। राजनीतिक वातावरण में बड़े होने और इंदिरा गाँधी के प्रति आस्थावान होने के कारण राजनीति के वह पक्षधर बने और राजनीति को नित्य जीवन का अभिन्न अंग भी उन्होंने बनाया। लेकिन राजनीति में जाने के बाद सत्ता की सड़ांध को बेहद नज़दीक से, नंगी आँखों से देखा। सत्ता में स्वार्थ सिद्धि के चरम को अनुभव किया। यह सत्य अनुभव जन्य था श्रुत नहीं। जो उन्होंने महसूस किया वह ख़ालिस यथार्थ था। कुर्सी प्रियता, स्वार्थान्धता, विचारहीनता, संवेदनशून्यता, अमानुषिकता, जनतांत्रिक मूल्यों की हत्या होते देख और स्वयं को असमर्थ पा वह व्यर्थता बोध तक पँहुचे। राजनीतिक आचारहीनता और जनतांत्रिक विफलताओं पर उनकी पैनी दृष्टि सदैव बनी रही। स्वतंत्रता के लगभग पच्चीस वर्ष बीत जाने पर भी जन सामान्य की जीवन स्थितियों में कोई अंतर नहीं दिखने, उनकी आकाँक्षाएँ, उनके स्वप्न खंडित होने और उनके हितार्थ कुछ न कर पाने पर श्रीकांत वर्मा असमर्थ महसूस करते हैं। राजनीतिक पाखण्ड, अन्याय, स्वार्थ रूपी अन्धकार में निरंतर घिरते साधारण जन की दयनीय स्थिति को शब्दों में ढाल पाने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। वह लिखते हैं :-

"संभव नहीं है
कविता में वह सब कह पाना
जो घटा है बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ
काँपते हैं ; हाथ।"[20]

-'युद्ध नायक'

श्रीकांत वर्मा जैसा आक्रोश और तेवर का कवि, जिसने स्वतंत्र भारत के कटु सत्य और भीतर की कसमसाहट को बिना किसी लाग-लपेट के सामने रख दिया, जिसने स्वतंत्रता से जुड़े 'मोह' के 'भंग' होने का खुलकर ऐलान किया, जब वह कुछ कहने में स्वयं को असमर्थ पाए, उसके हाथ काँपें तो सत्य से आँख मिलाकर देखने को तैयार होना अपेक्षित हो जाता है । यहाँ श्रीकांत जैसे कवि के हाथों का काँपना संकेत करता है उन भयावह स्थितियों का जो बीसवीं शताब्दी के अड़सठवें वर्ष में बनीं । वह लिखते हैं :-

"अनुसन्धान करो जाकर किसी
विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में,
साग में नमक, राजनीति में ईमान
जीने में मज़ा
नहीं रहा । नहीं रहा यह सब जिसे होना चाहिए था
ईसा की बीसवीं शताब्दी के अड़सठवें वर्ष में ।"[21]

-'आध घंटे की बहस'

साथ ही राजनीति में रहकर, राजनीतिक विद्रूपताओं को यूँ शब्दबद्ध कर पाना भी निश्चित ही सरल नहीं है । जिस तरह जिस डाल पर बैठें उसे काटना ख़तरे से खाली नहीं, जैसे मगर के मुँह में हाथ देना बुद्धिमता नहीं, जैसे जंगल में लगी आग को फूँक मारकर बुझाना शक्ति को व्यर्थ गँवाना है ठीक वैसे ही राजनीति में रहकर उसके विरोध में लिखना भी ख़तरे से पूर्ण हो सकता है । साथ ही सजग नागरिक, जनपक्षधर और जागरुक कवि होने के कारण चुप रहना या उन विद्रूप स्थतियों से प्रेम करना भी असंभव । परिणति - व्यर्थता बोध । यह बोध निम्न पंक्तियों में दृष्टिगत है :-

"इस भयानक समय में कैसे लिखूँ
और कैसे नहीं लिखूँ !
सैंकड़ों वर्षों से सुनता आ रहा हूँ
घृणा नहीं प्रेम करो-
किससे करूँ प्रेम ? मेरे
चारों ओर हत्यारे हैं !"[22]

-'प्रजापति'

यह कविता 'जलसाघर' में संकलित है जिसका प्रकाशन सन् 1973 में हुआ । सन् 1969 से वह सक्रिय राजनीति में थे । राजनीतिक जटिलताओं से जुड़े उनके अनुभव इस कविता में दिखाई देते हैं । जीवन में हर चीज़ की धज्जियाँ उड़ाने वाला, तीक्ष्ण बाण चलने वाला कवि जब इस असमंजस में हो कि कलम कैसे चलाई जाए तो स्थिति की जटिलता को समझना कठिन नहीं रह जाता । कवि केदारनाथ सिंह के संस्मरण से यह पता चलता है कि न लिख पाने की यह विवशता उन्हें कितनी खलती थी । वह लिखते हैं कि "सक्रिय राजनीति में जाने के बाद वे साहित्य की दुनिया की गहमागहमी से कुछ कट-से गए थे और यह बात उन्हें बार-बार टीसती रहती थी । राजनीति की दुनिया में गहमागहमी कुछ कम न थी । पर श्रीकांत वर्मा मूलतः कवि थे और कई बार राजनीति के मोर्चे पर अपने आपको बिलकुल निहत्था पाते थे । वे खूब जानते थे कि साहित्य के हथियार से राजनीति की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती । शायद इसलिए सत्ता की राजनीति की धुरी के एकदम निकट पहुँच जाने के बाद भी वे वह नहीं प्राप्त कर सके, जिसे एक पेशेवर राजनीतिज्ञ ज़रा-से कौशल के साथ आसानी से प्राप्त कर सकता था । सत्ता की दुनिया के अपने दीर्घकालिक अनुभवों का रचनात्मक इस्तेमाल उन्होंने अपने अंतिम काव्य-संग्रह 'मगध' में किया, जहाँ उन्हें वर्तमान के विघटन को चित्रित करने के लिए नष्ट संस्कृतियों के एक सम्पूर्ण मिथक-लोक की कल्पना करनी पड़ी । जिस जगह खड़े होकर वे चीज़ों को देख रहे थे, वहाँ से उन्हें उठाकर कविता में जस-का-तस लाना और सीधे-सीधे कह देना उनके लिए संभव नहीं था । उनकी इस दौर की कविताओं का मुहावरा, उनकी परिचित मुद्रा के विपरीत बेहद ठण्डा और शांत है । अपने समय के बिखराव को इतने ठन्डे और शान्त मुहावरे में व्यक्त करने की कोशिश, कला की दृष्टि से एक कठिन काम है और एक हद तक जोखिम भरा भी । श्रीकांत में जोखिम उठाने की शक्ति थी और यहाँ भी उन्होंने पूरे कलात्मक साहस के साथ वह जोखिम उठाया है ।"[23]

कवि केदारनाथ सिंह ने जिस 'मगध' का ज़िक्र यहाँ किया है वह श्रीकांत वर्मा का सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त संग्रह है । सन् 1984 में प्रकाशित इस काव्य-संग्रह की कविताओं में पूर्व प्रकाशित काव्य-संग्रहों की तुलना में ठहराव मिलता है । बीसवीं शताब्दी की अमानवीय और क्रूर स्थितियाँ, दीर्घकालिक स्वास्थ्य समस्याएँ, राजनीतिक विसंगतियों से जुड़े अनुभव 'मगध' में नए रूप में

सामने आते हैं। 'मगध' की मनोभूमि राजनीतिक दुनिया में जीवन का एक लम्बा समय बिताने पर और स्वातंत्र्योत्तर भारत की विद्रूपताओं से साक्षात्कार होने के परिणामस्वरूप निर्मित हुई है । 'मगध' की कविताओं की मनोभूमि गंभीर चिंतन की मनोभूमि है । यहाँ दीर्घकालिक अनुभवों के मंथन से प्राप्त पूर्णतः परिवर्तित स्वर है । कविताओं का मूल स्वर राजनीतिक है किन्तु उसमें इतिहास, अतीत उपस्थित है । ऐतिहासिक व्यक्तियों या स्थलों की आधुनिक समय में प्रयुक्ति सायास है । श्रीकांत वर्मा ने प्राचीन नगरों और ऐतिहासिक चरित्रों के नामों का प्रयोग अवश्य किया है किन्तु वास्तव में वह कविताएँ अतीत के बारे में नहीं हैं । समकालीन यथार्थ की अभिव्यक्ति अत्यंत ठहराव और शांति के साथ यह कविताएँ करती हैं। इन कविताओं में व्यंग्य है, विडम्बना है, वक्रोक्ति है किन्तु तेवर आक्रामक नहीं है । ऊपर की हलचल नहीं है, गहराई की शान्ति है, अनुभवजन्य मंथन अत्यंत प्रौढ़ है और पूर्ण है । अतीत के गलियारों में भटकती 'मगध' की कविताओं के माध्यम से श्रीकांत वर्मा ने तत्कालीन और वर्तमान स्थितियों के साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं। इस संग्रह की कविताएँ सत्ता के खेल, वर्तमान में मनुष्य की त्रासद नियति और कवि के जीवन में महत्त्वपूर्ण रहे राजनीतिक पक्षधरता के भाव की समाप्ति की कविताएँ हैं। 'मगध' में एक तरह की आत्मस्वीकृति है तो, साथ ही ग्लानि भी है, पश्चाताप भी है, एक आधुनिक मनुष्य की नियति उसमें है। जहाँ हर आदमी की नियति यही है कि कोई दूसरा उसे खर्च करे।"[24] 'मगध' में ऐतिहासिक नाम उन त्रासदियों को रूपायित करते हैं जो बीते कल की बजाय आज का सच ज़्यादा हैं। केन्द्रीय सत्ता की अमानवीयता का यह दस्तावेज़ हैं, जिसमें केवल त्रासदियाँ हैं । व्यक्तिगत स्वार्थ जहाँ चरम पर है । भावनाएँ शून्य हैं - इतनी कि अपनी उन्नति के लिए दूसरों की मृत्यु कामना भी बड़ी बात नहीं है। जहाँ बाज़ारीकरण, व्यापारिक प्रवृत्ति ही सत्य है। उनकी कविता 'मणिकर्णिका का डोम' इस ओर संकेत मिलता है :-

"डोम मणिकर्णिका से अक्सर कहता है,
दु:खी मत होओ
मणिकर्णिका,

दुःख तुम्हें शोभा नहीं देता
ऐसे भी श्मशान हैं
जहाँ एक भी शव नहीं आता...।"[25]

-'मणिकर्णिका का डोम'

यह बीसवीं शताब्दी का कड़वा सत्य है। बीसवीं शताब्दी में मनुष्य की हृदयहीनता की ओर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति उन्हें चिंतित करती थी। बीसवीं सदी के अँधेरे में की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि "18वीं शताब्दी में मनुष्यता ने एक दूसरा ही रास्ता पकड़ लिया। यह रास्ता था विज्ञान और टेक्नोलॉजी का। इस पर चलती हुई मनुष्यता ढाई सौ वर्षों में जिस जगह पहुँची है, क्या यही उसका गंतव्य था, यह सवाल स्वयं मनुष्यता के सामने मुँह बाए खड़ा है। युद्ध का भय इन्सान को जकड़े हुए है, परमाणु संहार का ख़तरा उसकी गरदन पर डिमॉक्लीज की तलवार की तरह झूल रहा है, समृद्ध समाजों में दिशाहीनता है, ग़रीब देशों में भुखमरी है, काले और गोरे का भेद आज पहले से अधिक तीव्र है, ऊर्जा के स्रोत सूख चले हैं, क्रांतियाँ अपने वायदे पूरे नहीं कर सकी हैं, विचारधाराएँ निष्प्राण जान पड़ती हैं।"[26] निश्चित ही यह विचार और उनके व्यक्तिगत राजनीतिक जीवनानुभव 'मगध' में रूपायित हुए हैं। इसी कारण 'मगध' के विषय में कहा गया है कि "'मगध' बीसवीं शताब्दी का मर्सिया है, ख़ासकर भारतीय सभ्यता पर लिखा गया मृत्यु लेख है। प्रस्थापित राजनीति के ज्वालामुखी के केंद्र में रहते हुए जब आतंरिक परिवेश विचित्र, व्यवस्थाओं के लावा से भर जाता है और उसकी जड़ें समकालीन संस्कृति में धँसने लगती हैं, तो 'मगध' जैसी रचना का सृजन अनिवार्य होता है।"[27]

श्रीकांत वर्मा का राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। इन्दिरा गाँधी और राजीव गाँधी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभाव उनके मन में था। इन्दिरा गाँधी की मृत्यु के बाद उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था कि "इन्दिराजी भारत को अपने कन्धों पर उठाए हुए थीं। आज उनके बाद, वह एक घड़े की तरह, सड़क पर टूटा पड़ा है।" राजीव गाँधी के प्रधानमंत्री बनने पर उन्होंने लिखा "राजीव गाँधी का व्यक्तित्व उनके नाना जवाहरलाल नेहरू से बहुत मिलता-जुलता है। उनमें प्रतिभा की वैसी ही चमक है, वैसा ही ख़रापन, वैसी ही ईमानदारी, वैसी ही उदारता और करुणा। भारत को एक आदर्श प्रधानमंत्री मिला है।"[28] फिर भी वह एक जागरुक कवि थे। कांग्रेस पार्टी और कांग्रेसी

शासन के प्रति उनका रुख़ आलोचनात्मक था। राजनीतिक कुरूपताओं को साक्षात् जानने पर तथा उसमें सुधार हेतु कुछ न कर पाने की विवशता के कारण व्यर्थता बोध का भाव उनमें निरंतर बढ़ता गया। राजनीति में रहकर भी समाज हित में कोई सार्थक कार्य न कर पाने और अपेक्षाओं के अपूर्ण रह जाने के कारण उन्हें अतीव आत्मग्लानि हुई। इसका प्रमाण उनकी डायरी में आत्मभर्त्सना करते हुए लिखा गया यह अंश है। "आज मेरा जन्मदिन है। मन आत्मग्लानि से भरा हुआ। इन तमाम वर्षों में मैंने क्या किया ? मिथ्या, चाटुकारिता, अहं, दर्प, छल, आत्मछल, आकाँक्षा, लोभ, वैभव, प्रदर्शन, आत्मप्रदर्शन, प्रतिद्वंद्विता, शत्रुता, आत्मरति, नाटकीय जीवन जिया। मैं अपने अन्दर बैठा हुआ एक पिशाच हूँ, अन्यायी, अत्याचारी, रोगग्रस्त, भोगग्रस्त। ईश्वर, मुझे शक्ति दो, इस छद्म और छल से उबरने की। फिलहाल स्वयं को धिक्कार ही सकता हूँ। आगे की सोचो - काबे किस मुँह जाओगे ग़ालिब ? "[29]

राजनीतिक व्यवस्था में शामिल रहने वाले श्रीकांत वर्मा ने आरम्भ में राजनीतिक कविता का विरोध किया था। समाज की विविध समस्याओं, उनसे जुड़े प्रश्नों का बना बनाया उत्तर देने वाली राजनीतिक व्यवस्था से उन्हें परहेज़ था क्योंकि सत्ता पर काबिज़ लोगों ने राजनीतिक संस्थाओं, जनतांत्रिक व्यवस्था के वास्तविक मायने ही बदल दिए थे। वहाँ षड्यंत्र चरम पर था और साधारण जन के लिए बनी जनतांत्रिक व्यवस्था उन्हें अप्रासंगिक प्रतीत होती थी। इस ढोंग पर करारा व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा :-

"कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
बेचेंगे शांति की (अथवा षड्यंत्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
क़समें खाएँगे
लोकतंत्र की।"[30]

-'समाधि लेख'

किन्तु अपनी काव्य-रचना के अंतिम चरण में उन्होंने यह समझा कि राजनीति से साक्षात्कार आज की ज़रूरत है। राजनीति से निरपेक्ष रहने से अधिक आवश्यक है मूल्यों की राजनीति पर बल देना। इन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठा हेतु उन्होंने राजनीति में जाने का निश्चय किया। वे जिस परिवर्तित, बेहतर व्यवस्था के आकाँक्षी थे उसे केवल साहित्य द्वारा नहीं लाया जा सकता था। राजनीतिक अवमूल्यन के चरम से साक्षात्कार होने के कारण उन्हें तीव्र विरक्ति हुई। राजनीति में रहते हुए भी उन्होंने जो समझौते किये उनसे उपजा अपराध बोध भी उनमें मिलता है। व्यर्थता बोध की चरम अभिव्यक्ति के रूप में इन पंक्तियों को देखा जा सकता है :-

"मैं जीवन भर बेवजह झूठ बोलता रहा,

अपने विवेक के विरुद्ध किया,

स्वयं पर भरोसा न कर, औरों के आगे गिड़गिड़ाता रहा

मैं ख़ुद को एक गिरा हुआ आदमी

मानता हूँ।"[31]

-'मुझे क्षमा करो'

कहा जा सकता है कि श्रीकांत वर्मा में निश्चित ही राजनीतिक पक्षधरता मिलती है ; क्योंकि कोई भी रचनाकार राजनीति से अछूता रह ही नहीं सकता और श्रीकांत वर्मा तो स्वयं लम्बे समय तक सक्रिय राजनीति में रहे हैं। किन्तु, राजनीतिक गलियारों की उठा-पटक में डूबने-उतरने के बाद, जनतांत्रिक व्यवस्था के अवमूल्यन और अपनी भूमिका को सार्थक न मानने के कारण व्यर्थता बोध भी उन्हें आतंकित करता रहा है। इस बात का स्वयं को 'गिरा हुआ आदमी' कहने से अधिक बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है।

3.2 अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान का चित्रण

राजनीति में रहते हुए वर्तमान में सत्ता में व्याप्त जिन विद्रूपताओं से कवि श्रीकांत वर्मा का साक्षात्कार हुआ, जो कटु अनुभव हुए उसकी अभिव्यक्ति हेतु उन्होंने अतीत को हथियार बनाया। अपने अन्तिम काव्य-संग्रह 'मगध' में मुख्यतः उन्होंने अतीत के माध्यम से अवमूल्यित होते वर्तमान का चित्र खींचा और आज की स्थितियों पर व्यंजनात्मक प्रहार किया। सत्ता के जिन ग़लियारों में वह थे और जिस शोषक चरित्र से परिचित हो चुके थे उसकी अभिव्यक्ति यथारूप करना कठिन था। अतः वह अतीत की दुनिया से उन पात्रों, स्थानों को लेकर आए जिनकी संगति वर्तमान के साथ सटीक बैठती है। अतीत मानव जीवन से जुड़ा ऐसा पक्ष है जिसे किसी भी स्थिति में झुठलाया नहीं जा सकता। मनुष्य का वर्तमान अतीत से अभिन्न रूप में सन्नद्ध रहता है। अतीत को जड़ या मृत मानकर, 'बीत गया' मानकर उसे अनदेखा करना या कमतर आँकना अनुचित है क्योंकि यह वह नींव है जिस पर भविष्य में एक मजबूत इमारत बनाने के लिए वर्तमान में ध्यान देना आवश्यक होता है। बीते समय में हुई ग़लतियों से सीख लेकर उसमें सुधार करने तथा चेतन होने का मार्ग अतीत दिखाता है। अतीत को विगत घटना न मानकर ऐसी सतत प्रवाहमान चेतनधारा श्रीकांत वर्मा ने माना है जो भविष्य का चेहरा वर्तमान के आईने में दिखाता है।

यह अतीत श्रीकांत वर्मा की कविताओं का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पहलू है। अतीत के माध्यम से आधुनिक भाव-बोध को अपनी कविताओं में उन्होंने प्रखरता के साथ अभिव्यक्ति दी है। अतीत के ऐतिहासिक चोले में बीसवीं शताब्दी को उन्होंने ला खड़ा किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह वर्तमान से सीधे सक्षात्कार नहीं करना चाहते। अपितु अतीत को याद करते हुए आधुनिक मनुष्य के समक्ष वह उन परिस्थितियों को ला खड़ा करते हैं जो आज भी चारों ओर व्याप्त हैं। आधुनिक समय में मनुष्य जीवन की त्रासदियों, भारत देश में व्यापी विसंगतियों को अतीत के माध्यम से श्रीकांत वर्मा ने चित्रित किया है। वर्तमान जीवन का द्वंद्व और विसंगतियाँ उन्हें अतीत की ओर ले जाती हैं। ऐतिहासिक चरित्रों, घटनाओं, नगरों के प्रतीकात्मक प्रयोग द्वारा शोषणकारी सत्ता में साधारण जन की पीड़ा और संत्रास को वह रूपाकार देते हैं। उनकी अनुभूतिजन्य संवेदना समय की विद्रूपताओं से पाठकों का सीधा साक्षात्कार करवाती है जिसमें इतिहास से जुड़ी घटनाएँ

व पात्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शासकों की विलासिता, सत्ता की विमूढ़ता, जड़ता, निष्क्रियता, वर्तमान की समस्याओं व जनता की जटिल स्थितियों को अतीत से सन्दर्भ लेकर वह प्रस्तुत करते हैं। अपने अभिप्रेत की पुष्टि और प्रेषण हेतु कलिंग, मगध, कोसाम्बी, कपिलवस्तु, कोसल, अवन्ती, हस्तिनापुर, मिथिला, वैशाली, पाटलिपुत्र, अशोक, बिम्बिसार, चन्द्रगुप्त, कालिदास, रोहिताश्व, वसंत सेना आदि का उल्लेख अपनी कविताओं में उन्होंने किया है। इनके माध्यम से अतीत का स्मरण करते हुए वर्तमान से मुठभेड़ की है। इस प्रकार उनकी कविताएँ अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच के अंतर्संबंध को सामने लाती हैं। अतीत की पतनकारी स्थितियों को सामने लाकर वर्तमान की विद्रूपताओं के प्रति जागृत कर उनमें सुधार लाने को सचेत करती हैं व सुन्दर भविष्य का मार्ग दिखाती हैं।

अपनी कविताओं में श्रीकांत वर्मा ने अतीत के इन महत्त्वपूर्ण स्थानों और व्यक्तियों का अत्यंत सांकेतिक प्रयोग समकालीन राजनीतिक-सामाजिक विडम्बना को उजागर करने के लिए किया है। 'मगध' में अतीत से जुड़े इतने प्रसंगों, इतिहास प्रसिद्ध स्थलों की उपस्थिति देख 'अतीत' को लेकर जब उनसे प्रश्न किए गए तो उन्होंने 'केदारनाथ सिंह' और 'विश्वनाथ प्रसाद तिवारी' को बतलाया कि वे अतीत की ओर इसलिए गए हैं कि 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह उसे समकालीन बनाना चाहते हैं।' फिर उन्होंने आगे कहा कि 'वर्तमान से ऊब भी उसका एक कारण हो सकता है लेकिन असली कारण यह है कि अभी तक अतीत की बहुत पहचान नहीं हुई है।' उसके बाद वे यह भी कहते हैं कि 'अतीत के प्रश्न अतीत के ही नहीं वर्तमान के भी प्रश्न हैं।'"[32]

'मगध' की कविताएँ पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अतीत के ध्वंसावशेषों को बीसवीं शताब्दी में उपस्थित किया है। अतीत के वैभव को वर्तमान में ढूँढने की नई और नायाब दृष्टि इस काव्य-संग्रह की कविताओं में मिलती है। मगध, काशी, कोसल, नालंदा, हस्तिनापुर, कपिलवस्तु, कोसाम्बी, अवन्ती, उज्जैनी आदि ऐतिहासिक स्थल वर्तमान परिदृश्य में पूर्णता के साथ आ खड़े होते हैं। इन ऐतिहासिक नामों का सांकेतिक इस्तेमाल करते हुए इतिहास को कसौटी बनाकर वर्तमान को वह परख़ते हैं। अतीत का स्मरण कर वह केवल उसकी गौरव गाथा नहीं गाते अपितु वर्तमान की विसंगतियों, विद्रूपताओं से उनकी मुठभेड़ होती है। बीते वर्षों और वर्तमान की स्थितियों का अपनी कविताओं के माध्यम से परीक्षण कर वह लिखते हैं कि :-

"कुछ भी नहीं होते कुछ हज़ार वर्ष
कुछ हज़ार वर्षों में
कुछ भी नहीं बना
और कुछ भी नहीं बिगड़ा है
बहुत कुछ बना
और बहुत कुछ बिगड़ा है।"[33]

-'युद्ध नायक'

यह पंक्तियाँ एक ओर जहाँ लम्बे समय तक युद्ध जैसे माहौल में अपरिवर्तित रही स्थितियों की ओर इंगित करती हैं वहीं दूसरी ओर उस परिवर्तन की ओर संकेत करती हैं जो व्यक्ति/वर्ग विशेष के जीवन में आया है। एक ओर वह निम्न, ग़रीब, शोषित तबका है जिनका जीवन जैसा कल था वैसा ही आज भी है। वह कल भी उपेक्षित व शोषित था आज भी है। दूसरी ओर वह पूँजीपति और सत्ताधारी वर्ग है जो मूल्यहीनता, विलासिता, स्वार्थान्धता को पाकर हृदयहीन, संवेदनहीन, शोषक हो गया है। जिसके लिए वैभव, विलास ही सर्वस्व है। 'मगध' की कविताओं में वर्तमान की समूची व्यवस्था कठघरे में खड़ी दिखाई देती है। अतीत की गलियों में भटकती यह कविताएँ अपने जीवित वर्तमान का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। इस वर्तमान का स्वरूप सामने लाते हुए वह कहते हैं कि 'वर्तमान को झेल सकना, दिन-ब-दिन, कठिन होता जा रहा है ' इस कठिनाई का कारण वह असंगतियाँ हैं जो वर्तमान में चहुँ ओर व्याप्त हैं। श्रीकांत वर्मा की कविताएँ आज की राजनीतिक' सामाजिक व्यवस्था में गहरे पैठ चुकी उसी अव्यवस्था व राजनेताओं की आचारहीनता को लक्ष्य करती हैं जिसके कारण सामान्य नागरिक का जीवन प्रतिदिन और कठिन हो रहा है। स्वर्णिम, वैभवपूर्ण अतीत वाले भारत देश में जन सामान्य की अनदेखी, उनकी कुंठा, संत्रास व बेचैनी के साथ ही वह सत्ताधारी लोगों के दोहरे चरित्र को भी उद्घाटित करते हैं। 'मगध' की कविताओं में अतीत के माध्यम से वर्तमान राजनीति के उस रूप को वह सामने लाते हैं जिसमें 'जनतंत्र' नाम मात्र का रह गया है। जहाँ जनता अपना 'मत' भी सोच-विचार कर आज़ादी से नहीं दे सकती।

जहाँ विवशता में मतदान वह अवश्य करती है किन्तु 'चुनाव' उसका अपना नहीं होता । जहाँ जनतंत्र मात्र 'वोटतंत्र' बनकर रह गया है । इस स्थिति की अभिव्यक्ति देखिए :-

"फ़ैसला हमने नहीं लिया
सिर हिलाने का मतलब फ़ैसला लेना नहीं होता
हमने तो सोच-विचार तक नहीं किया ।"[34]

-'काशी का न्याय'

यह वह देश है जहाँ 'जनता का तंत्र' है और जनता ही असहाय और निराश दिखती है । यह ऐसा तंत्र है, जहाँ 'जनता' की सुनने वाला कोई नहीं है । 'जनता' उपेक्षित है । उन्हें चिंता सताती है कि ऐसी स्थिति में वह उम्मीद करें तो किससे ? गुहार कहाँ लगाएँ ? समस्याओं का हल किससे माँगें ? क्योंकि जवाब देने वाले की आँखों पर स्वार्थ की पट्टी बंधी है । जनता उनके लिए शून्य है । जनता के शून्य होने का सीधा तात्पर्य है कि वह उपेक्षित है । उनके शून्य यानी नगण्य होने का कारण आज की वह राजनीति ही है जो अपने कर्तव्यों से विमुख है :-

"सच है, ये शून्य हैं -
और तुम एक हो ।
बड़े शक्तिशाली हो'
क्योंकि शून्य के पहले
उसके दुर्भाग्य-सी खड़ी हो ।"[35]

-'संख्या के बच्चे'

यह ऐसा राजनीतिक प्रतिनिधित्व है जिन्हें सब ठीक नज़र आता है । यह वह समय है जब एक लम्बे इंतजार के बाद भी कुछ बदला नहीं है । जनतंत्र से जुड़ी आशाओं का ख़ात्मा हो गया है । शासक वर्ग वही करता है जो वह चाहता है । सबकी नियति निर्धारित है । प्रश्न करने का किसी को कोई हक़ नहीं । सभाएँ बुलाया जाना खानापूर्ति करने जैसा है :-

"हमारा क्या दोष?
न हम सभा बुलाते हैं

न फ़ैसला सुनाते हैं
वर्ष में एक बार
काशी आते हैं-
सिर्फ यह कहने के लिए
कि सभा बुलाने की भी आवश्यकता नहीं
हर व्यक्ति का फैसला
जन्म से पहले हो चुका है।"[36]

-काशी का न्याय'

जनता के तंत्र वाले देश में जब श्रीकांत व्यवस्था को 'जन' के ही प्रति उदासीन देखते हैं, सही बात को अनसुना करने की प्रवृत्ति को पनपता पाते हैं तो करारा व्यंग्य करते हैं। सत्ताधारी किसी तथ्य पर किसी का परामर्श नहीं सुनना चाहते। सुनकर अनसुना करते हैं। यह उनकी निरंकुशता की ओर एक संकेत है। जन की भावनाओं और अपने विचारों को एक साथ पिरोकर सत्य को सामने वह लाते हैं। जनता द्वारा चुने गए जनता के ही प्रतिनिधि किस प्रकार जनता की समस्याओं को पूर्णतः अनसुना कर अपना उल्लू सीधा करते हैं, उसे शब्द देते हुए वह कहते हैं :-

"मैं फिर कहता हूँ

धर्म नहीं रहेगा, तो कुछ नहीं रहेगा-
मगर मेरी
कोई नहीं सुनता
हस्तिनापुर में सुनने का रिवाज़ नहीं-
जो सुनते हैं
बहरे हैं या
अनसुनी करने के लिए
नियुक्त किये गए हैं।"[37]

-'हस्तिनापुर का रिवाज़'

यानी सत्ता या कुर्सी तक जो पहुँच गया है उसका मूल उद्देश्य जनता की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन करना न होकर व्यक्तिगत हित साधन हो गया है । यह विडम्बना ही है कि जिस व्यक्ति को अपना विश्वास देकर अपना प्रतिनिधि बनाकर जन साधारण सत्ता में भेजता है वही उस जन साधारण को भुला देता है । उनकी समस्याओं को अनसुना करता है । 'हस्तिनापुर का रिवाज़' यहाँ पुनः आकार लेता दिखाई देता है । यह वही ऐतिहासिक हस्तिनापुर है जहाँ सत्ता पर काबिज़ शासक स्वार्थलीन होकर हर निर्णय अपने हितार्थ लेता रहा है । प्रजा की समस्याओं, कष्टों को अनदेखा व अनसुना करता रहा है । अतीत के पन्नों पर अंकित उसी हस्तिनापुर को श्रीकांत वर्मा ने वर्तमान में दिखाया है । हस्तिनापुर की ही भाँति कोसल की विचारहीनता पर व्यंग्य बाण चलाते हुए सत्ता में स्थापित लोगों की विचारविहीनता को वह लक्षित करते हैं । वह जानते हैं कि सत्ता में स्थापित लोग कुर्सी के अतिरिक्त किसी प्रश्न, किसी समस्या पर विचार नहीं कर सकते :-

"महाराज बधाई हो ! महाराज की जय हो ।
युद्ध नहीं हुआ-
लौट गए शत्रु...
वे सिर्फ कुछ प्रश्न छोड़ गए हैं,
जैसे कि यह-
कोसल अधिक दिन टिक नहीं सकता,
कोसल में विचारों की कमी है ।"[38]

-'कोसल में विचारों की कमी है'

यह विचारविहीनता एक सही शासन व्यवस्था का अभाव प्रस्तुत करती है । जिस विचारहीनता की बात यहाँ है उसका सीधा सम्बन्ध वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य से है । यह विचारविहीन कोसल आज का सत्य है । कुर्सी पर बैठे सत्ताधारी वर्ग के लोगों के दोगलेपन को श्रीकांत वर्मा ने यहाँ उजागर किया है । सत्ता में रहकर उसके भीतरी चरित्र को भली-भाँति, क़रीब से देखकर उसके कटु सत्य से वह परिचित हो गए थे । वह जानते थे कि सत्ताधारी कहता कुछ और है व करता कुछ और है । वह नीति की बात निरंतर करता है और ग़लत कार्यों में लिप्त रहता है ।

सदाचार बनाए रखने के लिए जन सामान्य के बीच आडम्बर करता है और उसका ख़ुद का आचरण शर्मनाक है । असत्य को वह ओढ़ता-बिछाता है किन्तु सत्य का दुशाला ओढ़े रहता है ।[39] वह व्यसनों से ग्रसित है, व स्वार्थान्ध है । शासक बनने का कोई गुण उसमें नहीं है :-

"मगध में शोर है कि मगध में शासक नहीं रहे

जो थे
वे मदिरा, प्रमाद और आलस्य के कारण
इस लायक
नहीं रहे
कि उन्हें हम
मगध का शासक कह सकें ।"[40]

-'तीसरा रास्ता'

सोलह महाजनपदों में सर्वाधिक प्रसिद्ध 'मगध' उनकी कविताओं में उस जगह का प्रतीक बनकर आता है जो अपने वैभव, शक्ति, समृद्धि के साथ ही निरंकुशता के लिए भी जाना जाता रहा है । जहाँ आतंक, खौफ़ का बोलबाला है । जहाँ व्यक्ति स्वाधीन है किन्तु नाममात्र को क्योंकि युद्ध, हत्या, शासन, आतंक का प्रसार इस प्रकार किया गया है कि चाह कर भी कोई 'हस्तक्षेप' करने की हिमाकत न कर सके । यह वह देश है जहाँ शांति बनाए रखना शासक का सर्वोपरि धर्म है और इस तथाकथित शांति को बनाए रखने, अपने शासन कौशल का लोहा मनवाने के लिए ऐसी व्यवस्था वह करता है कि परिस्थितियाँ भयावह हो जाती हैं और 'मगध कहने को मगध रहता है रहने को नहीं ।' 'हस्तक्षेप' करने को आतुर कोई जागरुक व्यक्ति भी जहाँ विवश महसूस करता है । स्वाधीन देश में शांति बनाये रखने में पराधीनता की बेड़ियाँ इस कदर बाँधी जाती हैं कि :-

"कोई छींकता तक नहीं
इस डर से
कि मगध की शांति
भंग न हो जाय,

मगध को बनाये रखना है, तो,
मगध में शांति
रहनी ही चाहिए ।"[41]

-'हस्तक्षेप'

समकालीन परिदृश्य में मगध को बनाए रखने से सीधा तात्पर्य 'कुर्सी' बनाए रखने से है । 'जनता' उस कुर्सी तक पहुँचने की वह सीढ़ी मात्र है जिस पर पैर रखकर वहाँ तक पहुँचा जा सकता है । इसीलिए चुनाव के समय मतदाताओं का मत हासिल करने के लिए यह राजनेता हर संभव प्रयास करते हैं । जनसामान्य की समस्याओं को समझने, उनके आत्मीय होने का ढोंग करते हैं । प्रत्येक को पहचानते हैं, उन्हें उनके 'होने' का अहसास दिलाते हैं । ग़रीबी की मार झेलता यह सामान्य व्यक्ति उनकी चिंता की धुरी होता है । उन्हें उनकी समस्याओं के भँवर से बाहर निकाल देना उनका एकमात्र लक्ष्य होता है किन्तु, मतदान के तुरन्त बाद स्वार्थ की ऐसी आँधी आती है कि वह सब कुछ भूल जाते हैं । एक ग़रीब रोटी की समस्या को सुलझाने में जुटा व्यक्ति उसके किसी काम का नहीं रह जाता । राजनीति के इस सत्य और जनता के विचारों को कविता में वह इस प्रकार व्यंजित करते हैं :-

"राजनीतिज्ञों ने मुझे पूरी तरह भुला
दिया ।
अच्छा ही हुआ
मुझे भी उन्हें भुला देना चाहिए ।
बहुत से मित्र हैं, जिन्होंने आँखें फेर
ली हैं
क़तराने लगे हैं
शायद वे सोचते हैं
अब मेरे पास
बचा ही क्या है ।"[42]

यह पंक्तियाँ राजनीतिक अवसरवादिता का खुला चिट्ठा हैं । स्वतंत्रता के इतने वर्ष बीत जाने पर भी हाल यह है कि कहीं कोई सुनवाई नहीं है । आज़ादी के बाद राजनेताओं द्वारा किए गए सारे वादे ध्वस्त हो गये हैं । जन सामान्य को पूर्णतः भुला दिया गया है । न्याय व्यवस्था ठीक नहीं है । जनता की समस्याएँ सुनने वाला कोई नहीं है । हृदय को गद्-गद् करने वाले नारे विदारक स्थितियों में कहीं खो गए हैं और जनता परिवर्तन की इच्छा को मन में दबाए अब थक-हार कर, निराश होकर चुप हो गई है :-

"कुहरे में डूब गए हैं कुछ नारे,
धूल में पड़े हैं
कुछ शब्द
उठाओ इन शब्दों को उठाओ
क्रान्ति की प्रतीक्षा करती हुई
जनता सो गयी है !"[43]

-'प्रजापति'

जनता की इस निराशा और ठंडी मुद्रा का कारण है कि :-

"न्यायलय बंद हो चुके हैं - अर्जियाँ हवा में
उड़ रही हैं,
कोई अपील नहीं
कोई क़ानून नहीं,
कुहरे में डूब गयी हैं प्रत्याशाएँ
धूल में पड़े हैं
कुछ शब्द !
जनता थककर सो गयी है ।"[44]

-'प्रजापति'

किन्तु श्रीकांत वर्मा इस सत्य से भली-भाँति परिचित रहे हैं । राजनीतिक विद्रूपताएँ उन्हें जनपक्षधर के रूप में खड़ा करती हैं । राजनीति में रहते हुए 'जन' की अनदेखी के उनके इस

अनुभव और तनावपूर्ण अनुभवों की परिणति 'मगध' में होती है। यह उनके सुनियोजित चिंतन का फल है जो समकालीन भारतीय परिवेश की अनूठी अभिव्यक्ति करता है। 30 जनवरी 1984 को लिखी उनकी डायरी के एक पन्ने से यह पता चलता है। उसमें लिखा है कि "कविताएँ बहुत वर्षों से रुकी पड़ी थीं या अन्दर कहीं दबी पड़ी थीं। अब निकल पड़ी हैं अनायास। मैं रोज़ कविता लिख रहा हूँ। एक नए संसार को ढूँढ रहा हूँ, दूसरों के लिए। अवन्ती, मालवा, उज्जयिनी, क्षिप्रा, अजातशत्रु, पात्रों, चरित्रों, नायकों, नगरों, स्मृतियों का एक रेला है, चला आ रहा है। एक भीड़ है जो उमड़ी पड़ रही है। यही हैं मेरी कविताएँ। इनका प्रमुख सरोकार है - सुख, संहार, नैतिक क्षय। इन कविताओं का एक संग्रह दो महीने के भीतर तैयार कर दूँगा - जिस रफ़्तार से लिख रहा हूँ, उससे तो अभी यही लगता है। पुस्तक का नाम होगा - 'मगध'। मैं जनता हूँ 'मगध' क्या है ? कालांकित नाम।"[45]

सत्ता में रहते हुए श्रीकांत वर्मा शासन की 'जन' के प्रति उदासीनता देख कर और व्यथित होते हैं। व्यथा, अवसाद कविता का मूल स्वर बन जाता है। राजनीतिज्ञों के भाषणों में खो गई खुशहाली, आज़ाद भारत में भी अपरिवर्तित सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ, जनतांत्रिक अव्यवस्था, सामाजिक विषमताएँ, विपन्नता, शोषण, उत्पीड़न, राजनितिक घिनौने व्यक्तिगत सरोकारों से जन सामान्य में उपजी निराशा की अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में मिलती है। राजनीतिज्ञों की जनता के प्रति अनदेखी उन्हें बेचैन करती है। जनता की उपेक्षा और करुण स्थिति को शब्द देते हुए वह कहते हैं :-

"मैं भी एक नदी हूँ, मुझ पर भी शाम है,
मुझ पर भी
धुआँ है,
मुझ में भी लहरे हैं, जो बहुत उदास हैं।
मुझ को भी त्याग गए कुछ स्नेही
मेरी भी नावें ले
चले गए कुछ यात्री,
मेरे भी गान सब पालों की

ओट हुए ।

मैं बहुत उदास हूँ, बहुत ही उदास हूँ ।"[46]

-'शाम, धुँआ और नदी'

जनता और स्वयं कवि की यह उदासी, यह बेचैनी कविताओं के रूप में आकार लेती है । उनका आतंरिक उद्वेलन उन्हें कहने को विवश करता है । उन पर यह आरोप भी कुछ लोगों द्वारा लगाया गया कि सत्ता में आने के पश्चात् उनकी आवाज़ मद्धम हो जाती है । जनतंत्र का कवि 'तंत्र' में शामिल होने तक बेचैन रहता है किन्तु उसके बाद नहीं । किन्तु 'मगध इन आरोपों का करारा रचनात्मक जवाब बनकर सामने आता है । सत्ता में होने वाली अमानवीय उठा-पटक, संवेदनहीनता को वह इस प्रकार शब्दबद्ध करते हैं कि घृणा का भाव उपजता है । 'चिल्लाता कपिलवस्तु' की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती हैं :-

"काशी में

शवों का हिसाब हो रहा है

किसी को

जीवितों के लिए फुर्सत नहीं

जिन्हें है

उन्हें जीवित और मृत की पहचान नहीं ।"[47]

-'चिल्लाता कपिलवस्तु'

यह पंक्तियाँ वर्तमान राजनीतिक स्थितियों की अभिव्यक्ति करने वाली श्रीकांत वर्मा की अनुभवजन्य, नि:संकोच और समर्थ स्वीकारोक्तियाँ हैं । तात्कालिक सन्दर्भों को कोई जागरूक इन कविताओं में सहजता से पकड़ सकता है । उस मनुष्य की आर्त पुकार को यहाँ सुना जा सकता है जिसका कोई अस्तित्व नहीं रह गया है । वह विवशता में बिना विचार किए वही करता है जो उसके आस-पास सब करते हैं । मनुष्य की इस विवशता का चित्रण करते हुए वह लिखते हैं :-

"मैं क्या कर रहा था

जब सब जयकार कर रहे थे ?

मैं भी जयकार कर रहा था -

डर रहा था

जिस तरह

सब डर रहे थे ।"[48]

-'प्रक्रिया'

जिस जनतांत्रिक देश में 'तंत्र का आधार' मानी जाने वाली जनता इतनी विवश हो कि विवेकहीन होकर बस वही करे जो उसे कहा जाए या जो अन्य साथी कर रहे हों, जहाँ उसकी पुकार सुनने वाला कोई न हो जहाँ उसके जीवन का कोई मूल्य न हो, जहाँ 'उज्जयिनी रास्तों से मुँह फेर चुकी हो'[49] वहाँ रहते हुए व्यर्थता बोध न हो यह संभव नहीं । फिर श्रीकांत वर्मा जो सत्ता में रहते हुए उसके सत्य से अभिमुख हो चुके थे उनके लिए वर्तमान को स्वीकार पाना सरल कैसे हो सकता था । यही कारण है कि अतीत में हुई घटनाओं, स्थितयों, व्यक्तियों को वह आधार बनाते हैं और वर्तमान को उसका आईना दिखाकर सचेत करना चाहते हैं ताकि पुनः महाभारत न हो और अतीत के उजाले में वर्तमान में व्याप्त अन्धकार को देख सुधार कर उज्ज्वल भविष्य बनाया जा सके ।

3.3 श्रीकांत वर्मा की काव्य-भाषा व काव्य-शिल्प

किसी भी कवि की काव्य-भाषा और उसकी कविता का शिल्प उसकी कलात्मकता के, रचनात्मकता के, उसके 'कवि' होने के एक महत्त्वपूर्ण पहलू के रूप में देखा जाता है । यह बहस सामान्यतः सुनने को मिलती है कि कोई रचनाकार (कथाकार या कवि) क्यों प्रसिद्ध है ? उसकी विशिष्टता क्या है ? उसकी शैली कैसी है ? ऐसा क्या है जो किसी कवि को 'कवि' बनाता है ? महत्त्व किसका है - अंतर्वस्तु का या शिल्प का ? क्या केवल विषयवस्तु वह तत्त्व है जिसकी अभिव्यक्ति से कोई कवि या कथाकार बन सकता है ? यदि हाँ - तो रचनात्मकता की क्या भूमिका है ? किसी भी रचनाकार की किसी कृति पर बात करते हुए उसकी शैली पर बात क्यों की जाती है ? ऐसा क्या है जो प्रत्येक (रचनाकार) को पृथक करता है ? यदि नहीं - तो शिल्प को महत्ता क्यों न दी जाए ? शिल्प किसी भी रचनाकार की रचना की प्रसिद्धि, लोकप्रियता, महत्ता में महती भूमिका निभाता है । विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति हेतु कवि के सामने यह प्रश्न एक बड़ी चुनौती के

रूप में खड़ा होता है। मानस में उमड़ते-घुमड़ते विचारों को कम से कम शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत कर देना कि ठीक वही विचार सामने आए, निश्चित ही सरल कार्य नहीं है। इसी कार्य की पूर्ति हेतु अपनाई गई विधियाँ 'शिल्प' कहलाती हैं। इन्हीं विधियों से वह विशिष्टता आती है जो एक रचनाकार को औरों से अलग करती है। कोई एक किसी बात को कम से कम शब्दों में कहता है और उसी बात की कोई अन्य ब्यौरेवार प्रस्तुति उचित समझता है। किसी के लिए बात को सीधे शब्दों में कहना ज़्यादा अर्थपूर्ण है और कोई लक्षणा, व्यंजना के सहारे अभिव्यक्ति को सुरुचिपूर्ण बनाता है। किसी कवि के लिए बिना किसी लाग-लपेट के अंतर्वस्तु को अभिव्यंजित करना शिल्पगत विशिष्टता हो सकती है और कोई बिम्ब, प्रतीक, अलंकार, तुक, लय, छंद, नाटकीयता आदि तत्त्वों के सहारे अपने विचारों को अभिव्यक्ति देना अधिक उचित समझता है। महत्त्वपूर्ण है कि बात पाठक तक पँहुचे। पाठक कविता पाठ के पश्चात् प्रभावित हो, सोचने, समझने को विवश हो।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता की विषयवस्तु से किसी भी स्तर पर कम महत्त्वपूर्ण कविता की भाषा और उसके शिल्प को नहीं आँका जा सकता। प्रत्येक कवि काव्य-भाषा और काव्य-शिल्प की ताल विषय वस्तु के साथ बैठाने के लिए कठिन परिश्रम करता है। वह प्रयास करता है कि अपने समय के सच को, अपनी अनुभूतियों को ऐसे शब्दबद्ध करे कि पाठक/समाज के साथ वह बात कर सके। शायद इसीलिए कवि को अपनी ही शैली और भाषा से लड़ने, उसे परिवर्तित करने की आवश्यकता महसूस होती है - ताकि संवाद क़ायम हो सके। आज भी और कल भी क्योंकि कविता तथ्य नहीं देती। कल बासी नहीं होती। अपितु समय बीतने पर नए अर्थ वहन करती है। विशिष्ट अभिप्राय को व्यंजित करने के लिए लिखी जाती है। इसी विशिष्ट व्यंजना हेतु आधुनिक हिंदी कविता की भाषा में, रचना संगठन में बीते वर्षों में अनेक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों की ओर इंगित करते हुए विजयदेव नारायण साही ने कहा कि "हिन्दी कविता की भाषा में पिछले सौ वर्षों में तीन बड़े परिवर्तन हुए हैं। एक तो तब जब कविता की भाषा ब्रज भाषा की जगह खड़ी बोली बनी। दूसरे तब जब इस भाषा में छायावाद ने प्रवेश किया और काव्यभाषा अधिकाधिक संस्कृत गर्भित होती गई। तीसरे आज से लगभग पैंतीस बरस पहले जब छायावाद की

काव्यभाषा से असंतुष्ट होकर कवियों ने नये प्रयोग करने शुरू किये और नये ठेठपन का जन्म हुआ।"[50]

भाषा के स्तर पर होने वाले यह परिवर्तन काव्य-भाषा को नई अभिव्यंजना शक्ति से समृद्ध करते हैं। व्यक्ति विशेष का अनुभव युगीन संवेदनाओं के साथ मिलता है और वह अपनी शैली में विचारों को शब्दबद्ध करता है। अतः संदेह का स्थान नहीं रह जाता कि कविता में भाषा और शैली का समान महत्त्व है। इस सन्दर्भ में अशोक वाजपेयी का मत है कि "कविता में भाषा अनुभव की अभिव्यक्ति और अन्वेषण का माध्यम भर नहीं है, बल्कि स्वयं अनुभव का एक आर्गेनिक ढंग भी है। काव्य और शैली, विषयवस्तु और 'फॉर्म' आदि द्वैतों का स्थान इस नयी पहचान ने ले लिया कि दोनों एक दूसरे से आर्गेनिक ढंग से जुड़े हुए हैं। इसका नतीजा हुआ कि कविता की भाषा में एक नयी मानवीय तात्कालिकता आ गई यानी कि सातवें दशक तक आते-आते कवियों को पुरानी भाषा-व्यवस्था का बिम्ब और प्रतीक विधान उसी तरह बोझिल लगने लगा जैसे कभी प्रयोगवादी कवियों के सामने अलंकार-विधान बोझ सा प्रतीत हुआ था।"

सन् 1960 के बाद कवियों ने कविता की रचना के लिए उस भाषा शैली को अपनाया जो जन सामान्य की भाषा थी। भाषा और शिल्प में होने वाले इन परिवर्तनों को समय और स्थितियों में होने वाले परिवर्तनों के साथ रखकर देखा जाना चाहिए। स्पष्ट है कि कवियों ने साठोत्तरी कविता में उन स्थितियों को अपनी कविताओं की विषयवस्तु बनाया जिन्हें वह स्वयं भोग रहे थे। उन्होंने जो अनुभव किया, जिस सत्य से साक्षात्कार किया ; उसे ज्यों का त्यों रखने और सीधे-साफ़ शब्दों में अपनी बात कहने के लिए भाषा को नवीन जामा पहनाने का प्रयास किया। ताकि, कविता के माध्यम से समय के सच को, अनुभवों को बिना किसी आडम्बर के प्रस्तुत कर सकें। भाषा के हथियार के माध्यम से जीवन, समाज, राजनीति आदि से जुड़े विविध मुद्दों के प्रत्येक पहलू को सामने ला सकें। आधुनिक समय में कविता की भाषा और शैली में परिवर्तन की आवश्यकता की ओर इंगित करते हुए श्रीकांत वर्मा ने अपने एक लेख 'आधुनिक भारतीय लेखन का संकट' में लिखा था कि "आधुनिक भारतीय कविता, किसी एक स्तर पर कार्यरत नहीं। अपने आपसे जूझता हुआ आधुनिक कवि अपने विक्षोभ को एक भयानक आवेग के साथ पेश करता है। वह भाषा की पुनर्रचना के लिए भाषा को नष्ट करता है। वह लय की तलाश में लय का संहार

करता है। वह विचार की खोज में विचार को रद्द करता है। उसकी बुनियादी चिंता भाषा है, जो कि उसका एकमात्र हथियार है - एकमात्र माध्यम जिसके ज़रिये वह अपने साथ, दूसरों के साथ संवाद कर सकता है, अपनी इच्छाएँ, विफलताएँ, चिन्ताएँ और सत्य को व्यक्त कर सकता है। अग्रगामी कवि भाषा के औपचारिक इस्तेमाल के विरुद्ध हैं। विशेषकर बंगाली, मराठी, तेलुगु, कन्नड़ और हिन्दी में युवा कवियों ने भाषा की धज्जियाँ उड़ा दी हैं क्योंकि भाषा की रक्षा का एकमात्र रास्ता यही था। ऐसे बहुत कम समाज होंगें जिन्होंने भाषा का संहार किये बिना उसे जीवित रखा हो। भारतवर्ष में भाषा को जीवित रखने के लिए सैंकड़ों बार उसका संहार किया गया है। इस बार भाषा का संहार कवि कर रहा है , ताकि उसमें अपने समय का प्रमाण वहन करने की क्षमता उत्पन्न हो सके।"[51]

श्रीकांत वर्मा की काव्य-भाषा और काव्य-शिल्प को इन पंक्तियों के सन्दर्भ में देख कर कुछ सुविधा से समझा जा सकता है। वह एक ऐसे कवि थे जिनका राजनीति से सीधा सम्बन्ध रहा। राजनीति की दुनिया में रहकर राजनीतिक विद्रूपताओं की सड़ांध से उनका सीधा साक्षात्कार हुआ। नेहरू युग से जुड़ी उम्मीदें टूटी। आज़ादी के बाद के सपनों के सुन्दर, विकसित, परिवर्तित भारत का स्वप्न खंडित हुआ। वह महानगरीय परिवेश में रहे। घर-जाने की इच्छा आदि से अंत तक बनी रही किन्तु जा नहीं पाए। 'एलिएनेशन' का भाव जिनमें सदैव बना रहा। इस महानगरीय जीवन की विसंगतियों, राजनीतिक विद्रूपताओं, सामाजिक विडम्बनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए निश्चय ही उस भाषा की आवश्यकता थी जिसकी बात अपने लेख की ऊपर उद्धृत पंक्तियों में उन्होंने की। उनकी आरंभिक कविताओं की भाषा और शिल्प में तथा 'मगध' तक आते-आते लिखी गई कविताओं की भाषा और शैली में आए परिवर्तनों को साफ़ लक्षित किया जा सकता है। उनकी आरंभिक कविताओं की भाषा में टटकापन और ताज़गी का अनुभव होता है। जहाँ प्रकृति, प्रेम जैसे विषयों पर अनेक रागात्मक कविताएँ हैं वहाँ शब्द-चयन व उतार-चढ़ाव भी शांत, सौम्य तथा सुख का अनुभव करने वाला है। प्राकृतिक सत्ता पर लिखते हुए वह सहज ही आम-आदमी की दिनचर्या से जुड़ जाते हैं। उदाहरण स्वरूप यह कविता देखी जा सकती है :-

"अँधकार कछुए सा बैठा है पृथ्वी पर

कछुए पर बैठा है नीला आकाश -
इतने बड़े बोझ के नीचे भी
दबी नहीं, छोटी-सी घास ।"[52]

-'घास'

किन्तु जैसे-जैसे उनका अनुभव संसार विस्तृत होता है वैसे ही काव्य-भाषा और काव्य-शिल्प में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है । इस परिवर्तन का आधार उनका वह व्यवहार भी था जिसके कारण अपनी स्थितियों को समझने के लिए वह निरंतर प्रयासरत रहते थे । इसीलिए उनकी भाषा का मुहावरा बदलता है । वह सपाटबयानी को अपना हथियार बनाते हैं । उनकी भाषा 'नंगी' व बेलौस हो जाती है । उसमें आक्रामकता आती है । अपने अंतिम काव्य-संग्रहों तक आते-आते वह बिम्ब और प्रतीकों के माध्यम से समाज के कटु सत्य को अभिव्यक्त करते हैं । जो बिम्ब अपनी कविता में वह खींचते हैं वह उनकी सपाटबयानी के अनुकूल हैं । बिम्बात्मकता और सपाटबयानी में एक समन्वय है जो उनकी अभिव्यक्ति को और प्रभावी बनाता है । उनकी कविताओं में मिलने वाली सपाटबयानी, नाटकीयता, तुकांतता, बिम्ब, प्रतीक, मिथक उनकी भाषा को और अर्थपूर्ण बनाते हैं । ऐसा कि कविता संवाद स्थापित करती है । आधुनिक युग की विसंगतियों पर प्रहार करती है । इन कविताओं की भाषा सरल है किन्तु गंभीर अर्थ का संवहन करती है । उसमें ईमानदारी की अभिव्यक्ति है । उसमें कम शब्दों के होने पर भी व्यंग्य है, रोष है, वक्रता है , तनाव है, खीझ है, क्रोध है जो 'बीसवीं शताब्दी के अड़सठवें वर्ष के बीत जाने' पर भी जन सामान्य की स्थितियों के ज्यों के त्यों रहने और राजनीतिक विद्रूपताओं के और विद्रूप होते जाने के विरुद्ध उपजा है ।

श्रीकांत वर्मा की कविता का सम्बन्ध सीधे-सीधे आम-आदमी की अनुभूति से है । अपने समाज और महानगरीय जीवन में व्याप्त घृणा, कटुता, घुटन, संशय, अंतर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति तथा राजनीतिक विसंगतियों का प्रस्तुतिकरण ही उनकी कविताओं का मूल है । यह अभिव्यक्ति जिस शैली में उन्होंने की है उस पर उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दिखती है । उनकी अभिव्यक्ति सहज है उसमें कुछ ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं है । यानी कविता के सौन्दर्य को बढ़ाने हेतु बिना वजह प्रयोग उन्होंने नहीं किए हैं ।

काव्य-भाषा और काव्य-शिल्प के इन विविध प्रयोगों/रूपों को विस्तार से उनकी कविताओं के विविध उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है । किन्तु, ध्यातव्य है कि काव्यशास्त्रीय पद्धति के आधार पर रीतिकालीन कवियों की भाँति श्रीकांत वर्मा की कविताओं में बिम्ब, प्रतीक, छंद, अलंकार आदि खोजना अनुचित होगा क्योंकि काव्य-शिल्प में इन तत्वों की उपस्थिति उनकी कविताओं में अपने पारंपरिक स्वरूप में नहीं मिलती । वह बिम्बों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि स्थितियाँ स्वतः खुलकर सामने आ जाती हैं । एक उदाहरण द्वारा इसे कुछ ऐसे समझा जा सकता है :-

"एक अदृश्य टाइपराइटर पर साफ़, सुथरे
कागज़-सा
चढ़ता हुआ दिन
तेज़ी से छपते मकान,
घर, मनुष्य ।" [53]

-'दिनचर्या'

इन पंक्तियों में मनुष्य की एक यान्त्रिक क्रिया 'टाइप' करने का दृश्य बिम्बित है । यह बिम्ब अनायास नहीं आया है, सायास है । महानगरीय जीवन में मनुष्य का जीवन इतना यांत्रिक हो गया है कि दिन का चढ़ना और डूब जाना भी एक मशीनी प्रक्रिया जैसा लगता है । प्रकृति के नियमित क्रियाकलापों में भी इसी यांत्रिकता का समावेश है । भावशून्य होते समाज में 'घर' का, 'मनुष्य' का अस्तित्व नहीं है । मकानों के तेज़ी से छपते जाने की क्रिया आज की उस वास्तविकता का पर्दाफ़ाश करती है जहाँ जीवन भी मनुष्य ऐसे जीता है जैसे किसी मशीन का पुर्ज़ा हो । यह उनकी सचेत बिम्ब रचना का प्रकटीकरण है । जहाँ आधुनिकता की ओर बढ़ते मनुष्य जीवन की विसंगतियों की अभिव्यक्ति है ।

अवलोकनीय है कि पारंपरिक बिम्ब-धर्मिता से पृथक सातवें दशक में श्रीकांत वर्मा की कविता में बिम्ब सर्वथा नए रूप में आए हैं जो उनकी कविता को बोझिल नहीं जीवंत बनाते हैं । सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों का तादात्म्य बिबों के साथ बैठाकर सरल व स्पष्ट रूप में विषम से विषम स्थितियों पर वह प्रहार करते हैं । बिम्ब प्रयोग में नई कविता के बाद सातवें दशक में आए इस परिवर्तन की ओर इंगित करते हुए अशोक वाजपेयी ने लिखा था कि "नई कविता बिम्ब-

केन्द्रित रही है और अक्सर कवियों में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त कराके ही उसे जीवंत और प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब-प्रधान कविता कुछ शक की चीज़ बन गई और सपाटबयानी की तरफ़ कई कवि झुके और उसे विश्वसनीय माना जाने लगा।"[54] रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा का विशेष उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा कि "उनमें से हर एक ने सपाटबयानी के मूल्य को पहचाना लेकिन उसे अपनी बुनियादी बिम्ब-धर्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसे उसके साथ संयोजित किया और अपने मुहावरों को और उनसे उजागर होनेवाले काव्य-संसार को समृद्ध किया, चित्रमयता को खोये बिना उसे रोजमर्रा की जीवंतता दी।"[55]

यह प्रयोग उनकी कई कविताओं में देखा जा सकता है। महानगरीय जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी ऊब, संत्रास, एकाकीपन, अजनबीयत हो या राजनीति में व्याप्त स्वार्थान्धता, सत्तालोलुपता, हिंसा, शासकों का जनविरोधी व्यवहार या व्यक्तिगत अनुभूतियों का अंकन ; सभी चित्र उनकी कविताओं में मिलते हैं। उनकी कविताओं में दृश्य-बिम्ब, घ्राण-बिम्ब, श्रव्य-बिम्ब आदि-आदि पृथक रूप में नहीं मिलते अपितु यथार्थ से जुड़ा एक पूर्ण बिम्ब, सम्पूर्ण परिवेश साकार होता है। आतंरिक सत्य मूर्त होकर प्रकट होता है। यहाँ कई उदाहरण दिए जा सकते हैं :-

"मैं अब घर जाना चाहता हूँ

मैं जंगलों

पहाड़ों में

खो जाना चाहता हूँ

मैं महुए के

वन में

एक कंडे-सा

सुलगना, गुँगुवाना,

धुँधुवाना

चाहता हूँ।"[56]

-'घर-धाम'

यहाँ घर जाने को मूर्त करना मात्र कवि का उद्देश्य नहीं है यह सहज स्पष्ट है। महानगरीय परिवेश से ऊब, एकाकीपन की पीड़ा से मुक्ति की चाह के चलते वह घर जाना चाहते हैं। यह घर शहरी परिवेश की चारदीवारी से अलग वह 'घर' हैं जहाँ प्रेम है, अपनापन है, अपने लोग हैं। जहाँ अकेलेपन और अजनबीयत का संत्रास नहीं है। यह पीड़ा कितनी भयावह है कि एक सामान्य व्यक्ति का जीना दूभर है :-

"मैं क्या करूँ ? क्या मैं जीने की कोशिश में
किसी और दुनिया में
जा मरुँ ? "[57]

-'एक दिन'

यह पंक्तियाँ आधुनिक परिवेश की उन स्थितियों का बयान है जहाँ जीने के लिए भी कोई जगह नहीं है। किन्तु फिर भी इस जटिल परिवेश में अपने को टिकाए रखने की असीम कोशिश और उससे जुड़े व्यक्ति संघर्ष का, अपनी आहत भावनाओं का मूर्तिकरण इस बिम्ब द्वारा कवि ने किया है :-

"मैं कुचली कोयल की
सिसकी-सा सिसक रहा
मैं ख़ुद अपने अन्दर
काँटे सा कसक रहा।"[58]

बिम्ब की अभिव्यक्ति यहाँ उपमा अलंकार के माध्यम से हुई है। यहाँ काव्य नायक (मैं) ने अपने जीवन की उस गहन अनुभूति को मूर्त किया है जहाँ वह स्वयं ख़ुद को चुभ रहा है। व्यक्ति जीवन में गहरे पैठ चुकी निराशा को पूरी ईमानदारी के साथ यहाँ उन्होंने प्रतिबिंबित किया है। यह निराशा उस परिवेश की देन है जिसमें रहने को मनुष्य विवश है। किन्तु उसकी जिजिविषा इस परिवेश को उसकी नियति नहीं बनने देना चाहती। इसलिए वह कल्पना द्वारा ऐसा बिम्ब खींचते हैं जिसमें उसके सामर्थ्य और ऊँची उड़ान का दृश्य आँखों के समक्ष आ खड़ा होता है :-

"मैं समूचा आकाश
इस भुजा पर
ताबीज़ की तरह
बाँध
लेना चाहता हूँ ।"[59]

-'घर-धाम'

इस बिम्ब में महत्त्वपूर्ण है कवि के माध्यम से अभिव्यक्त हुई जन साधारण की वह तीव्र आकाँक्षा जो जीवन की विषमताओं पर पार पा आकाश पा लेने को लालायित है ।

राजनीतिक विद्रूपताओं को चित्रित करते बिम्ब भी उनकी कविताओं में भरपूर हैं । जो बिम्ब उनकी राजनीतिक कविताओं में मिलते हैं उनमें ऐतिहासिक पात्रों, स्थलों, नगरों की भी महती भूमिका है । राजनीति से सम्बंधित जो बिम्ब सृष्टि श्रीकांत वर्मा ने की है उनमें बहुत ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध किसी एक स्थिति किसी एक समय किसी एक परिवेश मात्र से नहीं है । एक ओर उनकी कविता भारतीय इतिहास के स्वर्णिम अतीत को समक्ष लाती है जहाँ वैभव था और मगध, कपिलवस्तु, हस्तिनापुर में शासन अपने श्रेष्ठतम रूप में था और दूसरी ओर तत्क्षण, आज़ादी के बाद के भारत की वह तस्वीर आँखों के सामने आ जाती है जो कल्पना में था किन्तु वास्तविकता में नहीं है :-

"यह वह मगध नहीं
तुमने जिसे पढ़ा है
किताबों में,
यह वह मगध है
जिसे तुम
मेरी तरह गँवा
चुके हो ।"[60]

-'मगध'

उनकी कविता 'चिल्लाता कपिलवस्तु' को भी यहाँ देख सकते हैं। जहाँ उस उज्जयिनी, मगध और मिथिला का दृश्य आँखों में बनता है जहाँ अतीत में न्याय, धर्म, क़ानून, दया, विश्वास था किन्तु आज कुछ नहीं रहा :-

"उज्जयिनी
उज्जयिनी नहीं रही -
न न्याय होता है
न अन्याय
जैसे कि
मगध
मगध नहीं रहा -
x x x
किसी में दया नहीं
किसी में
हया नहीं
कोई नहीं सोचता
जो सोचता है
दोबारा नहीं सोचता।
x x x
मिथिला को लीजिए -
कल की बात है
राज्य करते थे विदेह
उसी मिथिला में
शासन करता है सन्देह
किसी को धर्म का डर नहीं -
विश्वामित्र, वशिष्ठ,
कोई नहीं रहा - "[61]

-'चिल्लाता कपिलवस्तु'

श्रीकांत वर्मा के रचना कौशल की यह विशिष्टता है कि जो बिम्ब उनकी कविताओं में आए हैं उनकी बारम्बार प्रयुक्ति और आधुनिक संवेदनाओं और सत्य से सम्बद्धता उन्हें प्रतीकात्मक बनाती है। जैसे उपर्युक्त दो उदाहरणों में जिन ऐतिहासिक स्थलों की व्यवस्था की बात की गई है वह हमारे समक्ष तत्कालीन सकारात्मक व्यवस्था का चित्र तो खींचते ही हैं किन्तु, सत्तालोलुपता और हिंसा का साम्राज्य हो जाने के पश्चात् उस नकारात्मक स्वरूप को भी सामने लाते हैं जिनसे जनता त्रस्त थी। इन बिम्बों की पुनरावृत्ति उन स्थलों की अमानवीयता, हिंसा, अन्याय, अधर्म पर बार-बार दृष्टिपात करने को पाठक को विवश करती है और विकसित होकर यह दृश्य बिम्ब आज से जुड़कर आधुनिक विद्रूपताओं के प्रतीक बन जाते हैं। 'मगध' आज़ादी के बाद के भारत की स्थितियों को प्रतीकित करता है और आज का वह सत्य उद्घाटित हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति 'प्रतीकों' की अनुपस्थिति में कठिन होती।

बिम्ब और प्रतीक श्रीकांत वर्मा की कई कविताओं में एकाकार होते दीखते हैं। यह आश्चर्यजनक नहीं क्योंकि "बिम्ब का सबसे निकटवर्ती शब्द प्रतीक है। प्रायः विचारकों ने दोनों के पारस्परिक स्वरूप को समझने में एक बड़े तथ्य की उपेक्षा की है कि वस्तुतः दोनों में उतना बड़ा अंतर नहीं है जितना समझा जाता है। प्रत्येक प्रतीक अपने मूल में बिम्ब होता है और उस मौलिक रूप से क्रमशः विकसित होकर प्रतीक बन जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक बिम्ब अपने प्रभाव में चाहे जितना ऐन्द्रीय और संवेगात्मक हो, पर अंततः उसकी परिणति किसी प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना में ही होती है।"[62]

श्रीकांत वर्मा की कविताओं में जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वह आधुनिक मनुष्य के सूक्ष्म मनोभावों और आधुनिक जीवन शैली की विडम्बनाओं को प्रस्तुत करने वाले वैयक्तिक प्रतीक हैं। वैयक्तिक प्रतीक वह होते हैं "जिन की रचना कवि के विशिष्ट मानसिक गठन, संस्कार और अनुभूति की एकान्तिकता पर निर्भर करती है।"[63] उनकी कविता का एक उदाहरण यहाँ दृष्टव्य है जिसमें 'कॉकरोच' का प्रतीकात्मक प्रयोग उन्होंने किया है। यहाँ 'कॉकरोच' मनुष्य की उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है जिसके कारण उसे किसी घटना के घटित होने पर, किसी स्थिति में कोई फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि वह जानता है कि उसके होने या न होने का कोई अर्थ नहीं। वह नगण्य है। नगण्य

है इसलिए, बेफ़िक्र है। उसे ज्ञात है कि उसके लिए या उसके कारण कोई प्रत्याशित या अप्रत्याशित घटना नहीं घट सकती :-

"किसी भी देश की ज़मीन पर पड़ा अपनी कॉकरोच
मज़े में फ़िकर नहीं
युद्ध अगर होगा तो होगा
ज़ाहिर है एक कॉकरोच को
लेकर नहीं होगा।
जिसे हो, उसे हो, कॉकरोच को
युद्ध का डर नहीं।"[64]

श्रीकांत वर्मा की कविताओं में हुआ ऐतिहासिक पात्रों व स्थलों का प्रतीकात्मक प्रयोग भी सराहनीय है। अशोक, मगध, कपिलवस्तु, कोसल आदि आधुनिक राजनीतिक-सामाजिक जीवन की गतिविधियों को प्रतीकों के सफल प्रयोग द्वारा वह सामने लाते हैं। ऐतिहासिक चरित्र सम्राट अशोक को आज के सन्दर्भ में वह प्रस्तुत करते हैं। सिर झुकाए अशोक के शांति के मार्ग पर चलने का निर्णय कैसे उसके लिए हास्यास्पद स्थितियाँ पैदा करता है यह इन पंक्तियों में दृष्टव्य है :-

"केवल अशोक ने शस्त्र रख दिए हैं
केवल अशोक
लड़ रहा था
केवल अशोक सिर झुकाए हुए है
और सब
हँसते-हँसते दोहरे हो रहे हैं।"[65]

-'कलिंग'

जब केवल अशोक लड़ रहा है और जब सिर झुकाए अशोक पर सब हँस रहे हैं तब वह केवल ऐतिहासिक पात्र अशोक नहीं है। वह प्रतीक है उस व्यक्ति का जो हिंसा का मार्ग छोड़ शांति के मार्ग की ओर चल पड़ा है और जो मानवीय विडम्बनाओं के विरोध में आज अकेला लड़ रहा है।

कलिंग युद्ध का ऐतिहासिक भारतीय नायक "अशोक प्रतीक है भारत की शांतिप्रिय नीति का जो लम्बे अरसे से पूरी दुनिया में अपनी शांतिप्रिय नीति की लड़ाई लड़ता आ रहा है । यह अशोक कलिंग युद्ध का ऐतिहासिक पात्र ही नहीं, और वह न केवल युद्ध के विरोध में भारत की शांतिप्रिय नीति का प्रवक्ता है, बल्कि पूरी दुनिया में मानवीय शोषण और आतंक से सताए हुए आम आदमी का बयान है, जो देशकाल की सीमाओं से बाहर आकर मानवीय दास्ता के खिलाफ आवाज़ उठाता दिखाई पड़ता है ।"[66]

कवि श्रीकांत वर्मा की कविताओं में आए ऐतिहासिक स्थल और पात्र 'काव्यगत प्रतीक' हैं जो उनकी अंतर्दृष्टि, उनके विचारों और आधुनिक भारतीय राजनीतिक दृष्टि को सामने लाते हैं । वर्तमान में सत्ता में व्याप्त लोगों की स्थिति यह है कि वह शासन में बने रहने के लिए, शक्ति पर अपना एकाधिकार बनाए रखने के लिए लड़ रहे हैं । हम सब वह पा लेने को आतुर हैं जिसका वास्तव में आज कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है । समृद्धि, वैभव, सुख, शांति, सौहार्द्र से भरपूर वह साम्राज्य व्यक्तिगत स्वार्थ की आँधी में कहीं खो गया है । यह श्रीकांत वर्मा के प्रतीकात्मक प्रयुक्ति कौशल का ही फल है कि बिना कुछ अधिक किए आज की राजनैतिक अस्थिरता पर वह मारक प्रहार कर देते हैं । जिस शासन व्यवस्था पर काबिज़ होने के लिए बड़े-बड़े नाम, शक्तियाँ लड़ रही हैं, जिस राजधानी पर सभी अधिकार कर लेना चाहते हैं वह आज एक किम्वदन्ति बन चुका है :-

"महोदय ! अब आप ही दीजिये
जवाब,
समझाइये -
यह वही पाटलिपुत्र है,
जिसके लिए
लड़ रहे हैं
अजातशत्रु, बिम्बिसार,
चन्द्रगुप्त,
हम और आप

समझाया आपने ?

महोदय,

सुनी उनकी टिप्पणी ?

'मूर्ख

एक किंवदन्ती के लिए लड़ रहे हैं।"[67]

-'किंवदन्ती'

काशी, कपिलवस्तु, कोसल, पाटलिपुत्र, हस्तिनापुर, अवन्ती, मिथिला, मगध आदि वर्तमान राजनीतिक परिवेश के प्रतीकार्थ हैं । वर्तमान में जनतान्त्रिक व्यवस्था चलाने वालों की विचारविहीनता और उसके परिणामस्वरूप इस व्यवस्था पर मंडराते ख़तरे को व्यंजित करते हुए वह साफ़ कहते हैं :-

"कोसल अधिक दिन तक

टिक नहीं सकता

कोसल में विचारों की कमी है।"[68]

-'कोसल में विचारों की कमी है'

विचारविहीनता प्रतीक है अपंग मनःस्थिति का । कोसल में विचारों का अनुपस्थित होना व्यंजित करता है वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य को । स्थितियाँ इतनी भयावह हो गई हैं कि सत्ता में बने रहने के लिए कोई कुछ भी कर सकता है । विविध पार्टियाँ एक-दूसरे पर लांछन लगाने के अनगिनत बहाने ढूँढती हैं । कब कौन कुशासन करने लगे, कौन व्यक्तिगत हितों हेतु उसका साथ दे कहा नहीं जा सकता । कारण है कि सही के साथ रहना किसी का उद्देश्य नहीं, बस 'हार' कोई स्वीकार नहीं करना चाहता । अपनी कमियों को सुधार अपने पक्ष को मजबूत करने की जगह विपक्ष पर अँगुली उठाना या दल बदल लेना आज अधिक प्रचलन में है । क्योंकि :-

"व्यास ने कहीं नहीं कहा

कि हारने के बाद भी पक्ष मत बदलो
हार को स्वीकार करो
कुशासन पर भीष्म की तरह
मृत्यु का इंतज़ार करो ।"[69]

-'पितामह'

राजनैतिक जीवन की क्रूर सच्चाइयों को साफ़-साफ़ अभिव्यक्त करने के लिए अपने अंतिम दो काव्य-संग्रहों 'मगध' और 'गरुड़ किसने देखा है' में कवि ने अनेक प्रतीक गढ़े हैं । 'मगध' काव्य-संग्रह की कविताएँ राजनीति में हुए उनके व्यक्तिगत अनुभवों का प्रस्तुतीकरण है । सत्ता में बने रहने के लिए एक मित्र भी कभी दूसरे की पीठ में ख़ंजर घोंपता है तो कभी शत्रु को गले लगाता है । उसमें 'न हया है न दया है' । सभी की आँखों पर 'मकड़ी का जाल' है । जिसकी आधारभूमि में स्वार्थ है, 'शिकार' की आकाँक्षा है, स्वयं को लाभ पहुँचाने की चरम लालसा है । मकड़ी का यह जाल प्रतीक है उस वृत्ति का जो आज मानव जीवन का अभिन्न अंग बन गई है । जिसका निर्माण ईर्ष्या, द्वेष, बैर, लोभ, संवेदनहीनता रूपी सामग्री से हुआ है :-

"दूसरे की नहीं तो पहले की ।
सभी की आँखों पर
मकड़ी का जाल था ।"[70]

प्रतीक योजना से श्रीकांत वर्मा की काव्य-भाषा समृद्ध हुई है । कम शब्दों में बहुत कुछ व्यंजित करने की शक्ति से संपन्न हुई है । इन प्रतीकों का प्रयोग युगानुरूप करते हुए उन्हें वर्तमान सन्दर्भों में उन्होंने ढाला है । बिम्बों और प्रतीकों के कुशल प्रयोग के साथ ही शब्दों का कुशल संयोजन भी उनकी कविताओं में मिलता है । इन कविताओं में वह आत्मसमीक्षा करते हैं, वैयक्तिक संस्पर्श से आगे बढ़ते हैं, अर्थ चमत्कार उत्पन्न कर हर बार मिथकों में, इतिहास में घटित घटनाओं के साथ नवीन अर्थ जोड़ देते हैं । जैसे :-

"हृदय ! मेरा हृदय ! मैं कहाँ
बेच आया अपना हृदय !
आँखें ! मेरी आँखें ! मैं
कहाँ छोड़ आया अपनी आँखें -
नंगी घुमाई जा रही है
जुए में हारी हुई स्त्री !
मैं देख नहीं सकता ।"[71]

उनके शब्द संयोजन, तुकों पर बात करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि 'अर्थ गंभीर काव्य के अभाव में तुक कोरा कौतुक बन सकता था किन्तु श्रीकांत वर्मा के सधे हाथों इसका प्रयोग कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक गहरे अर्थ की व्यंजना के लिए हुआ है' जैसे :-

"मैं हरेक नदी के साथ
सो रहा हूँ
मैं हरेक पहाड़
ढो रहा हूँ ।
मैं सुखी
हो रहा हूँ
मैं दुखी
हो रहा हूँ
मैं सुखी-दुखी होकर
दुखी-सुखी
हो रहा हूँ
मैं न जाने किस कंदरा में
जाकर चिल्लाता हूँ : मैं

हो रहा हूँ । मैं

हो रहा हूँ s s ।"[72]

-'मायादर्पण'

इसी शाब्दिक खिलवाड़ के माध्यम से एक ही कविता के पहले भाग में वह अतीत और दूसरे भाग में वर्तमान की स्थिति को सामने ला खड़ा करते हैं । उदाहरणार्थ :-

"अकेला नहीं था वह

सेना थी,

हाथी थे

वाद्य थे,

तामझाम था ।"[73]

x x x

"अकेला नहीं है वह,

सेना है,

हाथी है,

घोड़े हैं,

रथ हैं,

वाद्य हैं,

तामझाम है ।"[74]

-'वापसी'

जीवन और समाज में व्याप्त समस्याओं, विसंगतियों को श्रीकांत वर्मा ने अपने रचनाकौशल द्वारा 'सपाटबयानी' के माध्यम से मारक रूप में प्रस्तुत किया है । उनकी 'सपाटबयानी' में तीखा व्यंग्य है, कटुता है, मारक क्षमता है, चीज़ों को उसके सही रूप में रखने की शक्ति है, बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के साथ हो रही अमानवीयता और क्रूरता को उसके नंगे रूप में रखने का सामर्थ्य है । सामाजिक-राजनीतिक जीवन के सजीव चित्र उन्होंने सपाटबयानी का प्रयोग करते हुए कविताओं में उकेरे हैं । जब कविताओं में यथार्थ की अभिव्यक्ति करने की प्रवृत्ति घटी ऐसे में

श्रीकांत वर्मा ने चीज़ों को उसके सही रूप में रखने, उन्हें उनके वास्तविक नाम से पुकारने हेतु सपाटबयानी को अपनाया। उनके सामने भी यह समस्या थी कि लिखा कैसे जाए क्योंकि सत्य को यथारूप रखने के अपने ख़तरे थे :-

"इस भयानक समय में कैसे लिखूँ
और कैसे नहीं लिखूँ !
सैंकड़ों वर्षों से सुनता आ रहा हूँ
घृणा नहीं, प्रेम करो -
किससे करूँ प्रेम ? मेरे
चारों ओर हत्यारे हैं !
नागरिकों ! सावधान, रास्ते के दोनों ओर
बधिक हैं -
जुपिटर के महल से चुराई हुई बिजलियाँ
आस्तीन में छिपाए हुए
सैनिक हैं।"[75]

-'प्रजापति'

इस सपाटबयानी ने 'वैचारिकता' को बढ़ावा दिया। भोगे हुए यथार्थ को बिना किसी आडम्बर के अभिव्यक्त किया। भाषा में वह शक्ति आई जिससे पाठक के साथ संवाद स्थापित करना सरल हुआ। जनतांत्रिक व्यवस्था को खिलौना बनाकर अपना उल्लू सीधा करने वाले लोगों के कुटिल व्यवहार को सामने लाने के लिए सपाटबयानी का ही प्रयोग श्रीकांत वर्मा ने किया :-

"कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा)
षड्यंत्र की
कुछ और लोग

सारा समय

कसमें खाएँगे

लोकतंत्र की ।"[76]

-'समाधि लेख'

"सपाटबयानी वाली इस भाषा में भावात्मक आवेग और एक विशेष प्रकार का 'सिनिसिज्म' है । इस भाषा को आक्रामक बनाने में श्रीकांत वर्मा का विशेष योगदान है ।"[77] वह अपने जीवन की विडम्बनाओं को भी स्पष्ट रूप में सामने लाते हैं :-

"हे ईश्वर ! सहा नहीं जाता मुझसे अब

औरों की सुविधा से

जीने का ढंग

सही नहीं जाती है मुझसे

कानाफ़ूसी, मूर्खता

सिनेमाघर, लड़कियाँ

ख़ुशामद

और

गर्द ।"[78]

-'प्रेस वक्तव्य'

यह दूसरों की सुविधा से जीने की विवशता केवल उनकी नहीं समाज में प्रत्येक मनुष्य की है । सब घिघियाते हैं, रिरियाते हैं, ख़ुशामद करते हैं और गर्द में जीते हैं । किसी को किसी की चिंता नहीं । न देश की, न समाज की, न सम्मान की । इसीलिए वह कहते हैं कि 'मगध में कोई नहीं रहा कृशकाय' । निडर होकर, बिना किसी आडम्बर के आज़ादी के बीस वर्ष बाद की भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था, राजनीतिक मूल्यों में हुई गिरावट को दर्ज़ करते हैं और टूटी अपेक्षाओं को कुछ यूँ शब्दबद्ध करते हैं :-

"साग में नमक, राजनीति में ईमान

जीने में मज़ा

नहीं रहा । नहीं रहा वह सब जिसे होना चाहिए था
ईसा की बीसवीं शताब्दी के अड़सठवें
वर्ष में ।"[79]

-'आध घंटे की बहस'

सपाटबयानी के अतिरिक्त नाटकीयता भी उनकी कविताओं में कई जगह मिलती है । इसी नाटकीयता के द्वारा कवि सत्य को सुरुचिपूर्ण तरीके से उघाड़ता है । 'शब्दलाघव और संवादात्मकता' भी भाषा में समाहित है । इन विशिष्टताओं को एक साथ कविता में संयोजित कर वर्तमान की उत्तेजना को, विद्रूपताओं को, सत्य को व्यंग्य करते हुए वह सामने ला खड़ा करते हैं । इस सन्दर्भ में यह पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं जिनमें नाटकीयता है, शब्द्लाघवता है, संवाद है और सत्तालोलुप शासकों पर व्यंग्य की मार है :-

"द्रोणाचार्य ! इन्हें मत सिखाओ
धनुर्विद्या
ये सत्य के लिए नहीं
सत्ता के लिए लड़ रहे हैं ।"[80]

-'प्रजापति'

शब्दक्रीड़ा, बिम्ब, प्रतीक, नाटकीयता, सपाटबयानी सभी तत्व उनकी काव्य-भाषा और शिल्प को मजबूत बनाते हैं । इसका कारण इन तत्वों का नवीन सन्दर्भों के साथ जुड़कर आना है । उनकी अनुभूति और उनकी चेतना काव्य-भाषा के इन पक्षों के साथ मिलकर एक ऐसे रचना-संसार की सृष्टि करती है जो, वर्तमान के कटु सत्य को अभिव्यक्त करने का सर्वाधिक सफल माध्यम है । प्रतीकों, मिथकों, बिम्बों का समन्वय सपाटबयानी के साथ करके सरल भाषा में यथार्थ को वह अभिव्यक्ति देते हैं । यह उनके शिल्प की सफलता है कि प्राचीन के माध्यम से नवीन, अतीत के माध्यम से वर्तमान की सृष्टि वह करते हैं । उनमें आक्रोश नहीं, तेवर नहीं किन्तु, मारक क्षमता है । चोटिल वह करते हैं । उनकी कविता की भाषा वह भाषा है जो बेचैनी उत्पन्न करती है । सपाटबयानी, व्यंग्य चुभता है । उनके शब्दों का प्रयोग वास्तविकता को यथारूप सामने लाता है क्योंकि जिस सत्य का बयान उनकी कविताएँ करती हैं उसके लिए कोई और शैली, कोई और भाषा

सार्थक नहीं हो सकती थी । भाषा में बेलौसपन और स्पष्टवादिता के होने पर भी अपने काव्य-कौशल से कविताओं में सपाटता श्रीकांत वर्मा ने नहीं आने दी । आक्रामकता उसका महत्त्वपूर्ण अंश हो गई । नाटकीयता ने उसे शक्तिशाली बनाया । हर विषय को उसकी गहराई के साथ प्रस्तुत किया । इतिहास प्रसिद्ध नामों, स्थलों के प्रयोग द्वारा वास्तविक और वर्तमान घटनाओं को अभिव्यक्त किया और अपनी कविताओं में गहन अर्थ सृष्टि की । श्रीकांत वर्मा की भाषा और शिल्पगत सहजता, सरलता, शांतिपूर्ण आक्रामकता और नित नवीन परिवर्तनों का समाहार उन्हें स्वातंत्रयोत्तर हिंदी कविता में विशिष्ट स्थान दिलवाता है ।

सन्दर्भ

[1] समकालीन काव्य-यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 164 पर उद्धृत

[2] समकालीन काव्य-यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 164 पर उद्धृत

[3] श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 109

[4] श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी

[5] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 17

[6] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 13

[7] समकालीन काव्य-यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 163 पर उद्धृत

[8] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 29

[9] समकालीन काव्य-यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 168-169 पर उद्धृत

[10] सरहद पर, सं. राजेन्द्र मिश्र, पृष्ठ संख्या - 6

[11] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या- 329-330

[12] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 42-43

[13] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 28

[14] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 28

[15] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 36

[16] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 69-70

[17] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 76-77

[18] श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 14

[19] मेरे समय के शब्द, केदारनाथ सिंह, पृष्ठ संख्या - 169

[20] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 95

[21] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 75

[22] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 96

[23] मेरे समय के शब्द, केदारनाथ सिंह, पृष्ठ संख्या - 171

[24] श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड - 2, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 9 स्मृतिन्यास (पत्रिका)

[25] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 76

[26] समकालीन काव्य-यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 191 पर उद्धृत

[27] पूर्वग्रह (जनवरी-जून - 1988) सं. अशोक वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 54

[28] समकालीन काव्य-यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 203 पर उद्धृत

[29] समकालीन काव्य-यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 204 पर उद्धृत

[30] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 72

[31] श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 443

[32] समकालीन काव्य यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 194-195

[33] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 93

[34] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 17

[35] श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 80

[36] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 17

[37] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 20

[38] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 44

[39] मित्रों-
दो ही
रास्ते हैं :
दुर्नीति पर चलें
नीति पर बहस
बनाए रखें

x x x

सत्य के लिए
मर मिटने की आन नहीं छोड़ें ।" तीसरा रास्ता, मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 92

[40] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 92

[41] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 87

[42] श्रीकांत वर्मा रचनावली : भाग - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 371

[43] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 97

[44] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 99

[45] श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड - 2, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 368-369

[46] श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 100

[47] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 23

[48] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 99

[49] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 27

[50] आधुनिक हिन्दी कविता में विचार, बलदेव वंशी, पृष्ठ संख्या 107 पर उद्धृत

[51] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 375

[52] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 27

[53] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 38

[54] कवि कह गया है, अशोक वाजपेयी, पृष्ठ संख्या -110-111

[55] कवि कह गया है, अशोक वाजपेयी, पृष्ठ संख्या -110-111

[56] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 43

[57] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 42

[58] श्रीकांत वर्मा रचनावली, भाग - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 188

[59] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 44-45

[60] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 12

[61] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 22-23

[62] आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान, केदारनाथ सिंह, पृष्ठ संख्या - 28

[63] आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान, केदारनाथ सिंह, पृष्ठ संख्या - 28

[64] श्रीकांत वर्मा रचनावली : भाग - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी , पृष्ठ संख्या - 268

[65] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 105

[66] आठवें दशक की हिंदी कविता, अरविन्द कुमार त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 8

[67] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 31-32

[68] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 45

[69] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 125

[70] श्रीकांत वर्मा रचनावली : भाग - 1, सं. अरविन्द त्रिपाठी , पृष्ठ संख्या - 428

[71] समकालीन काव्य-यात्रा, नंदकिशोर नवल, पृष्ठ संख्या - 189 पर उद्धृत

[72] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 35

[73] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 98

[74] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 98

[75] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 96

[76] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 72

[77] साठोत्तरी हिंदी कविता परिवर्तित दिशाएँ, विजय कुमार, पृष्ठ संख्या - 153

[78] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 65

[79] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 75

[80] श्रीकांत वर्मा संचयिता, सं. उदयन वाजपेयी, पृष्ठ संख्या - 97

अध्याय – चार

धूमिल की कविता में जनतंत्र

अध्याय – चार
धूमिल की कविता में जनतंत्र

4.1 संसद से सड़क तक : सत्ता का जनतंत्र या जनता का जनतंत्र

4.2 सपाटबयानी और धूमिल का काव्य

4.3 धूमिल की काव्य-भाषा

अध्याय - चार

धूमिल की कविता में जनतंत्र

किसी भी रचनाकार की रचनादृष्टि का निर्माण युगीन परिस्थितियों से होता है। एक सजग, सचेत मानस आस-पास घटित घटनाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। युगीन परिवेश और उसके प्रभावों की अभिव्यक्ति के लिए एक रचनाकार सदैव तत्पर रहता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' भी इस सम्बन्ध में अपवाद नहीं है। समकालीन स्थितियों का गहन प्रभाव उनकी कविताओं पर पड़ा है। युगीन परिस्थितियों की उथल-पुथल के प्रभावस्वरूप उनकी कविताओं में भी हलचल देखी जा सकती है। उनके तीन काव्य-संग्रह हैं :- संसद से सड़क तक (1972), सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र (1975) और कल सुनना मुझे (1977)। इन काव्य-संग्रहों की अधिकाँश कविताओं में राजनीतिक विसंगतियों, जनतांत्रिक व्यवस्थागत मुद्दों, जनता की दयनीय दशा का चित्रण है। उनकी काव्यदृष्टि का आधार व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी। सामाजिक स्थितियों की विडंबनाओं के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने मनुष्य को देखा और उनकी समस्याओं को समझा है। उनके काव्य का परिवेश वह परिवेश है जिसमें आम व्यक्ति की आकांक्षाएँ टूट रही थीं, आज़ादी से जुड़े स्वप्न, स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गए थे, राजनीति मूल्यों और प्रतिबद्धताओं से विलग हो रही थी। कुर्सी की जोड़-तोड़ में आम-आदमी का जीवन प्रभावित हो रहा था। साधनहीनता बढ़ रही थी। विविध राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं से देश और देशवासियों को लाभान्वित करने वाली योजनाएँ विफल हो रही थी, निर्धनता, बेरोज़गारी जैसी समस्याओं का कोई ठोस समाधान नहीं मिल रहा था। एक के बाद एक घटित होने वाली घटनाओं (जिनका वर्णन प्रथम अध्याय में किया गया है) के कारण एक ओर देश के विकास कार्यक्रम प्रभावित हो रहे थे तो दूसरी ओर, 'संसद' और 'सड़क' के बीच अविश्वास बढ़ रहा था, असंतोष में वृद्धि हो रही थी। यहाँ 'संसद' से तात्पर्य 'राजनीति' और 'सड़क' से तात्पर्य 'आम-जन' से है।

कवि सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' ने सातवें दशक में राजनीतिक मूल्यों के विघटन और जनता के मोहभंग को अपनी कविता का विषय बनाया। अपने पहले ही काव्य-संग्रह 'संसद से सड़क तक' में उन्होंने 'संसद' और 'सड़क' से जुड़े मुद्दों को उठाया। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों

को अभिव्यक्ति दी । देश के राजनैतिक-सामाजिक यथार्थ को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया। अपने समय के राजनीतिक चरित्र को उजागर किया और इस क्रम में जनता, जनतंत्र, संसद, चुनाव, योजनाएँ, रोज़गार जैसे शब्द उनकी कविताओं में बारम्बार प्रयुक्त हुए । इन शब्दों की पुनर्प्रयुक्ति उनकी उस मानसिकता का परिणाम है जो आज़ाद भारत देश के कई लोगों की कठिनाइयों, शोषण और दयनीय दशा को देखकर व व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभव से बनी । सत्ता में स्थापित लोगों की कुर्सीप्रियता, भाषणबाजी, खोखले नारे, आम-आदमी की उपेक्षित स्थिति का सीधा साक्षात्कार उन्होंने अपनी कविताओं में किया । आज़ादी के लगभग 15-20 वर्षों बाद भी हर ओर से निराश आम-आदमी की समस्याओं को समझा और कटु शब्दों में उसकी आलोचना की । संसदीय अव्यवस्था के लिए ज़िम्मेदार लोगों पर प्रहार करते हुए उन्होंने अनेक कविताएँ लिखी । आज़ादी के वास्तविक मायने क्या होते हैं ? जनतंत्र का अर्थ क्या है ? जनतंत्र में जनता की स्थिति क्या है ? इन प्रश्नों ने उनकी कविताओं में बारम्बार स्थान पाया है :-

"क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है ।"[1]

-'बीस साल बाद'

या

"दरअसल अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है ।"[2]

-'पटकथा'

या

"जनता क्या है ?
एक भेड़ है

जो दूसरों की ठण्ड के लिए

अपनी पीठ पर ऊन की फ़सल ढोती है ।"[3]

-'पटकथा'

जनता, आम-आदमी धूमिल की कविता का केन्द्रीय चरित्र है । यह वह आदमी है जिसका कोई विशेष वर्ग, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय, जाति नहीं है । वह बस 'आदमी' है । वह आदमी जिसकी इच्छा आज़ाद भारत में चैन से जीने की है, जो भूखे पेट सोना नहीं चाहता, जो एक सुरक्षित छत चाहता है । यह वह आदमी है जो मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरंतर संघर्ष करता है, यातनाएँ सहता है, हड्डियाँ घिस कर मेहनत करता है और अंततः उसकी स्थिति उस भेड़ की सी हो जाती है जिसकी ऊन दूसरों को ऊष्मा पहुँचाने के काम आती है । उनकी कविताओं में आज़ादी, जनतंत्र, संसद, जनता जैसे शब्दों की पुनरावृत्ति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उनकी काव्यदृष्टि का मूलाधार 'संसद' और 'सड़क' से निर्मित है । इस सम्बन्ध में डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने अपनी पुस्तक 'समकालीन हिन्दी कविता' में लिखा भी है कि 'धूमिल की कविता सच्चे अर्थों में सड़क और संसद अर्थात् जनता और जनतंत्र की कविता है ।'

अपनी कविताओं के माध्यम से धूमिल ने आज़ाद देश के उत्साहित नागरिकों की आशाओं का गहराई से साक्षात्कार किया है । जनता के जीवन से जुड़ी विवशता और वस्तु-स्थिति की सही पहचान कर उसे नग्न रूप में प्रस्तुत किया है । व्यवस्था विरोध और जनता की पक्षधरता उनकी कविताओं के मूल में है । स्वातंत्रयोत्तर भारत में राजनीतिक विसंगतियों पर उनकी पैनी दृष्टि रही है । देश के तमाम युवाओं की तरह 'धूमिल' की भी दृष्टि 'जनतांत्रिक व्यवस्था' को सर्वोत्तम व्यवस्था के रूप में देखती है । इसीलिए जनतंत्र में जनता के हितार्थ जब कुछ फलीभूत होता नहीं दीखता तो वह विरोध करते हैं । उनकी कविता जन-विरोधी नीतियों पर प्रहार करती है । 'जनतंत्र' के नाम पर नेताओं की दिखावटी प्रवृत्ति के प्रति तीक्ष्ण आक्रोश वहाँ दिखाई देता है । नेमिचंद्र जैन ने अपने एक लेख अदम्य सर्जनात्मक ऊर्जा का कवि धूमिल में लिखा है कि "देश की और अपनी ऐसी बेरहम तस्वीर इतनी बेबाकी से उतार सकना एक समर्थ सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा ही संभव है, और उचित ही यह कविता धूमिल को समकालीन कवियों में एक अलग, ख़ास और ऊँचा दर्जा देती है । 'पटकथा' शायद पिछले दस-पन्द्रह बरस की कविताओं में एकदम बेजोड़ है । उसमें

एक ऐसे कवि का आत्मसाक्षात्कार है, जो समाज के बहुत से सूत्रों से जुड़ा है और उसकी हलचल, कशमकश और यातना का सहभागी है, उसके बदले जाने और बदलने के काम में हिस्सा लेता है और उसे कविता का ज़रूरी धर्म मानता है, मगर फिर भी जो अपने अनुभव को किसी चालू या परिचित नारे की बजाय एक सर्वथा निजी मुहावरे में व्यक्त करता है।"[4] यद्यपि उनका यह विचार धूमिल की प्रसिद्ध कविता 'पटकथा' को लेकर है किन्तु धूमिल की सम्पूर्ण काव्य रचना में यह बेबाकी और समाज से सम्पृक्ति देखी जा सकती है।

स्पष्ट है कि धूमिल का काव्य 'जनतंत्र' से जुड़ा है। प्रश्न यहाँ यह है कि यह 'जनतंत्र' धूमिल की दृष्टि में कैसा है और किसका है ? क्या यह 'जनतंत्र' का वही स्वरुप है जिसकी अपेक्षाएँ आज़ादी के बाद आई जनतांत्रिक व्यवस्था से थी ? यह 'जनतंत्र' जनता का है या सत्ता तक सीमित है ? यदि जनतंत्र की यह तस्वीर अपेक्षित तस्वीर नहीं है तो उनकी दृष्टि में यह जनतांत्रिक तस्वीर क्या है ? 'धूमिल की कविता में उपस्थित जनतंत्र' के स्वरूप से उनकी जनतांत्रिक दृष्टि का पता कैसे चलता है और उनकी दृष्टि, उनके विचारों को पाठक तक पहुँचाने में 'सपाटबयानी' की क्या भूमिका है ? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर अगले उपाध्यायों के माध्यम से पाने का प्रयास यहाँ किया जाएगा।

4.1 संसद से सड़क तक : सत्ता का जनतंत्र या जनता का जनतंत्र

जीवनानुभवों और विचारधारा को बेबाकी से प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध कवि सुदामा पाण्डेय की कविताओं से गुज़रने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कविताएँ जनतंत्र की कविताएँ हैं। उनकी कविताओं में आम आदमी/जनता के केवल सुख-दुःख ही नहीं, उनकी नियति से भी सरोकार मिलता है। जनतांत्रिक व्यवस्था वाले भारत देश में जनता की स्थिति का जायज़ा वह लेते हैं। वह पाते हैं कि लम्बे संघर्ष के बाद मिली आज़ादी और जनतांत्रिक व्यवस्था स्थापित होने के बावजूद इस देश की अधिकाँश जनता वंचित है और शोषित है। जनता की, जनता द्वारा व जनता के लिए होने वाली शासन प्रणाली के बावजूद 'जनता' ही जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी असमर्थ है। यह स्थिति उस भारत देश की है जिसका संविधान बिना किसी भेदभाव के सभी वर्ग, वर्ण, जाति, धर्म, लिंग के लोगों को समान अधिकार व अवसर प्रदान करना सुनिश्चित करता

है । फिर भी, वह पाते हैं कि ग़रीब और ग़रीब हो रहा है । जिसके पास पूँजी है, शक्ति है वह निरंतर विकास पथ पर आगे बढ़ रहा है किन्तु ज़रूरतमंद अवसर की तलाश में भटक रहा है और उसकी तकलीफ़ें दिन-प्रतिदिन बढ़ रही हैं ।

धूमिल की दृष्टि उस वर्ग पर जाकर टिकती है जो कमरतोड़ मेहनत के बाद भी पेट भरने तक की सहूलियत जुटा पाने में भी असमर्थ थे । शोषित, दमित, निर्धन और मजदूर वर्ग की समस्याओं और दयनीय स्थितियों की ओर उनकी दृष्टि के केन्द्रित होने का कारण उनका व्यक्तिगत जीवनानुभव था । 'तलवार ब्रदर्स प्राइवेट लिमिटेड' नामक लकड़ी व्यवसायी की फ़र्म में लगभग डेढ़ वर्ष उन्होंने पासिंग ऑफिसर के पद पर नौकरी की । इस दौरान उन्होंने श्रमजीवी जनता और पूँजीपति वर्ग के बीच की असमानता को देखा और मजदूरों के साथ होने वाले घृणित व्यवहार को महसूस किया । इस कटु अनुभव ने धूमिल की उस चेतना की निर्मिती की जिसके दर्शन उनकी कविताओं में होते हैं । धूमिल जन साधारण की शोषित, दमित, दयनीय स्थिति को देखकर क्षुब्ध होते हैं । वह पाते हैं कि नैतिक व सामाजिक मूल्य विघटित हो गए हैं । मानवीयता समाप्त हो गई है । स्वार्थ सर्वोपरि हो गया है और जनता भीड़ बनकर रह गई है । नेता वर्ग जनता को मोहक नारों व विकास के वादों से बरगला रहा है । जनता का भीड़ में तब्दील होना एक भयावह स्थिति है जिससे स्वयं को वह अलग रखना चाहते हैं ताकि वह आवाज़ बन सकें जिससे भीड़ की समस्याओं का समाधान खोजा जा सके क्योंकि, भीड़ की आवाज़ बेअसर होती है ।

युगीन यंत्रणा व पाशविकता से परिचित होते हुए भी धूमिल निराश नहीं होते । अपना ध्यान उन मुद्दों व समस्याओं पर केन्द्रित करते हैं जो 'जनतंत्र' में जनता की दुर्दशा के लिए ज़िम्मेदार है । इस क्रम में वह 'संसद' व 'सड़क' के बीच की दूरी का साक्षात्कार करते हैं और जानने का प्रयास करते हैं कि 'जनतंत्र' वास्तव में किसका है सत्ता का या जनता का ? इस प्रक्रिया में उनकी राजनीतिक चेतना महती भूमिका निभाती है ।

अपनी राजनीतिक समझ के आधार पर जनतंत्र के नाम पर होते छलावे को समझ आम-आदमी को वह सचेत करना चाहते हैं । अतः राजनीतिक स्थितियों को नए कलेवर में प्रस्तुत करते हैं । समकालीन सामाजिक समस्याओं व जटिलताओं को राजनीति के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तथा

जनजीवन में जागरुकता लाने को तत्पर दीखते हैं। राजनैतिक मूल्यहीनता उन्हें विचलित करती है। मूल्यों के अवमूल्यन को उद्घाटित करते हुए वह साफ़ कहते हैं :-

"मैंने अहिंसा को
एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा
मैंने ईमानदारी को अपनी चोरजेबें
भरते हुए देखा
मैंने विवेक को
चापलूसी के तलवे चाटते हुए देखा...।"[5]

-'पटकथा'

धूमिल देखते हैं कि राजनीति में, समाज में सभी का विवेक चुक रहा है। राजनेता कुर्सी व सत्ता के लोभ में जनता को भुला रहे हैं और जनता छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए विवश होकर चापलूसी करने को विवश है। अपनी भूख से लड़ते-लड़ते मूल साधन जुटाते-जुटाते इतनी थक गई है कि अब समझौता करने को मजबूर है। पेट में भूख के कारण मची क्रान्ति को शान्त करने हेतु रोज़गार की तलाश में दर-दर भटकते हुए और किसी क्रान्ति की बात सोच भी नहीं सकती है। सम्पूर्ण व्यवस्था का दारोमदार सत्ता के हाथ में है और सत्ता जनता को विकास, परिवर्तन का लोभ देकर कठपुतली की तरह नचा रही है। इसी व्यवस्था को बनाए रखने की पक्षधर है। यहाँ 'जन' का विचार कोई मायने नहीं रखता। फलतः यह जनता मौन या तटस्थ होकर पुनः उसी सत्ता के पक्ष में मतदान करती है :-

"और वह सड़क -
समझौता बन गयी है
जिस पर खड़े होकर
कल तुमने संसद को
बाहर आने के लिए आवाज़ दी थी
नहीं, अब वहाँ कोई नहीं है

मतलब की इबारत से होकर
सब के सब व्यवस्था के पक्ष में
चले गए हैं।"[6]

-'नक्सलबाड़ी'

धूमिल यह पाते हैं कि व्यक्ति और व्यवस्था के बीच रिक्तता आ गई है। 'संसद' को 'सड़क' से कुछ ख़ास सरोकार नहीं है। सत्ता में स्थापित लोग संपन्न, विपन्न सभी को एक ही दृष्टि से देखते हैं। फलतः जन साधारण की, ज़रुरतमंदों की जीवनशैली में कोई परिवर्तन नहीं आता। यह वह समय है जब एक ओर विकास का डंका पीटते चाँद पर जाने की बातें हो रही थी और दूसरी ओर एक बड़ा वर्ग अब भी जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में भी समर्थ नहीं था :-

"ऐसे में
जबकि खरगोश की छलाँगे और उदासी
चन्द्रलोक की यात्राएँ और नीग्रो समस्याएँ
एक ही लकीर पर खड़ी हों
बड़ी मुश्किल से अपना हो पाता है
धूप में टूटता हुआ एक दिन।"[7]

-'यात्रा प्रसंग'

वह पाते हैं कि संसद और सड़क के बीच गहरी खाई है और 'जनतंत्र' जनता की नहीं सत्ता की बपौती बनकर रह गई है। राजनैतिक वर्ग की मूल्यहीनता, कुर्सीप्रियता, चरित्रहीनता, संवेदनशून्यता 'जनतंत्र' को एक हथियार की तरह प्रयुक्त करती है। 'जनतंत्र' के नाम पर आम-आदमी को बरगलाने का प्रयास यह राजनीतिक वर्ग करता है। 'जनतंत्र' की रोज़ सैंकड़ों बार हत्या होती है और फिर भी यह व्यवस्था बाहर से सजी-धजी स्वस्थ तैयार मिलती है :-

"और हवा में एक चमकदार गोल शब्द
फेंक दिया है 'जनतंत्र'
जिसकी रोज़ सैंकड़ों बार हत्या होती है

और हर बार

वह भेड़ियों की ज़ुबान पर ज़िन्दा है।"[8]

-'शहर में सूर्यास्त'

'जनतंत्र' की हत्या करने वालों को वह भेड़िया कहते हैं। यह भेड़िये उनकी दृष्टि में वह हैं जो नवस्वतंत्र भारत की नवनिर्मित जनतांत्रिक व्यवस्था में नए स्वप्न देखने वाले लोगों व बच्चों का शोषण करने में भी नहीं हिचकिचाते :-

"एक मकान उठता है

एक बूढ़ा आदमी

उस पर झंडे की तरह उड़ने लगता है

उसके पांच बच्चे नींव में

चुन दिए जाते हैं।"[9]

-'मकान'

कहने के लिए जनता के जनतंत्र वाले इस देश में यह स्थिति उस आम-आदमी की है जो अप्रत्यक्षतः सर्वेसर्वा है, किन्तु वास्तव में सामाजिक, आर्थिक विषमताओं में निरंतर पिस रहा है। इस पिसते, संघर्षरत आदमी की पीड़ा धूमिल को व्याकुल करती रही है। इस व्याकुलता की आधारभूमि उनकी वह दृष्टि है जो 'जनतंत्र' को अपने हित के लिए प्रयुक्त करने और अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु जनता को मोहरा बनाने में किंचित् न हिचकने वालों के सत्य को देख लेती है। जनतांत्रिक मूल्यों की हत्या होते देख वह बौखला जाते हैं और राजनेताओं के अपनी सत्ता बनाए रखने की लालसा की पूर्ति हेतु प्रयुक्त किए जाने वाले पैंतरों के पीछे के सत्य को सामने लाते हैं। देश सेवा, स्वतंत्रता, विकास, परिवर्तन का नारा देकर जनता को मूर्ख बनाने की सत्ताकाँक्षियों की चाल को समझ कर जनता को उससे रू-ब-रू करवाना चाहते हैं :-

"उस मुहावरे को समझ गया हूँ

जो आज़ादी और गाँधी के नाम पर चल रहा है

जिससे न भूख मिट रही है, न मौसम

बदल रहा है।"[10]

-'अकाल दर्शन'

एक जनतांत्रिक देश में 'भूख' की आड़ लेकर अपना उल्लू सीधा करने की प्रवृत्ति का अनावरण धूमिल ने अपनी कविताओं के माध्यम से किया है। देश के पूँजीपति वर्ग द्वारा नेताओं और अफ़सरों का सरंक्षण प्राप्त कर आम जनता का शोषण किया जाना 'धूमिल' को चोटिल करता था। किसानों, मजदूरों के बीच रहकर वह उनकी समस्याएँ सुनते थे और जानते थे कि आम जन इस शोषण प्रक्रिया से अनभिज्ञ है और सत्ताधारी वर्ग ग़लत को सामने आने नहीं देना चाहता :-

"मैंने जब भी उनसे कहा है देश, शासन और राशन
उन्होंने मुझे रोक दिया है
अक्सर, वे मुझे अपराध के सही मुकाम पर
अँगुली रखने से मना करते हैं।"[11]

-'अकालदर्शन'

x x x

गोदाम अनाज से भरे पड़े थे और लोग
भूखों मर रहे थे।"[12]

-'पटकथा'

जनतांत्रिक व्यवस्था में एक ओर अनाज से गोदामों का भरा रहना व दूसरी ओर ग़रीबों का भूख से तड़पना ग़ैर-बराबरी और अव्यवस्था का प्रमाण है। जनतंत्र के नाम पर होने वाले इस पाखंड को धूमिल ने उघाड़ा है। "उनकी कविता भी भारतीय जनतंत्र की स्थितियों का सीधा साक्षात्कार करती है, राजनैतिक ढोंग, छल, पाखण्ड और मानव विरोधी हरकतों पर धूमिल की कविता कड़ा प्रहार करती है।"[13]

संसद (जनतंत्र और उस व्यवस्था को चलाने वालों) के 'सड़क' (जनता) को अनदेखा करने की प्रवृत्ति उनके मन में निरंतर चुभती रहती थी। इस सन्दर्भ में उनके मित्र राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय की एक टिपण्णी उल्लेखनीय है। उन्होंने कहा था कि "भारतीय लोकतंत्र की कमजोरियाँ उसे संसद से सड़क तक बिखरी दीखती थीं। वह कहता था कि एक आदमी रोटी खाता है, दूसरा रोटी बेलता है, पर तीसरा रोटी से खेलता है और तीसरे आदमी को दण्डित करना होगा। क्या धूमिल या

धूमिल की कविता इस तीसरे आदमी को दण्डित करा सकी ? क्या तीसरे आदमी ने रोटी से खेलना बंद कर दिया ? ज़ाहिर है, ऐसा कुछ नहीं हुआ, किन्तु जागरुक निगाहों की फ़ौज बढ़ती जा रही है । यही धूमिल की उपलब्धि है और मेरी समझ से यह काफ़ी बड़ी उपलब्धि है ।"[14] धूमिल की यह चिंता जनतांत्रिक व्यवस्था के केंद्र 'संसद' के सामने प्रश्न भी खड़ा करती है :-

"एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ
'यह तीसरा आदमी कौन है ?'
मेरे देश की संसद मौन है ।"[15]

-'रोटी और संसद'

यह मौन उन्हें चुभता है और वह संसद की कथनी और करनी के अंतर को दिखलाते हैं, उसे तेली की वह घानी कहते हैं जिसमें मिलावट है और यह स्थिति तब है जबकि देश की जनता के जीवन का दारोमदार उस पर है । वहाँ बैठे नेतागण जनता द्वारा ही चुने गए हैं ताकि उनके जीवन के सुधार सम्बन्धी नीतियाँ बना सकें । नैतिक रूप से उन्हें जनता के प्रति समर्पित होना चाहिए किन्तु वास्तविकता इस अपेक्षित समर्पण के बिलकुल उलट है क्योंकि वहाँ बैठे नेतागण जनता के लिए नहीं निजी हितों के लिए प्रतिबद्ध हैं । वह कहते बहुत हैं किन्तु करते कुछ और ही हैं :-

"मुझसे कहा गया कि संसद
देश की धड़कन को
प्रतिबिंबित करने वाला दर्पण है
जनता को

जनता के विचारों का
नैतिक समर्पण है
लेकिन क्या यह सच है ?
या यह सच है कि
अपने यहाँ संसद,
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है ।"[16]

-'पटकथा'

जनतांत्रिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए बने केंद्र 'संसद' में सत्तासीन लोगों को जब धूमिल स्वार्थ भावनाओं से पूरित देखते हैं तो जनतांत्रिक देश में विकास के तथाकथित कर्णधारों की भूमिका पर प्रहार करते हैं । उनका स्वर उन लोगों के चेहरों को बेनकाब करता है जो जनतंत्र को सत्ता तक सीमित करने के लिए हर संभव कुटिल प्रयास करते हैं । जो 'जनतंत्र' में जनता की हिस्सेदारी को 'मतदान' तक सीमित करने के पश्चात् उन्हें पूर्णतः नज़रंदाज़ करते हैं और इस प्रकार जनतंत्र जनता का नहीं सत्ता का होकर रह जाता है । 'जनतंत्र' जन सामान्य से ही अलग हो जाता है और देश की जनता 'निरर्थक' शब्द के अतिरिक्त कुछ और नहीं रह जाती :-

"और यह मेरे देश की जनता है
जनता क्या है ?
एक शब्द
सिर्फ एक शब्द है
कुहरा और कीचड़ और काँच से
बना हुआ ।"[17]

-'पटकथा'

'जनता के जनतंत्र' वाले देश में जनता की कीचड़ व कुहरे सदृश स्थिति उस प्रश्न के उत्तर के रूप में सामने आती है कि जनतंत्र सत्ता का है या जनता का। क्योंकि जन समुदाय की जीवन स्थिति उस कटु सत्य का प्रमाण है जिसमें कुछेक लोग 'सड़क' को रौंदते चले जा रहे हैं और जनता मात्र नए षड्यंत्रों का शिकार हो रही है। यहाँ जनता का कोई तंत्र नहीं है, जनतांत्रिक व्यवस्था धूमिल की दृष्टि में देश के लोगों को फुसलाने का एक बहाना मात्र है। इसी के चलते सत्ताधारी व सत्तालोलुप नेतागण चुनाव के दौरान विकास की बातें कर भोली जनता को बरगलाने का प्रयास करते हैं। इस पर व्यंग्य करते हुए वह कहते हैं कि :-

"हाँ यह सही है कि इन दिनों
मंत्री जब प्रजा के सामने आता है
तो पहले से
कुछ ज्यादा मुस्कुराता है
नये-नये वादे करता है
और यह सब सिर्फ घास के
सामने होने की
मजबूरी है
वर्ना उस भले मानुस को
यह भी पता नहीं है कि विधानसभा भवन
और अपने निजी बिस्तर के बीच
कितने जूतों की दूरी है।"[18]

-'पटकथा'

सत्ताधारी नेतागणों के इस दोहरे चरित्र से धूमिल का चोटिल व क्रोधित होना उस मोहभंग या स्वप्नों के टूटने का परिणाम है जिन्हें हथियार बनाकर हर बार जनता को अपने पक्ष में मत करने के लिए प्रयोग किया जाता है। जनता सामाजिक व्यवस्था और व्यक्तिगत जीवन में सुधार की अपेक्षा करके सत्ता में रहने वाले लोगों पर विश्वास करती है और उम्मीद करती है कि आज़ादी के बाद, जनतंत्र आने के पश्चात् उसकी जीवन स्थितियों में बेहतरी आएगी। लोगों को रहने के लिए घर,

खाने को रोटी और शिक्षा जैसी सुविधाएँ प्राप्त होंगी । किन्तु उनके हाथ निराशा लगती है और जनतंत्र का खोखलापन सामने उपस्थित हो जाता है :-

"मैंने इंतज़ार किया-
अब कोई बच्चा
भूखा रहकर स्कूल नहीं जाएगा ।
अब कोई छत
बारिश में नहीं टपकेगी ।
मैं इंतज़ार करता रहा
इंतज़ार करता रहा
जनतंत्र, त्याग, स्वतंत्रता,
संस्कृति, शांति, मनुष्यता
ये सारे शब्द थे
सुनहरे वादे थे
खुशफ़हम इरादे थे ।"[19]

-'पटकथा'

इस राजनीतिक भ्रष्टाचार, झूठ ने ही सामाजिक व्यवस्था और आम जनता की जनतंत्र के प्रति आस्था को प्रभावित किया । इसी कारण तमाम आकर्षक योजनाओं के बावजूद गाँवों व शहरों में अधिकाँश लोग कठिन परिस्थितियों का सामना करने को विवश हुए । गाँवों के विकास की ओर किसी की नज़र नहीं गई । शहरों में भी एक-आध समुदाय या वर्ग के लोगों को छोड़कर साधारण वर्ग पर ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी, अभाव, महँगाई की मार पड़ी । आज़ादी के बाद दो दशक बीत जाने पर भी जब परिस्थितियाँ पतनोन्मुख हुई, अवसरवाद, भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता और अपराधीकरण बढ़ा तो जनता की 'स्वराज', 'रामराज', 'जनतंत्र' से जुड़ी आस्था का भी पतन हुआ । आत्मकेंद्रित शासनप्रणाली व समाज व्यवस्था ने प्रतिकूल वातावरण का निर्माण किया । जनतंत्र में व्यवस्था की विसंगतियों से ऐसी विडम्बनात्मक स्थितियाँ उपजी कि जनतंत्र सत्तासीन या शक्ति

सम्पन्न लोगों के एकाधिकार में चला गया और जनता स्थिति सुधार की उम्मीद में निष्क्रिय मुद्रा धारण करने को विवश हुई या कठपुतली बन कर रह गई :-

"जनता क्या है ?
गाँवों में गंदे पनालों से लेकर
शहर के शिवालों तक फैली हुई
'कथाकलि' की एक मुद्रा है
यह जनता ।"[20]

-'पटकथा'

जनता की इस स्थिति के लिए भी धूमिल जनतान्त्रिक प्रणाली में व्याप्त अव्यवस्था को ज़िम्मेदार मानते हैं और इस कारण लोकतंत्र, संसद, चुनाव का विरोध करते हैं क्योंकि चुनावों के माध्यम से मतदान द्वारा जनता के प्रतिनिधियों को संसद में भेज देना मात्र 'जनतंत्र' का सफल होना नहीं है। 'जनतंत्र' की सफलता 'जनता' की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, उनकी आज़ादी, उनके विकास और उनकी संतुष्टि से पूर्ण होती है। जबकि भारत देश का आम आदमी रोटी जुटाने और सिर ढकने के जुगाड़ में जुटा रहता है। विद्रूप जनतांत्रिक व्यवस्थापकों की अनदेखी के कारण आम व्यक्ति का जीवन बदतर होता चला जाता है। वह दिन भर कमरतोड़ मेहनत के बाद भी बुनियादी ज़रूरतों को पूर्ण नहीं कर पाता। समूचा परिवार मेहनत करता है किन्तु आराम से बैठने भर की जगह का प्रबंध नहीं कर पाता। धूमिल की कविता 'कमरा' इसी जनतांत्रिक विसंगति को उजागर करती है। जहाँ 'पिता एक्का हाँकता है/ माँ कोठी में बर्तन माँजती है/ बेटी जवान है उसके जिम्मे/ संतरों की बिक्री का काम है।' फिर भी इस जनतंत्र में 'जन' की गहरी आस्था है। क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति और संविधान निर्माण के साथ ही उनके मस्तिष्क में इस 'जनतंत्र' के प्रति अटूट विश्वास और सकारात्मक पहलुओं का ख़ाका खींच दिया गया है :-

"जनतंत्र में
उसकी श्रद्धा
अटूट है

उसको समझा दिया गया है यहाँ
ऐसा जनतंत्र है जिसमें
ज़िन्दा रहने के लिए
घोड़े और घास को
एक जैसी छूट है।"[21]

-'पटकथा'

इसी 'एक जैसी छूट' के लोभ के कारण जनता बार-बार मोहित होती है और 'मत' देने की अपनी शक्ति के आधार पर पुनः इस जनतांत्रिक व्यवस्था में अपनी आस्था व्यक्त करती है । किन्तु, विडम्बना तब सामने आती है जब जोश, जागृति, उम्मीद और विश्वास पेट की आग के आगे चुक जाता है। वादों के चक्रव्यूह में फँस कर वह अपना मत देने जाता है किन्तु आँतों के जाल में फँस कर 'अतीत' या 'शब्द' या 'शोषित' बन कर रह जाता है। इसकी अभिव्यक्ति अपनी 'चुनाव' कविता में करते हुए वह लिखते हैं :-

"यह आखिरी भ्रम है
दस्ते पर हाथ फेरते हुए मैंने कहा
तब तक इसी तरह
बातों में चलते रहो
इसके बाद-
वादों की दुनिया में
धोखा खाने के लिए
कुछ भी नहीं होगा
और कल जब भाषा-
भूख का हाथ छुड़ा कर
चमत्कारों की ओर वापस चली जाएगी
मैं तुम्हें बातों से उठाकर

आँतों में फेंक दूंगा
वहाँ तुम-
किसी सही शब्द की बगल में
कविता का समकालीन बनकर
खड़े रहना
दस्ते पर हाथ फेरते हुए
मैंने चाकू से कहा ।"[22]

-'चुनाव'

कवि धूमिल को यह कटु सत्य क्षुब्ध करता है कि इस जनतांत्रिक व्यवस्था की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी होने के बावजूद जनता की जीवन स्थितियाँ आँतों को शाँत रखने यानी भूख मिटाने तक ही सीमित रहती हैं। हर बार चुनाव आते हैं, वादे किए जाते हैं, जनता को अपने पक्ष में करने के लिए सत्तावर्ग के लोग हर संभव प्रयास करते हैं किन्तु जनता की वास्तविक स्थिति में कोई बदलाव नहीं आता । जनतांत्रिक व्यवस्था की मूल प्रक्रिया अर्थात् चुनावों को इसी कारण वह व्यर्थ बताते हैं क्योंकि चुनावों के माध्यम से नई उम्मीद तो आती है परन्तु हालात नहीं बदलते बल्कि चुनावों के बाद महँगाई बढ़ जाती है। योजनाएँ कागज़ों पर ही तरक्की करती हैं, वास्तव में जहाँ विकास की आवश्यकता है वहाँ तक कोई योजना या किसी की दृष्टि नहीं जाती। सामान्य जन-जीवन तिरस्कृत ही रहता है और संसद में बहस या कार्यवाही के मुद्दों में 'जनता' और उनका जीवन अनुपस्थित । धूमिल अपने काव्य संग्रह 'सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र' में संकलित कविता में लिखते हैं 'सारा माहौल जब एक नए चुनाव की/ तैयारी में मशगूल है/ वहाँ/ जीवन/ अब भी/ संसद की कार्यवाही से बाहर निकाले गए वाक्य की तरह/ तिरस्कृत है ।'

विद्रोही तेवर के कवि धूमिल मानते हैं कि अपना जनतंत्र वास्तविक जनतंत्र नहीं है क्योंकि इस लोकतंत्र में असमानता व्याप्त है । विकास, सुविधाएँ समाज के सभी वर्गों तक समान रूप में नहीं पहुँची हैं । योजनाओं, सुविधाओं, विकास के साधनों का वितरण असमान है । कागज़ों पर किए जाने वाले विकास कार्यों का क्रियान्वयन नहीं हो रहा। नवस्वतंत्र देश में संविधान निर्माण व

जनतान्त्रिक व्यवस्था द्वारा देश में संप्रभुता, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय, समान अवसर व स्वतंत्रता की जो बात कही गई उसे व्यवहार में पूर्णतः नहीं लाया जा सका है। सत्तारूढ़ दल द्वारा समाजवाद लाने का सुनहरा ख़्वाब जो 'जनतंत्र' की सर्वेसर्वा जनता को दिखाया गया वह वास्तव में अपनी कमियों को छिपाने का एक माध्यम मात्र है। इस देश का समाजवाद बाहर-भीतर अलग है अर्थात् जैसा दिखता है वास्तव में वैसा नहीं है। जनता के भीतर पनपती असंतोष की अग्नि को शांत करने का एक उपाय है जो सत्ताधारियों ने अख्तियार कर लिया है। धूमिल इसे एक आधुनिक मुहावरा कहते हैं जिसे दोहरा कर सत्तारूढ़ या सत्तालोलुप वर्ग अपना सुरक्षा घेरा बनाता है :-

"भूख और भूख की आड़ में
चबायी गयी चीज़ों का अक्स
उनके दाँतों पर ढूँढना
बेकार है। समाजवाद
उनकी जुबान पर अपनी सुरक्षा का
एक आधुनिक मुहावरा है
मगर मैं जनता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिस पर 'आग' लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है।"[23]

-'पटकथा'

धूमिल की समाजवादी दृष्टि के दर्शन 'मोचीराम' कविता में भी होते हैं। उस कविता में वह विषमतारहित समाज की स्थापना पर ज़ोर देते हैं और सीधे शब्दों में कहते हैं :-

"बाबू जी, सच कहूँ
मेरी निगाह में,
न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है,

मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है ।"[24]

-'मोचीराम'

जिस व्यक्ति की दृष्टि में हर वर्ग, जाति, लिंग वर्ण का व्यक्ति समान हो उसके लिए किसी भी आधार पर किया जाने वाला भेदभाव स्वीकार्य नहीं हो सकता । यही कारण है कि धूमिल के तेवर जनतंत्र में जनता की अनदेखी होते देख आक्रामक हो जाते हैं । वह पाते हैं कि 'समाजवाद' चंद लोगों तक सीमित हो गया है, उसके नारे जोर-शोर से अवश्य दिए जा रहे हैं लेकिन उसमें जनता की भागीदारी नगण्य है । सत्ताधारी और पूँजीपति वर्ग की साँठ-गाँठ के कारण पूँजीपति वर्ग ने देश में आज़ादी के बाद तथाकथित समाजवादी व्यवस्था के होते हुए भी दिन दूनी व रात चौगुनी तरक्की की है । इस तरक्की की पृष्ठभूमि में मजदूर, किसान, निम्न वर्ग का शोषण किया है । देश में भुखमरी, अकाल जैसी स्थितियों में दम तोड़ते, मजबूर होते मनुष्य को देख कर भी अपने मालगोदामों को मुनाफ़े के लिए अनाज से भर कर रखा । समाजवाद का दम भरने वाले इस देश में दयनीय स्थितियों में विवश होकर जीते निम्न वर्ग का निरंतर शोषण हुआ फिर भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में यह वर्ग सदैव उपेक्षित रहा :-

"वहाँ बंजर मैदान

कंकालों की नुमाइश कर रहे थे

गोदाम अनाज से भरे पड़े थे और लोग

भूखों मर रहे थे
मैंने महसूस किया मैं वक्त के
एक शर्मनाक दौर से गुज़र रहा हूँ ।"[25]

-'पटकथा'

यह भूख कवि की कविताओं में अनेक जगहों पर दिखती है । इस भूख का वर्णन जनतंत्र की वास्तविकता का उद्घाटन है । यह प्रतिबिम्ब है उस जनतांत्रिक व्यवस्था की असफलता का जिसमें सर्वस्व जनता के हाथ में होने पर भी देश में एक बड़ी संख्या में लोग भूख से मर रहे हैं ।

समाजवाद, समानता, विकास के वादों, योजनाओं के बावजूद स्वतंत्र भारत के इस तथाकथित जनतंत्र ने 'भुखमरी' दी है। 'भूख' की समस्या मूलतः जनतंत्र में अव्यवस्था से जुड़ी है। अवसर की असमानता व ग़रीब जनता के शोषण से यह समस्या और बढ़ती है किन्तु राजनीति इस तथ्य को अस्वीकार कर इसका कारण बढ़ती जनसंख्या जैसे मुद्दों को बनाती है और भूख जैसी समस्या के लिए जनता को ही ज़िम्मेदार ठहराती है :-

"भूख कौन उपजाता है
वह इरादा जो तरह देता है
या वह घृणा जो आँखों पर पट्टी बाँध कर
हमें प्यास की सट्टी में छोड़ देता है ?
उस चालाक आदमी ने मेरी बात का उत्तर
नहीं दिया।
उसने गलियों और सड़कों और घरों में
बाढ़ की तरह फैले हुए बच्चों की और इशारा किया
और हँसने लगा।"[26]

-'अकाल दर्शन'

अपनी कविताओं में धूमिल देश की व्यवस्था का संचालन करने वाली 'संसद' से जनता की रोटी छीन कर, भूख से खेलने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। लेकिन प्रश्न के उत्तर में संसद मौन रहती है क्योंकि वह जानती है कि सत्ता में पहुँचे लोग वही हैं जो कुर्सीलोलुप हैं। जनतंत्र में जनता के लिए इस समस्या का समाधान करने हेतु सत्ता में भेजे गए प्रतिनिधियों का ध्यान 'स्व' तक केन्द्रित है। परिणामतः जनतांत्रिक व्यवस्था होने के बावजूद न वर्ण-वर्ग भेद मिटा है न ही सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं। एक ही उम्र में दो अलग वर्ग के लोगों की स्थितियाँ भिन्न हैं। एक ही उम्र में 'माँ का चेहरा झुर्रियों की झोली बन गया है/ और उसी उम्र में पड़ोसी की महिला के चेहरे पर प्रेमिका के चेहरे सा लोच है।'

धूमिल भूख की विभीषिका से भली-भाँति परिचित थे। उनका मानना था कि ग़रीबी और शोषण की स्थिति देश में चारों ओर है। 'रोटी' जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसलिए राजनेता वर्ग ग़रीब को और उसकी रोटी को अपना सबसे बड़ा हथियार बनाता है। वह जानता है कि क्रोध कितना भी हो, क्रान्ति का रूप नहीं ले पाएगा। भूखा व्यक्ति यदि आवाज़ उठाएगा तो 'रोटी' के लिए ताकि अपना व अपने परिवार का पेट भर सके। रोटी की चाह में जीवन की अन्य विषमताओं और विसंगतियों पर उसका ध्यान नहीं जाएगा :-

"मेरा गुस्सा
जनमत की चढ़ी नदी में
एक सड़ा हुआ काठ है।"[27]

x x x

"उन्होंने समझ लिया है कि.....
एक भुक्खड़ जब गुस्सा करेगा,
अपनी अंगुलियाँ
चबाएगा।"[28]

-'भाषा की रात'

पेट भर रोटी जुटा पाने की इस विवशता के कारण जन साधारण चुप रहता है, कोई प्रश्न नहीं करता। लेकिन धूमिल जनसाधारण की निष्क्रियता को देख कर भी हार नहीं मानते। वह जानते हैं कि जनता किसी दिन अवश्य जागेगी। उनके भीतर कुलबुलाता असंतोष और क्रोध क्रान्ति का रूप अवश्य लेगा। अभी क्रान्ति उनके लिए 'किसी अबोध बच्चे के/ हाथों की जूजी है' किन्तु धूमिल जानते हैं कि जब भी विरोध होगा स्थितियों में परिवर्तन आएगा। जब जनता का संशय और डर टूटेगा तब उनके भीतर की आग भभक कर अवश्य बाहर आएगी। इसीलिए देशवासियों को अपने भीतर जलती आग को, उसके ताप को हर स्थिति में बनाए रखने के लिए प्रेरित करते हैं। वह जानते हैं कि सही समय आने पर, सही फ़ैसला लेकर क्रान्ति तो करनी ही होगी। समझदारी से लिया गया फ़ैसला ही सकारात्मक परिवर्तन ला सकेगा :-

"जवानी जब भी फ़ैसले लेती है
गुस्सा जब भी सही जुनून से उमड़ता है
हम साहस के एक नए तेवर से परिचित होते हैं
तब हमें आग के लिए
दूसरा नाम ढूँढना नहीं पड़ता है ।"[29]

-'आतिश के अनार-सी वह लड़की'

धूमिल स्वयं की दृष्टि जनतंत्र और व्यवस्था पर केन्द्रित करते हैं और उस सत्य को उजागर करते हैं जिसे जनता नहीं देख पाती । जनतंत्र के प्रति उनका आक्रोश उन्हें जनता को जागृति की ओर ले जाने को प्रवृत्त करता है । ऐसा इसलिए क्योंकि "धूमिल शोषित-पीड़ित के साथ खड़े हैं । वे ख़ुद भी शोषित पीड़ित हैं । लक्ष्य है उनका आदमी होना, इसलिए वे अपने लोगों से बातचीत करते हैं । ये अपने लोग अशिक्षित हैं, व्यवस्था की मार से पस्त हैं, गुमराह हैं, अपना हित-अहित समझने में नाकाम हैं, साथ ही आलसी हैं । अतः इन्हें जगाना, समझने के क़ाबिल बनाना और आलस्य को भगाना ज़रूरी हो जाता है । इन्हें इनकी शक्ति से भी परिचित कराना आवश्यक है । तभी ये संगठित होकर अपनी पूरी ताकत से इस व्यवस्था को उखाड़ फ़ेंकने में सफल होंगे ।"[30] इसलिए वह जनोद्बोधन करते हुए कहते हैं :-

"मैं फिर कहता हूँ कि हर हाथ में
गीली मिट्टी की तरह हाँ-हाँ - मत करो
तनो
अकड़ो
अमरबेलि की तरह मत जियो
जड़ पकड़ो
बदलो---अपने आपको बदलो
यह दुनिया बदल रही है ।"[31]

-'प्रौढ़ शिक्षा'

धूमिल की कविताओं में 'जनतंत्र' की जो समग्र तस्वीर दिखाई देती है उसकी निर्मिति की पृष्ठभूमि में जन सामान्य की तकलीफ़ें हैं, उनका शोषण है, एक सजग, सचेत नागरिक का रोष है, बौद्धिकता से युक्त कवि का तर्क है। ग़रीब, शोषित, विवश भूख से रिरियाते स्वतंत्र, जनतांत्रिक देश के साधारण व्यक्ति से जुड़ाव है। इसी कारण वह जनता को अकर्मण्य या निष्क्रिय देख कर भी उससे अलग नहीं होते उम्मीद नहीं छोड़ते और उन्हें जागृत करने को प्रयत्नशील रहते हैं। एक कविता में वह कहते हैं :-

"मैंने भी नक़्शे के ऊपर
लाल कलम से जगह घेर दी
और उसी सीमा के भीतर
अपने घायल कबूतरों को फिर से उड़ना सिखा रहा हूँ।"[32]

-'देशप्रेम : मेरे लिए'

सामान्यतः देखें तो लगता है कि अपने देश की जनतांत्रिक व्यवस्था में उनकी किंचित् भी आस्था नहीं रह गई है। किन्तु यदि विचार किया जाए तो धूमिल की आस्था (कि क्रान्ति द्वारा, या आवाज़ उठा कर जनता की स्थितियाँ परिवर्तित हो सकती हैं) जनतंत्र की ही देन है। इसलिए वर्तमान जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रति उनमें नकार का भाव मिलता है और अपनी कविताओं के लिए 'दूसरे प्रजातंत्र की तलाश' वह करते हैं। दूसरे प्रजातंत्र की यह तलाश, क्रान्ति का आह्वाहन, विरोध जताने की आज़ादी, विद्रोह करने की स्वतंत्रता भी एक जनतंत्र में ही संभव है। यही कारण है कि तमाम समस्याओं, नकारात्मकताओं के बावजूद धूमिल की उम्मीद नहीं टूटती और नई राहों की तलाश करती है :-

"दुःखी मत हो। यही मेरी नियति है।
मैं हिंदुस्तान हूँ। जब भी मैंने
उन्हें उजाले से जोड़ा है
उन्होंने मुझे इसी तरह अपमानित किया है
इसी तरह तोड़ा है। मगर समय गवाह है
कि मेरी बेचैनी के आगे भी राह है।"[33]

-'पटकथा'

बेचैन और अपमानित होने पर भी संघर्ष करते रहना भारत देश के नागरिकों की दृढ़ता को दर्शाता है । जनतंत्र से धूमिल की क्या उम्मीदें हैं इसकी झलक स्पष्टतः उनकी कविताओं में नहीं मिलती किन्तु एक जनतांत्रिक देश में क्या नहीं होना चाहिए इसका अनुमान अवश्य हो जाता है । शोषण, अन्याय, अत्याचार, भूख, ग़रीबी, असमानता के बावजूद आगे बढ़ने का जुनून, परिस्थितियों के ठीक हो जाने का विश्वास धूमिल को निराश होने से बचाता है और जनता को उन पर हमला करने के लिए प्रेरित करता है जो उनकी दुर्दशा के लिए ज़िम्मेदार हैं :-

"चीख, अपने होने की पीड़ा से चीख
लीक तोड़
अब और तरह
मत दे
साफ़-साफ़ कह दे –
भूख जो कल तक रौशनी थी
आज, नींद से पहले का
जागरण है...।"[34]

-'भाषा की रात'

इस प्रकार धूमिल जनतंत्र में 'मत' देने का एक नया मार्ग खोज निकालते हैं (स्पष्ट है कि प्रतिनिधियों को चुनने हेतु मतदान की व्यवस्था जनतंत्र में ही संभव है और मतदान में आस्था जनतंत्र में आस्था का ही प्रतीक है ।) और सत्ता के हाथों का खिलौना बने जनतंत्र के 'जनता का जनतंत्र' बने रहने की उम्मीद क़ायम रहती है । जनता की शक्ति को अनदेखा करने वाली व्यवस्था से लोहा लेने की उनकी ललक बनी रहती है क्योंकि धूमिल का दृढ़ विश्वास जनतंत्र में जनता को सर्वोपरि मानता है । विडम्बना बस यह है कि सत्ता के जन विरोधी व्यवहार के विरोध में बोलने का सामर्थ्य किसी में नहीं है । सत्ता इस क़दर हावी है कि 'जन' भयभीत है :-

"हाँ, मैं भयभीत हूँ
व्यवस्था की खोह में

हर तरफ़
बूढ़े और सत्तालोलुप मशालची
घूम रहे हैं
इतिहास की ताज़गी
बनाए रखने के लिए
नौजवानों और सफल
मौतों की टोह में
उन्हें हमारी तलाश है।"[35]

-'भाषा की रात'

सत्ता में व्याप्त अव्यवस्था को, पूँजीवादी व्यवस्था के कारण व्याप्त शोषण और अत्याचार के स्थान पर वह समानता देखना चाहते हैं। यही कारण है कि बार-बार ऐसी व्यवस्था के विरोध में आवाज़ उठाने के लिए जागृत भी करते हैं किन्तु व्यक्तिगत हित के लिए सत्तापिपासु बन चुके, सत्ता की आड़ में पलते लोगों का भय भी उन्हें परेशान करता है। किन्तु, फिर भी वह जूझते हैं। निम्न वर्ग और शोषित जनता की पीड़ा को अभिव्यक्ति देते हैं। जनता के जनतंत्र में सत्ता के हावी होने के परिणामों की भयावहता को उजागर करते हैं। निम्न वर्ग, शोषित वर्ग, मध्य वर्ग की पीड़ाओं को कम कर उन्हें उनका वाजिब हक़ दिलाने को आतुर दिखाई देते हैं। 'संसद' और 'सड़क' यानी सत्ता और आम व्यक्ति के बीच के अंतर को सामने लाते हैं। कहते हैं कि जो पशुतुल्य जीवन जीने पर भी सब सहन कर रहा है उसमें आदमियत बची है और शोषकों में मानवीय मूल्यों व संवेदनाओं का अंत हो गया है। शोषित व्यक्ति की पक्षधरता करते हुए वह कहते हैं :-

"तुम पशु बनने को तैयार नहीं हो
तुम्हारे चेहरे से आज भी आदमियत की गंध
आती है।"[36]

-'दूसरे का घर'

धूमिल की कविताओं को पढ़ने पर भारतीय जनतान्त्रिक देश में आम-आदमी की तंगहाली, शोषित जीवन स्थितियों का पता चलता है । उनकी दृष्टि उसी आम-आदमी की पीड़ा पर केन्द्रित है जो बहुलता में है । जब मुट्ठी भर संपन्न और सत्ता में व्याप्त लोगों द्वारा देश की रीढ़ किसानों, मजदूरों, ग़रीबों, बेरोज़गारों, रोटी को तरसते लोगों पर शोषण होता वह देखते हैं तो पूर्णतः उस शोषित वर्ग के पक्ष में जा खड़े होते हैं और स्वतंत्रता के दो दशक बीत जाने पर भी उनकी अपरिवर्तित स्थितियाँ उन्हें विचलित करती हैं । देश में विकास हेतु बनी योजनाएँ या भौतिक तरक्की उनकी दृष्टि में महत्त्वहीन हो जाती है । जन सामान्य की पीड़ा को वह समझते हैं क्योंकि उनके व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने स्वयं उस कमी, पीड़ा को देखा भोगा था । उनका वही अनुभव जन सामान्य के जीवन सत्य से साझा होकर अभिव्यक्त हुआ है । धूमिल की कविताएँ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विषमताओं से जुड़े भयावह यथार्थ को उसी रूप में सामने लाती हैं । यही कारण है कि जनतंत्र उरुकी कविताओं में सत्ता के पक्ष में खड़ा दिखाई देता है ।

4.2 सपाटबयानी और धूमिल का काव्य

"छायावाद के कवि शब्दों को तोलकर रखते थे,

प्रयोगवाद के कवि शब्दों को टटोलकर रखते थे,

नयी कविता के कवि शब्दों को गोलकर रखते थे,

सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोलकर रखते हैं ।"[37]

-'भाषा की रात में : धूमिल की भूमिका '

'कल सुनना मुझे' से उद्धृत धूमिल की यह पंक्तियाँ साठोत्तरी परिवेश में अभिव्यक्ति के आवश्यक परिवर्तनों की ओर इंगित करती हैं । सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता उस परिवेश की कविता है जिस परिवेश का आम-आदमी पंचवर्षीय योजनाओं की असफलता, सपनों के विखंडन के बाद ग़रीबी, बेकारी, भुखमरी, अकाल और भ्रष्टाचार के परिणामस्वरूप मोहभंग की स्थितियों से गुज़र रहा था । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन की विसंगतियों से उसका सामना हो रहा था,

मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिन-रात वह जूझ रहा था और आज़ादी के समय स्थापित मूल्य अब झूठे साबित हो रहे थे । इस समय के अंतर्विरोधों और द्वंद्वों, जनतांत्रिक व्यवस्था की विडम्बनाओं को हिन्दी कविता में अनेक कवियों ने ढाला । अपने समाज व जीवन के इन जलते हुए अनुभवों को कविता में ढालने के लिए जिस भाषा की आवश्यकता थी उसमें शब्दों को तोलने, टटोलने या घुमा-फिरा कर प्रस्तुत करने का अवकाश न था । अपितु जीवन स्थितियों को यथारूप प्रस्तुत करने के लिए तथा सच्चाई की तरफ़ ध्यानाकर्षण करने के लिए शब्दों को खोलकर रखने की आवश्यकता थी ।

साठ के बाद की कविता में आज़ादी के बाद के जनतांत्रिक व्यवस्था वाले सपनों के भारत से जुड़ी अपूर्ण आकाँक्षाओं, मृत सामाजिक मान्यताओं, राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार से व्यथित मानव की भावनाओं को स्थान मिला है । इस समय की कविताओं में बुद्धिजीवी वर्ग का विद्रोह साफ़-साफ़ देखा जा सकता है । निरंतर बदतर होती जीवन स्थितियों से क्षुब्ध कवियों का मानस अपने संघर्षों और पराजय से पस्त हो विरोध की ओर प्रवृत्त होता है । यह कवि उस कविता को सार्थक मानता है जो आक्रोशपूर्ण स्वर के बावजूद सकारात्मक स्वर दे । धूमिल की कविताएँ यह कार्य सफलतापूर्वक करती हैं । इस विरोध की अभिव्यक्ति जिस भाषा व जिन शब्दों के माध्यम से वह करता है वह निश्चित ही कोमल या मधुर नहीं हो सकते । कटु सत्य की अभिव्यक्ति के लिए और अपने आक्रोश को उजागर करने के लिए वह उस भाषा का समर्थन करते हैं जो सब कुछ खोलकर रख दे । वास्तविक स्थितियों की यथार्थ अभिव्यक्ति हेतु तथा सब साफ़-साफ़ दिखाने के लिए धूमिल अपनी कविताओं में सपाटबयानी को प्रश्रय देते हैं ।

'सपाटबयानी' का अर्थ है जो जैसा है उसे उसी रूप में, बिना किसी घुमाव-फिराव या लाग-लपेट के, सीधे-सीधे अभिव्यक्ति देना । प्रत्यक्ष रूप में बिना कुछ गोल-मोल किए अपनी बात कहना 'सपाटबयानी' कहलाता है । स्वतंत्रता के कुछ समय बाद, विशेषकर साठ के बाद के समय में कवियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि कविता में अभिव्यक्ति सहज, स्पष्ट और खुले रूप में की जाए । इस वांछित और आवश्यक परिवर्तन की ओर इंगित करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा कि "जिस प्रकार सन् '36 आते-आते स्वयं छायावादी कवियों को भी सुन्दर शब्दों और चित्रों

से लदी हुई कविता निस्सार लगने लगी, उसी प्रकार सन् '60 के आस-पास नयी कविता की बिम्बधर्मिता की निरर्थकता का अहसास होने लगा। समस्या परिस्थितियों के सीधे साक्षात्कार की थी ; प्रश्न हर चीज़ को उसके सही नाम से पुकारने का था ; क्योंकि जैसा कि केदारनाथ सिंह ने कहा है : 'चीज़ें एक ऐसे दौर से गुज़र रही हैं / कि सामने की मेज़ को सीधे मेज़ कहना / उसे वहाँ से उठाकर अज्ञात अपराधियों के बीच रख देना है।' और कुछ ऐसी ही मुश्किल श्रीकांत वर्मा की पंक्तियों 'मेरे सामने समस्या है / किस को किस नाम से पुकारूँ, आइना को आइना कहूँ / या / इतिहास ?' इस मुश्किल ने क्रमशः उस प्रवृत्ति को जन्म दिया जिसे अशोक वाजपेयी ने श्रीकांत वर्मा के दो काव्य संग्रहों 'माया दर्पण' और 'दिनारम्भ' की समीक्षा (धर्मयुग 23 जून 68) करते हुए 'सपाटबयानी' कहा है।"[38]

छायावाद से लेकर नयी कविता और साठोत्तरी कविता तक स्पष्ट व खुली अभिव्यक्ति क्रमशः आवश्यक हो गई। साठ के बाद की कविताओं तक आते-आते यह परिवर्तन इतना साफ़ हो गया कि इसे लक्षित करते हुए अशोक वाजपेयी ने कहा कि "नयी कविता बिम्ब केन्द्रित रही है और अक्सर कवियों में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त करके ही उसे जीवंत और प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब-प्रधान कविता कुछ शक की चीज़ बन गयी और सपाटबयानी की तरफ कई कवि झुके और उसे विश्वसनीय माना जाने लगा।"[39]

साठोत्तरी कवियों द्वारा अपनाई गई कविता की इस भाषाई विशेषता की ओर इशारा करते हुए एक अन्य विद्वान ने कहा कि "सपाटबयानी का मतलब 'अकलात्मकता' नहीं है, इसका अर्थ 'कलात्मकता' व आग्रहों का त्याग है। 'नयी कविता' कलात्मक आग्रहों से बोझिल थी, अतः उसमें दुर्बोधता आ गयी थी। इस दुर्बोधता के कारण वह विशिष्ट व्यक्तियों, विद्वानों, आलोचकों, ख़ास किस्म के रसिकों तक सीमित हो गई थी। साठोत्तरी कविता आम-आदमी की कविता है, जन साधारण की कविता है। अतः कवियों का लक्ष्य उसे विशिष्ट लोगों तक सीमित न रखकर, आम-आदमी तक पहुँचाना है। जन साधारण तक ले जाना है। इसलिए उन्होंने 'कलात्मक आग्रहों का त्याग कर 'सपाटबयानी' को अपनाया है, शिल्प में सादगी को प्रमुख स्थान दिया है।"[40] इसी सपाटबयानी को धूमिल ने अपनी कविताओं में ब-खू-बी प्रयुक्त किया। उन्होंने अपनी कविता में

भाषा और शब्दों को सार्थक, सम्प्रेषणीय, सहज और सरल रूप में प्रस्तुत किया। शब्दों का प्रयोग विविध रूपों में करते हुए भाषा को अपनी आवश्यकतानुसार मोड़ा। इस प्रकार उनकी भाषा मारक बन गई। ऐसी कि कोई उससे आहत हुआ और कोई तिलमिला उठा। 'सपाटबयानी' के माध्यम से अपने भावों को बेबाकी से उन्होंने अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया। इसके अनेक उदाहरण उनकी कविताओं में मिलते हैं। राजनीतिक और सामाजिक विसंगतियों को जिस मारक व तल्ख़ रूप में वह प्रस्तुत करते हैं वह अद्‌भुत् है। 'पटकथा' कविता में चौथे आम चुनाव के दौरान राजनेताओं के चरित्र को उजागर करते हुए इसी 'सपाटबयानी' का वह प्रयोग करते हैं। वह लिखते हैं :-

"मैंने देखा हर तरफ़
रंग बिरंगे झंडे फ़हरा रहे हैं
गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए
गुट से गुट टकरा रहे हैं
वे एक-दूसरे को दुर-दुर, बिल-बिल कर रहे हैं
हर तरफ़ तरह-तरह के जंतु हैं
श्रीमान किन्तु हैं
मिस्टर परन्तु हैं
कुछ रोगी हैं
कुछ भोगी हैं
कुछ हिजड़े हैं
कुछ जोगी हैं
तिजोरियों के प्रशिक्षित दलाल हैं
आँखों के अंधे हैं
घर के कंगाल हैं।"[41]

-'पटकथा'

सरसरी निगाह से देखने पर 'पटकथा' कविता की यह पंक्तियाँ चुनावी माहौल में विविध दलों की दांता-किल-किल का वर्णन लगती हैं किन्तु इनका अर्थ इतना सरल नहीं है। सामान्य, सरल शब्दों में लिखी यह कविता सीधे, सपाट रूप में बिना किसी दुराव-छिपाव के राजनीतिक मूल्यहीनता, संवेदनशून्यता, स्वार्थपरता, अनैतिकता, दल-बदल की प्रवृत्ति, चरित्रहीनता और भ्रष्ट आचरण का खुला विरोध करती है। इसके वाक्य यद्यपि छोटे-छोटे हैं और गद्य-भाषा जैसे लगते हैं किन्तु फिर भी प्रवाहहीन नहीं हैं। इनमें तुक है, अलग लय है। कवि का स्पष्ट आक्रोश है। कुछ लोग 'पटकथा' की भाषा शैली में गद्यात्मकता की प्रचुरता के कारण शिथिलता पाते हैं किन्तु यह गद्यात्मकता 'पटकथा' में सपाटबयानी के द्वारा कसाव लाती है। धूमिल की सपाटबयानी में एक प्रवाह है और सरल वाक्यों के कारण वह सीधे चोट करती है।

यह सपाटबयानी धूमिल की कविता की पहचान है। अपने भावों और अनुभवों को बेबाकी से अभिव्यक्त करने का सबसे सरल और मारक माध्यम है। 'कुछ विद्वान 'सपाटबयानी' को कविता की विशेषता के रूप में स्वीकार नहीं करते और इस मत के तर्क में उत्तर देते हैं कि सपाटबयानी एक प्रकार का काव्य-दोष है क्योंकि किसी भाव की अभिव्यक्ति यदि सपाट रूप में की जाए तो कविता, कविता न रहकर गद्य सरीखी लगने लगती है। ऐसे विद्वान 'गजानन माधव 'मुक्तिबोध' के 'अँधेरे में' राजकमल चौधरी के 'मुक्तिप्रसंग', धूमिल के 'पटकथा', वेणुगोपाल के 'ब्लैकमेलर', सौमित्र मोहन के 'लुकमान अली', लीलाधर जंगूड़ी के 'नाटक जारी है' को कमज़ोर रचनाएँ मानते हैं।'[42] किन्तु इसे सही नहीं कहा जा सकता। धूमिल के सन्दर्भ में यदि देखें तो 'सपाटबयानी' उनकी कविताओं को और गंभीर और आक्रामक बनाती है। उनकी कविता में मिलने वाली 'सपाटबयानी' वर्षों से घटित हो रही अनेक घटनाओं से उपजे उस संत्रास का परिणाम है जो कवि हृदय को लगातार व्यथित कर रही थी। सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों के परिणामस्वरूप व्यवस्था से उनका मोहभंग हो रहा था और सामान्य जन-जीवन की बिगड़ती स्थितियों को वह नज़दीक से देख समझ रहे थे। स्पष्ट है कि एक व्यथित हृदय इन विसंगतियों की अभिव्यक्ति कोमल या रसात्मक शब्दों में कदापि नहीं कर सकता। जब व्यवस्था और उसके व्यवस्थापकों पर प्रहार करने के लिए 'सपाट' और तल्ख़ होना आवश्यक हो जाता है, तब कवि यथार्थ के खुरदुरेपन को शब्दों की पैनी धार से प्रस्तुत करता है। इसे इस उदाहरण द्वारा समझ

सकते हैं जिसमें दैनंदिन जीवन में प्रयुक्त होने वाले सरल शब्दों को धार देकर, उसे सपाटबयानी से पैना बनाकर वह उस आदमी पर हमला बोलते हैं जो :-

"जो आदमी के भेस में
शातिर दरिन्दा है
जो हाथों और पैरों से पंगु हो चुका है
मगर नाखून में जिंदा है
जिसने विरोध का अक्षर-अक्षर
अपने पक्ष में तोड़ लिया है।"[43]

-'मुनासिब काररवाई'

कटु यथार्थ की वास्तविक अभिव्यक्ति हेतु धूमिल अपनी लेखनी का धारदार प्रयोग करते हैं। ऐसा कि वह सीधे हृदय बींधता है। वह रोज़मर्रा के जीवन से बिम्ब उठाते हैं और 'सपाटबयानी' का प्रयोग कर परिस्थितियों से साक्षात्कार करवाते हैं। सामान्यतः जब कोई कवि 'सपाटबयानी' करता है तो मान लिया जाता है कि वहाँ बिम्ब या प्रतीक अनुपस्थित होंगे। किन्तु धूमिल ने बिम्बों और प्रतीकों को सपाटबयानी के साथ संयोजित करके अपनी कविताओं को अधिक सशक्त और समर्थ बनाया है। सपाटबयानी में बिम्बों के समावेश को अनुचित ठहराते हुए एक विद्वान महेन्द्र कार्तिकेय ने कहा है कि "बिम्ब और सपाटबयानी दो विरोधी चीज़ें हैं। सपाटबयानी कविता का अनिवार्य तत्त्व नहीं हो सकता। काव्य और गद्य में जो अंतर है, वही अंतर बिम्ब और सपाटबयानी में है।" किन्तु यहाँ स्पष्ट होना चाहिए कि धूमिल ने जिन विषयों को अपनी कविता के लिए चुना है वह अपने ही परिवेश से लिए हैं। ऐसे में सपाटबयानी में भी बिम्बों के प्रयोग से सर्वथा विमुख नहीं रहा जा सकता। विख्यात आलोचक नामवर सिंह का भी कहना है कि 'सपाटबयानी का अर्थ बिम्बरहित होना नहीं है। रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से लिए गए बिम्बों को अनदेखा नहीं कर सकते।' अतः सपाटबयानी के साथ बिम्ब, प्रतीकों का समावेश होना स्वाभाविक है। धूमिल ने शब्दों का सीधा, सटीक और सार्थक प्रयोग करके वास्तविक स्थिति की मारक

अभिव्यक्ति की है । उदाहरणार्थ अपनी कविता 'रोटी और संसद' में रोटी से खेलने वालों की आज़ादी और प्रशासन के मौन पर वह कड़े शब्दों में प्रहार करते हैं । वह लिखते हैं :-

"एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ -
'यह तीसरा आदमी कौन है ?'
मेरे देश की संसद मौन है ।"[44]

-'रोटी और संसद'

या

"न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
मरम्मत के लिए खड़ा है ।"[45]

-'मोचीराम'

स्पष्ट है कि जिन प्रतीकों यथा 'रोटी' या 'जूता' का प्रयोग जिस प्रकार से धूमिल अपनी कविताओं में करते हैं उनके सन्दर्भों को गहनता से देखने पर उनका अर्थ अधिक व्यापक हो उठता है । ऊपरी तौर पर देखने से वह सपाटबयानी (सामान्य अर्थ में) अवश्य लगती है किन्तु गंभीर मनन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा मारक प्रहार उसी सपाटबयानी द्वारा ही संभव हो सकता है जिसमें प्रतीकों का सार्थक, सोचा-समझा प्रयोग हो । धूमिल की कविताओं की इस विशेषता के सम्बन्ध में डॉ. हुकुमचंद लिखते हैं कि "प्रायः धूमिल को वक्तव्यों के आधार पर सपाटबयानी का कवि स्वीकार

किया जाता है और इसके साथ यह भी कहा जाता है कि उसकी कविताओं में प्रतीकों तथा बिम्बों का प्रयोग नहीं हुआ है। हम इस प्रकार के विचारों से सहमत नहीं हैं क्योंकि समकालीन कवियों में धूमिल का स्थान अग्रणी कवियों में इसलिए प्रतिष्ठित है क्योंकि वह भाषा को अपने अनुरूप चलाता है - शब्दों का प्रयोग कई रूपों में करता है। धूमिल के शब्द-प्रयोग में प्रायः प्रतीक की समाविष्टि रहती है। जूता, लोहा, जंगल, घास, नींद, रोटी, भूख इत्यादि शब्द अपने कोशगत अर्थ तक ही सीमित नहीं है - इससे स्पष्ट है कि उसकी काव्य-भाषा को 'प्रतीकात्मक 'सपाटबयानी' कहना उचित होगा।...सपाटबयानी लगती है पर उसका अर्थ, सन्दर्भ अथवा प्रसंग जानने पर उसके विस्तार एवं व्यापक होने का बोध सहज ही हो जाता है।"[46]

धूमिल की कविताओं में कुछ शब्दों का प्रयोग बहुतायत में मिलता है। यथा जनतंत्र, संसद, जनता, जंगल, रोटी, भूख, आदमी, नाखून, व्याकरण आदि। इन शब्दों के बारम्बार प्रयोग से उनकी चेतना, उनके विचारों, राजनीति की विडंबनाओं की बेबाक अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। उनकी दृष्टि जब भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और उसके व्यवस्थापकों पर पड़ती है तो उनका दोहरा चरित्र देखकर हृदय पीड़ा से भर जाता है जिसका सीधा प्रभाव उनकी अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है। धूमिल अपने व्यक्तिगत जीवन में भी दोगलेपन से खीझ जाते थे। वह साफ़, खुले और सरल-सपाट स्वभाव के व्यक्ति थे। "आज के युग में वे ही लोग सफल होते हैं ; जिनके कई रूप होते हैं ; जो मुखौटों का प्रयोग करते हैं अथवा जो अन्दर से कुछ और तथा बाहर से कुछ और होते हैं। ऐसी विसंगति धूमिल के जीवन में नहीं थी। वे जो अन्दर से थे वही बाहर से थे। वे जो सोचते थे, वही करते थे। वे ख़ुद में दुहरा व्यक्तित्व पैदा नहीं कर पाए, न ही उन्होंने ऐसा करने की कोशिश ही की। वे न झूठी प्रशंसा चाहते थे और न कर सकते थे। दुहरे और तिहरे व्यक्तित्व वाले लोगों से उन्हें घृणा थी।"[47] यह भी एक कारण है कि जनतांत्रिक देश में जनता की भलाई के लिए जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों को जब वह कुर्सी की जोड़-तोड़ करते, चाय की प्यालियों में बहसों को उड़ाते देखते हैं तो सटीक व दो-टूक शब्दों में उसके सम्पूर्ण चरित्र को बेपर्दा करते हैं। उनके काव्य-संग्रह 'संसद से सड़क तक' में अनेक कविताएँ विविध सन्दर्भों के द्वारा राजनीतिक विसंगतियों को उजागर करती हैं। जब वह अनुभव करते हैं कि अनेक संघर्षों के बाद मिली

आज़ादी के बावजूद जनता के जीवन में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं हुआ तो वह क्षुब्ध होते हैं। इन स्थितियों पर विचार करते हुए वह स्वयं से प्रश्न करते हैं कि :-

"क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई ख़ास मतलब होता है।"[48]

-'बीस साल बाद'

विचारणीय है कि आज़ादी का कोई विशेष मतलब या प्रभाव न दिखने के पीछे कोई ख़ास कारण अवश्य होगा। क्योंकि धूमिल ने अपनी कविताओं में जिन विषयों पर बात की है उन पर वह पहले गहन विचार करते थे। वैचारिक मंथन के पश्चात् स्थिति व समस्या की जड़ तक पहुँचकर उसे शब्दबद्ध करते थे। अतः 'आज़ादी के ख़ास मतलब' का प्रश्न उससे जुड़ी अपेक्षाओं के अपूर्ण रहने का परिणाम हो सकता है। इन अपेक्षाओं के पूर्ण न होने का कारण वह शासन व्यवस्था है जिसने कुर्सीप्रियता के चलते मूल्यों को, जनता को ताक़ पर रखा है। देश की राजनीतिक अस्थिरता को सीधे शब्दों में वह कुछ ऐसे सामने लाते हैं :-

"हाँ यह सही है कि कुर्सियाँ वही हैं
सिर्फ टोपियाँ बदल गयी हैं।"[49]

-'पटकथा'

यहाँ 'टोपियाँ' बदलना 'पार्टियों' या 'सत्ता' बदलने का और 'कुर्सियाँ' उस शक्ति का प्रतीक हैं जिसकी आड़ में सत्ता में स्थापित लोग उसे अपनी बपौती समझ अपना परिवार पोषण करते हैं। इतने सीधे और सपाट तरीके से अपनी बात वह इन प्रतीकों के सार्थक प्रयोग द्वारा ही करते हैं। प्रतीकों या बिम्बों को वह सायास या काव्य-सौन्दर्य के लिए नहीं प्रयुक्त करते अपितु स्थितियों की सार्थक प्रस्तुति के लिए करते हैं। जैसे राजनेताओं के देश के प्रति और गाँधी के सिद्धांतों के प्रति तथाकथित समर्पण पर व्यंग्य करते हुए वह लिखते हैं कि :-

"उस मुहावरे को समझ गया हूँ
जो आज़ादी और गाँधी के नाम पर चल रहा है
जिससे न भूख मिटी है, न मौसम
बदल रहा है।"[50]

-'अकालदर्शन'

नेताओं की देशभक्ति की वास्तविकता, गाँधी के सिद्धांतों पर चलने की प्रवृत्ति के पीछे छिपे झूठ, देश की जनता की भूख मिटाने के उनके असफल प्रयासों व स्थितियों के अपरिवर्तित रहने को इस कविता में जिस प्रकार धूमिल ने प्रस्तुत किया है वह उनकी राजनीतिक स्थितियों की समझ और प्रतीकों के सपाट धारदार प्रयोग की कला का प्रमाण है। इसी कारण डॉ. हुकुमचंद राजपाल उनकी सपाटबयानी को 'प्रतीकात्मक सपाटबयानी' कहते हैं। यह सपाटबयानी का वह रूप है जिसमें नामवर सिंह बिम्ब प्रयोग की तुलना में अधिक संभावनाएँ देखते हैं। वह लिखते हैं कि "बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अक्सर दूर रहती है, बोलचाल की सहज लय खंडित हुई है, वाक्य विन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अंतर्गत क्रियाएँ उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य-कथ्य की ताकत कम हुई है। इन कमज़ोरियों को दूर करने के लिए ही कविता में तथाकथित 'सपाटबयानी' अपनाई जा रही है, जिसमें फ़िलहाल काफ़ी संभावनाएँ दिखाई पड़ती हैं।"[51]

राजनीतिक परिस्थितियों को नए अंदाज़ में प्रस्तुत करने में उनकी यह काव्य विशिष्टता बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। राजनीति में व्याप्त अंतर्विरोधों और जटिलताओं को सबके समक्ष लाने का इससे कारगर तरीका और क्या हो सकता है कि उन्हें सीधे-सीधे, बिना तोड़े-मरोड़े, उसमें बिना मुलम्मा लगाए कह दिया जाए। धूमिल के काव्य का मूल यही है। यथार्थ की अभिव्यक्ति उनके साहित्य की आधारभूमि में है। निडरता से वह अपनी बात कह देते हैं। इस सन्दर्भ में उनके बेटे डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय लिखते हैं कि "उनका पूरा का पूरा व्यक्तित्व, पूरी सच्चाई एवं ईमानदारी के साथ, उनके लेखन में निखार पा सका है। उनका साहित्य, जिस सादगी और सपाटता का बयान मेरे सामने करता है ; ठीक वैसा ही उनका व्यक्तित्व सरल एवं सुबोध था - उनके साहित्य को पढ़ने (यद्यपि मैं अभी पूर्ण रूप से उनके साहित्य को समझने का दावा नहीं कर

सकता) से पता चलता है कि उनका साहित्य एक जुझारू व्यक्ति के जूझने की व्यथा कथा है। भोगी हुई अनुभूतियों को पूरी ईमानदारी से व्यक्त करने में वे सफल रहे हैं। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विसंगतियों एवं विडम्बनाओं का यथार्थ वर्णन ही है, उनका साहित्य।"[52] आज़ादी के बीस साल बाद भी स्थितियों के अपरिवर्तित रहने के परिणामस्वरूप उपजी विसंगत सामाजिक स्थितियाँ और उनसे हुआ मोहभंग उनकी कविताओं के केन्द्र में है। भारतीय जनतंत्र की व्यवस्था को बनाए रखने की ज़िम्मेदार संसद, भारतीय समाजवाद से भी जब उनका मोहभंग होता है तो तल्खी और आक्रोश के साथ वह संसद, राजनेताओं, क़ानून व्यवस्था, शान्ति दूतों के दोगलेपन पर ऐसा प्रहार करते हैं कि तिलमिला देते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं जो उनके आक्रोश और स्थितियों के यथार्थ प्रस्तुतिकरण को सफल बनाते हैं :-

"मेरे सामने वही चिरपरिचित अन्धकार है
संशय की अनिश्चयग्रस्त ठंडी मुद्राएँ हैं
हर तरफ
शब्दभेदी सन्नाटा है
दरिद्र की व्यथा की तरह
उचाट और कूँथता हुआ। घृणा में
डूबा हुआ सारा का सारा देश
पहले की ही तरह आज भी
मेरा कारागार है।"[53]

-'पटकथा'

या

"अपने यहाँ संसद
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है।"[54]

-'पटकथा'

या

"सिर्फ एक शोर है

जिसमें कानों के परदे फटे जा रहे हैं

शासन सुरक्षा रोजगार शिक्षा...

राष्ट्रधर्म देशहित हिंसा अहिंसा...

सैन्यशक्ति देशभक्ति आज़ादी वीसा...

वाद बिरादरी भूख भीख भाषा...

x x x

झाँय-झाँय, खाँय-खाँय, हाय-हाय, साँय-साँय...

मैंने कानों में ठूस ली हैं अँगुलियाँ

और अँधेरे में गाड़ दी है

आँखों की रौशनी ।"[55]

-'पटकथा'

या

"क़ानून की भाषा बोलता हुआ

अपराधियों का संयुक्त परिवार है ।"[56]

-'पटकथा'

या

"बुद्ध की आँखों से खून चू रहा था

नगर के मुख्य चौरस्ते पर

शोक-प्रस्ताव पारित हुए,

हिजड़ों ने भाषण दिए

लिंग बोध पर

वेश्याओं ने कविताएँ पढ़ी-

आत्म-शोध पर ।"[57]

-'एक कविता : कुछ सूचनाएँ'

इन उद्धरणों में धूमिल राजनीतिक विद्रूपताओं को उघाड़ कर सामने रखते हैं। आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी परतंत्रता का अहसास, निर्धन लोगों की उचाट विवशता, संसदीय व्यवस्था की कार्यप्रणाली, प्रशासन को व्यापार की तरह लेने और वादों को कुर्सी पाने के लिए बेचने की नेताओं की प्रवृत्ति, झूठे आश्वासनों के सहारे जनता को बरगलाने के प्रयासों, शांति को सर्वोपरि मानने वाले देश में हिंसक घटनाओं में वृद्धि और नेताओं, डॉक्टरों, कलाकारों, वकीलों का मिलकर सर्वसाधारण के विरोध में निजी स्वार्थों के लिए एकत्रित होना ; यह सब किस तीक्ष्णता से वह बयान करते हैं यह स्पष्ट इन उद्धरणों में देखा जा सकता है। उनकी प्रत्येक कविता में ऐसे प्रतीक, वक्तव्य, संकेत हमें मिलते हैं जो सपाट रूप में विरोधी राजनीतिक स्थितयों को अनावृत्त करते हैं। धूमिल के काव्य में मिलने वाली या उनके द्वारा प्रयुक्त 'सपाटबयानी' बिम्बों व प्रतीकों के प्रयोग को अधिक तल्ख़ रूप में प्रस्तुत करती है। अतः धूमिल जिस सपाटबयानी को अपनी कविताओं में प्रयुक्त करते हैं वह 'काव्य-दोष' नहीं रह जाता अपितु उनकी कविता की ताकत बन जाता है।

कवि धूमिल की राजनीतिक स्थितियों के साथ-साथ सामाजिक स्थितियों पर भी पैनी दृष्टि रही है। जन-सामान्य से उनका सीधा जुड़ाव रहा है। इसी जुड़ाव के चलते गाँव से शहर तक हर उस व्यक्ति की समस्याओं को समझने और अभिव्यक्ति देने का प्रयास उन्होंने अपनी कविताओं में किया है जो शोषित-पीड़ित है। आम-आदमी की दयनीय दशा को देख क्षुब्ध होने वाले कवि धूमिल समाज में व्याप्त विषमता को जड़ से समाप्त कर देना चाहते थे। उनके व्यक्तिगत जीवन में भी वह अनेक समस्याओं से जूझे और सामाजिक संघर्षों में उनका जीवन बीता। एक आम-आदमी की भाँति उन्होंने वह सब दुःख भोगे जिससे सामान्य व्यक्ति दिन प्रतिदिन गुज़रता है। उनकी कविताओं में मिलने वाला अन्याय, अत्याचार, शोषण का स्वरूप उनकी उसी दृष्टि का परिणाम है जो उनके अनुभव से बनी है। पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच के अंतर और इस आधार पर फैली सामाजिक विषमता पर उन्होंने 'सपाटबयानी' के माध्यम से ही कड़ा प्रहार किया है। पूँजीपतियों की संवेदनशून्यता, शोषणकारी प्रवृत्ति पर वार करते हुए वह उनकी उस प्रवृत्ति को सामने लाते हैं जिसके चलते वह ग़रीब, मजदूर वर्ग का शोषण करते हैं और अपनी तिजोरी भरते हैं। उनका हक़ मारकर अपने घर में दावत करने वालों की धज्जियाँ उड़ाते हुए वह कहते हैं :-

"और जो चरित्रहीन है
उसकी रसोई में पकनेवाला चावल
कितना महीन है।"[58]

-'मुनासिब काररवाई'

समाज में फैली दरिद्रता, बेरोज़गारी, भुखमरी, अशिक्षा, दमन, शोषण आदि का अपनी लेखनी के माध्यम से धूमिल ने सदा तीखा विरोध किया और उन लोगों को बेनक़ाब किया जो इसका कारण थे। समाज में व्याप्त इस असमानता, अन्याय, अत्याचार के लिए वह हर उस वर्ग को ज़िम्मेदार मानते हैं जो अवसरवादी हैं ; जो निजी हितों के लिए समाज के भोले-भाले लोगों को बेवक़ूफ़ बनाते हैं। अपने 'गद्य-सुलभ वाक्य-विन्यास' में इन पर करारा प्रहार करते हुए वह कहते हैं :-

"नहीं-अपना कोई हमदर्द
यहाँ नहीं है। मैंने एक-एक को
परख़ लिया है
मैंने हरेक को आवाज़ दी है
हरेक का दरवाज़ा खटखटाया है
मगर बेकार...। मैंने जिसकी पूँछ
उठायी है उसको मादा
पाया है।
वे सब के सब तिजोरियों के
दुभाषिये हैं।
वे वकील हैं। वैज्ञानिक हैं।
अध्यापक हैं। नेता हैं। दार्शनिक
हैं। लेखक हैं। कवि हैं। कलाकार हैं।

यानी कि -

क़ानून की भाषा बोलता हुआ

अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।"[59]

-'पटकथा'

अपराध व अपराधियों के विरुद्ध आवाज़ न उठाने वालों पर, चाटुकारों पर, फ़रेबियों पर धूमिल की यह पंक्तियाँ मारक प्रहार करती हैं। कवि का क्रोध और समाज के विविध वर्गों की स्थितियों और प्रवृत्तियों को साफ़-साफ़ उद्घाटित करने का एकमात्र कारगर तरीका यही हो सकता है जिसे धूमिल ने अपनाया है। स्थितियों की गंभीरता को, उनकी प्रखरता को, अपने भीतर की पीड़ा को जब वह कविता में प्रस्तुत करते हैं तो वह पीड़ा या आक्रोश वहीं समाप्त नहीं होता अपितु विरोध की पृष्ठभूमि निर्मित करता है। अपने समाज की त्रासदी को अनुभूति की आँखों से देखकर ईमानदारी से वह अपनी कविताओं में प्रस्तुत करते हैं। स्थितियों की पेचीदगी को समझ कर उसका वर्णन करते हैं।

'सपाटबयानी' को सामान्यतः काव्यशिल्प के एक तत्त्व के रूप में देखकर बात की जाती है। शायद यही कारण है कि विद्वान व आलोचक धूमिल की कविता में सपाटबयानी को अधिक महत्त्व नहीं देते, या उनकी कविता की विशिष्टता नहीं मानते। किन्तु धूमिल को जो बात 'धूमिल' बनाती है वह उनकी बातों को यथारूप, सीधे प्रस्तुत कर देने की यह कला ही है। मुद्दों पर 'सपाट' तरीके से अपनी बात रख देने पर भी इनकी कविता गद्य-सरीखी नहीं लगती। उसमें लय भी रहती है, तुक भी। नाटकीयता भी, व्यंजकता भी। कविता में सपाटबयानी का प्रयोग उनकी कविता को मारक और उनकी अभिव्यक्ति को बेबाक बनाता है। धूमिल की पहचान आधुनिक हिन्दी कविता में आक्रोश के कवि के रूप में है। उनका यह आक्रोश समाज में जन-सामान्य की शोषित व दयनीय स्थितियों व बिगड़ती राजनैतिक विसंगतियों का परिणाम है। यही कारण है कि उनकी कविता में जनतंत्र, संसद, जनता, आदमी, भूख, रोटी, जंगल आदि मुख्यतः मिलते हैं। इन विषयों पर लिखते समय वह जिस मानसिक पीड़ा का अनुभव करते होंगे उसी की प्रतिच्छाया उनकी कविताएँ हैं। एक स्थान पर स्वयं उन्होंने कहा था कि "मनः स्थितियों के प्रति जिस प्रकार की मेरी प्रतिक्रिया

होती है और प्रतिक्रिया होने पर जिस प्रकार की अभिव्यक्ति मैं उसे देता हूँ, यदि वह कवियों की-सी नहीं है तो कवि हूँ, वह कविता, जो भी मैं लिखता हूँ कविता है । इसे परंपरा के प्रति स्थूल विद्रोहात्मक स्वर नहीं और न ही अकविता के प्रति आस्था समझा जाए । जो लिखता हूँ, अपने मन का एक सहज भाव ही प्रतिध्वनित करता हूँ । ये प्रतिक्रियाएँ, ये अभिव्यक्तियाँ मेरे लिए स्वाभाविक हैं ।"[60] उनकी इन स्वाभाविक अभिव्यक्तियों की स्वाभाविक प्रस्तुति के माध्यम के रूप में प्रयुक्त यह 'सपाटबयानी' धूमिल की काव्य रचना हेतु एक 'शैली' भर नहीं है अपितु, उनकी विशिष्टता है । ऐसी विशिष्टता जो समान्यतः मात्र यथारूप अभिव्यक्ति के साधारण तरीके के रूप में जानी जाती है किन्तु धूमिल कि भावाभिव्यक्ति को और सरल, और समर्थ, और प्रगाढ़, और मारक, और तल्ख़ व और विशिष्ट बनाती है और धूमिल की कविता में उपस्थित जनतंत्र के स्वरूप को सामने लाती है ।

4.3 धूमिल की काव्य-भाषा

भाषा एक ऐसा जीवंत और गतिशील उपकरण है जो संवेदनाओं, अनुभूतियों को समग्रतः नवीन रूप में प्रस्तुत करने का सामर्थ्य रखती है । कवि के अंतर्जगत से सम्बंधित होते हुए भी कविता की भाषा युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होती है । युग सन्दर्भ, भाषा की प्रकृति को बदलते हैं और समय की माँग के अनुसार कवि के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वह अभिव्यक्ति के लिए नए साँचे बनाये । परंपरागत अभिव्यक्ति के तरीके में परिवर्तन लाए जिससे नवीन चेतना को अधिक मुखरता के साथ प्रस्तुत किया जा सके । भाषा की रूढ़ियों को तोड़ना इसके लिए अनिवार्य हो जाता है । धूमिल ऐसे ही कवि हैं । अपने समय की विसंगतियों को उन्होंने ऐसी भाषा में अभिव्यक्त किया है जो तेज़ छुरी की तरह घाव कर देती है । कविता की भाषा के पुराने ढर्रे को छोड़कर उसे सही, सार्थक, बेलौस व भदेस रूप में प्रस्तुत करने का कार्य धूमिल ने अपनी कविताओं में किया । उनकी कविताओं में प्रयुक्त भाषा स्थितियों को उसके नंगेपन के साथ प्रस्तुत करने में सक्षम है ।

धूमिल भाषा को कविता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष मानते हैं। उनके अनुसार एक सशक्त कविता की निर्मिती हेतु सटीक भाषाई क्षमता का होना अनिवार्य है । इसलिए भाषा के प्रति धूमिल उतने ही सजग व सचेत दिखाई दते हैं जितना कि विषय के प्रति । भाषा के प्रति उनकी सचेतता का ही यह परिणाम है कि 'भाषा' उनकी कविताओं के प्रस्तुतिकरण का माध्यम भी है और उनकी कविताओं में आने वाला एक महत्त्वपूर्ण विषय भी । भाषा उनके लिए अभिव्यक्ति का एक अदना साधन मात्र नहीं है अपितु उनके गहरे चिंतन को आकार देने का एकमात्र आधार है । इसीलिए धूमिल अपनी कविता की भाषा, उसकी संरचना, शब्द प्रयोग को लेकर सदैव बहुत सचेत रहे। परिणामतः अपने भाषागत प्रयोगों के कारण उनके समकालीन कवियों में उनका स्थान पृथक और बेजोड़ रहा। उनकी इस विशिष्टता के सम्बन्ध में त्रिलोचन शास्त्री ने वीरेंद्र मोहन से हुई एक बातचीत में कहा है कि "हिन्दी में अपनी स्वतंत्र भाषा लेकर आने वाले कवि का नाम धूमिल है। यदि अन्य कवि इनकी काव्य शैली की नक़ल भी करते हैं, इनकी अपनी खूबी ख़त्म नहीं होती।"[61]

स्वयं कवि ने अपने एक लेख 'कविता पर एक वक्तव्य' में भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार रखते हुए भाषा को सहज, सटीक, प्रतीक, बिम्ब विहीन बनाने पर महत्त्व दिया है। अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा है कि "सही बात कहने में बड़ी कठिनाई है भाषा की। कम से कम सही शब्दों की तलाश, जिससे चीज़ों को उसके पूरे आकार और व्यक्ति संबंधों के साथ फ्रेम किया जा सके' अब तक कविता के लिए विशिष्ट काव्य-भाषा ने अनेक महान पद्यकार पैदा किये हैं। 'कवि' शब्द का प्रयोग उनकी महानता से अभिभूत मैं संकोचवश नहीं कर रहा हूँ। विद्यालयों ने काव्यग्रंथों और शब्द कोशों को एक ही स्तर पर समाहित किया है। परिणामस्वरूप वस्तु और व्यक्ति कविता की भाषा की एक दीवार बन गई है। अर्थात् भाषा और काव्य-भाषा का अंतर स्पष्ट किये बिना सच्चाई तक जाना कदापि संभव नहीं है। क्योंकि काव्यभाषा ने आधुनिक रूचिबोध को एक ग़लत दिशा दी है। कविता पढ़ने के पहले ही हमारे मन में यह बात बैठ जाती है कि कविता पढ़नी है और इस प्रकार हम अनजाने ही 'काव्य-भाषा' के आतंक के शिकार हो जाते हैं। निश्चय ही 'काव्य-भाषा' कुछ को छोड़कर आधुनिक कवियों की बन गई है। क्योंकि यह उनकी जीविका के उद्गम स्थान से सम्बद्ध है । इस सन्दर्भ में पहला काम कविता को 'भाषाहीन' करना है। साथ ही अनावश्यक बिम्बों और और प्रतीकों से भी उसे मुक्त करना है। कभी-कभी (या अधिकांशतः) प्रतीकों और बिम्बों के कारण

कविता की स्थिति उस औरत जैसी हास्यास्पद हो जाती है जिसके आगे एक बच्चा हो, गोद में एक बच्चा हो और एक बच्चा पेट में हो। प्रतीक बिम्ब जहाँ सूक्ष्म सांकेतिकता और सहज संप्रेषणीयता में सहायक होते हैं वहीं अपनी अधिकता से कविता को ग्राफ़िक बना देते हैं। आज महत्त्व शिल्प का नहीं, कथ्य का है। सवाल यह नहीं कि आपने किस तरह कहा है, सवाल यह है कि आपने क्या कहा है ? इसके लिए आदमी की ज़रूरतों के बीच की भाषा का चुनाव करना और राजनीतिक हलचलों के प्रति सजग दृष्टिकोण कायम रखना अत्यंत आवश्यक है।"[62]

तेवर और तल्खी के साथ अपनी अनुभूतियों को कविता में अभिव्यक्त करने वाले कवि धूमिल के इस वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह काव्य-भाषा को आडम्बरों, अनावश्यक बिम्ब, प्रतीक आदि बाह्य तत्त्वों से से अलग रखना चाहते थे। किन्तु भाषा के समाज के अनिवार्य अंग होने, अभिन्न रूप से जुड़े होने के कारण रोज़मर्रा की जीवन स्थितियों से अनायास ही आ गए बिम्बों, प्रतीकों से बचा नहीं जा सकता। अतः सही स्थिति की सार्थक अभिव्यक्ति के लिए यदि आवश्यक लगा तो इनका प्रयोग धूमिल ने भी किया। काव्य-भाषा में जटिलता उन्हें नापसंद थी। इसलिए उन्होंने भाषा के पुराने 'मेकेनिज़म' को तोड़ा और अपनी 'काव्य-भाषा' को विशिष्ट रूप प्रदान किया। जिस तेवर के कवि धूमिल थे उसके लिए यह आवश्यक भी था। जीवन, समाज, राजनीति के यथार्थ को यथारूप प्रस्तुत करने के लिए ऐसी भाषा की उपस्थिति अपेक्षित थी जो युद्ध के हथियार की भाँति कार्य करे। सही दिशा में आगे बढ़े और सटीक अर्थ ही संप्रेषित करे। इसके लिए धूमिल बहुत परिश्रम करते थे। एक नई भाषिक संरचना के सृजन क्रम में धूमिल ने कविता को नयी चीज़ दी - 'मुहावरा' और मुहावरों के माध्यम से विसंगतियों का चित्रण किया। अपनी कविताओं में जिन विषयों, समस्याओं को उन्होंने लिया है उनका सीधा सरोकार सामान्य जनता से है। शोषितों, पीड़ितों से है। अतः उनकी कविता मात्र अनुभूति नहीं विचार की कविता है। अनुभूति के साथ विचार का यह समन्वय उनकी भाषिक विशिष्टता व सृजनात्मकता के कारण ही संपूर्णतः अभिव्यक्ति पाता है। भावनाओं को रूप देने से पूर्व उस पर किया गया गहन विचार और गंभीर चिंतन उनकी कविताओं को सुदृढ़ बनाता है। धूमिल की इस चिंतन प्रक्रिया और सटीक, सार्थक भाषा प्रयुक्त करने की पृष्ठभूमि में किए गए इस परिश्रम पर काशीनाथ सिंह ने लिखा है कि "वह बहस करता, अपने को साफ़ करता ; इस बीच मिलने वाले सुझावों और

प्रतिक्रियाओं को अपने दिमाग में बिठाता जाता और यह सिलसिला तब तक जारी रखता जब तक कविता पूरी नहीं हो जाती । शब्दों के प्रयोग, सटीक मुहावरे, सही और अनिवार्य तुक, सार्थक वाक्य विन्यास पर इतनी मेहनत करने वाला दूसरा आदमी मैंने नहीं देखा ।" काशीनाथ जी के इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि धूमिल के लिए कविता रचना स्वयं को समर्पित करने जैसा था । कविता के विषयों को वह अपने समाज, परिवेश, राजनीति से उठाते थे उन पर चिंतन मनन करते थे तथा काव्य-भाषा के प्रति उनकी विशेष दृष्टि थी ।

राजनीतिक-सामाजिक मुद्दों पर धूमिल की पैनी दृष्टि सदैव लगी रही । अपने आस-पास घटने वाली घटनाओं के प्रति वह सजग रहते थे और अपनी काव्य-भाषा का उपयोग कुछ इस प्रकार करते थे कि उनके भीतर का आक्रोश, विद्रोह, तल्खी कविता में साकार हो जाती थी । काव्य-भाषा को प्रभावी बनाने हेतु शब्द चयन व शब्द प्रयोग के प्रति भी वह सतर्क रहे । उनकी इस विशिष्टता पर विचार व्यक्त करते हुए 'काशीनाथ सिंह' ने कहा कि "जिन दिनों कवितावादियों ने अपनी दब्बू, विनीत और मध्यवर्गीय कुंठाओं वाली कविता की वकालत में कहना शुरू किया था कि शब्दों के अर्थ खो गए हैं, वे ग़लत जगह रख दिए गए हैं, संदर्भच्युत हो गए हैं ; धूमिल ने अपनी कविता में शब्दों को सही सन्दर्भ में रखना शुरू किया । सही जगह पर और लोगों ने देखा कि सही सन्दर्भ पाकर वे शब्द 'डायनामाइट' की तरह हुए जा रहे हैं । उनमें विस्फ़ोटक क्षमता आ गई है ।"[63] इस प्रकार उन्होंने बहस को नया, 'विस्फ़ोटक' तेवर दिया, यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सम्यक प्रयोग किया । कहीं संबोधनात्मक शैली प्रयुक्त की, कहीं नाटकीयता का सहारा लिया, सपाटबयानी को अपनाया । कहीं-कहीं प्रतीक व बिम्ब भी उनकी कविताओं में आए हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति के बाय-प्रोडक्ट बनकर । कविता को सुन्दर बनाने के लिए सायास कोई प्रयास उन्होंने नहीं किया । एक ही शब्द का प्रयोग वह कई अर्थों में करते हैं और वह शब्द हर बार नई स्थिति का प्रतीक बनकर सामने आ खड़ा होता है । इस सम्बन्ध में नेमिचंद्र जैन ने कहा है कि "एक ही शब्द के इतने सारे सन्दर्भों में प्रयोग से जहाँ धूमिल की भाषा के बड़े कल्पनाशील सूक्ष्म अन्वेषण की क्षमता तथा बोलचाल के मुहावरे की जानकारी का अहसास होता है ; वहीं प्रतीकों के अनुभव की सीमा और एक खाँचे में फँस जाने वाली अभिव्यक्ति का भी असर मन पर पड़ता है । कुछ कम मात्रा में दुहरावट के साथ 'मासिकधर्म', 'घर', 'व्याकरण' आदि के बिम्ब-प्रतीक भी इनकी

कविताओं में आते हैं ; फिर भी यह बात बेझिझक कही जा सकती है कि धूमिल की कविता में प्रतीकों-बिम्बों की पुनरावृत्ति नगण्य है । पाठक इनकी अनोखी नवीनता से, बेमिसाल टटकेपन से ही आकर्षित, प्रभावित और चमत्कृत होता है ।"[64] धूमिल की कविताओं में अनेक शब्दों यथा भेड़िया, रौशनी, जंगल, कंकाल, जीभ, दांत, घास, जूता आदि शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है । यह शब्द हर स्थान पर नवीन अर्थ व्यंजित करते हैं । उदाहरण के लिए 'जंगल' शब्द कभी जनतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त अराजकता की अभिव्यक्ति करता है, कहीं नक्सलवाद से जुड़ता है, कहीं प्रतिपक्षी के रूप में आता है :-

"बीस साल बाद
मेरे चेहरे में वे आँखें वापिस लौट आई हैं
जिनसे मैंने पहली बार जंगल देखा है ।"[65]

-'बीस साल बाद'

x x x

"और एक जंगल है
मतदान के बाद खून में अँधेरा
पँछीटता हुआ जंगल मुखबिर है ।"[66]

-'नक्सलबाड़ी'

x x x

"चमड़े की शराफ़त के पीछे
कोई जंगल है जो आदमी पर
पेड़ से वार करता है ।"[67]

-'मोचीराम'

जिस प्रकार बिम्ब, प्रतीक उनकी कविताओं में आए हैं वे उसी समाज से उठाए गए हैं जिसमें हम रहते हैं । यथार्थ की अभिव्यक्ति में कल्पना नगण्य है । वह मनुष्य के अनुभूत सत्य को सामान्य भाषा में अभिव्यक्त करते हैं । वस्तुस्थिति के सत्य को सामने ला खड़ा करते हैं । एक मध्यवर्गीय

परिवार में आर्थिक संघर्षों से जूझते माता-पिता के दर्द की अभिव्यक्ति हेतु अत्यंत सरल शब्दों में ऐसा बिम्ब खींचते हैं कि समूचा परिदृश्य सामने उपस्थित हो जाता है :-

"बच्चे भूखे हैं :
माँ के चेहरे पत्थर
पिता जैसे काठ : अपनी ही आग में
जले है ज्यों सारा घर ।"[68]

-'आज मैं लड़ रहा हूँ'

उनके लिए महत्त्वपूर्ण था अपनी संवेदनाओं या अनुभूतियों को पाठक के समक्ष रखना । कुछ ऐसे कि वह प्रभावित व जागृत हो । वह चाहते थे कि कविता और पाठक के बीच का सम्बन्ध बना रहे । सत्य को रूपायित करने के लिए ही उन्होंने कविता लिखने के लिए ऐसी भाषा चुनी जो अमूर्त को मूर्त कर सके । पाठक के मानस पर, दिमाग पर स्थितियों की भयावहता का स्पष्ट चित्र अंकित करवाने, कटु सत्य से साक्षात्कार करवाने के लिए ऐसे बिम्ब उन्होंने खींचे जो एक ही जनतान्त्रिक समाज में दो वर्गों के बीच की असमानता को खुले तौर पर सामने ला खड़ा करते हैं । एक उदाहरण यहाँ दृष्टव्य है :-

"वह कौन-सा प्रजातान्त्रिक नुस्खा है
कि जिस उम्र में
मेरी माँ का चेहरा
झुर्रियों की झोली बन गया है
उसी उम्र की मेरे पड़ोस की महिला
के चेहरे पर
मेरी प्रेमिका के चेहरे सा लोच है ।"[69]

-'अकालदर्शन'

इन पंक्तियों में अमीर और ग़रीब के बीच के अंतर को धूमिल ने मूर्त किया है । कविता में सामाजिक सत्य को किसी भी तरह से यथारूप अभिव्यक्त करने के लिए ही वह अपनी काव्य-भाषा

को निरंतर नए शब्द प्रयोगों, नई भंगिमाओं से समृद्ध करते रहे हैं। उनके लिए कविता अर्थ या यश कमाने का माध्यम नहीं अपितु :-

"कविता
भाषा में
आदमी होने की तमीज़ है।"[70]

'मुनासिब काररवाई '

धूमिल की काव्य-भाषा की यह विशिष्टता है कि वह कविता को एक सार्थक वक्तव्य बनाती है। 'संसद से सड़क तक' के आमुख में वह स्वयं एक सही कविता को एक सार्थक वक्तव्य कहते हैं। इस 'वक्तव्य' की उपस्थिति उनकी वाक्य संरचना को विशिष्ट बनाती है। सार्थक वक्तव्य के माध्यम से वह काव्य-भाषा में आए प्रत्येक शब्द, वाक्यांश, वाक्य को ऐसे बैठाते हैं कि एक सही कविता बनकर सामने आती है। व्यवस्था की विकृति को समग्रतः प्रस्तुत कर देती है। इस प्रस्तुतिकरण में धूमिल की मौलिकता उपस्थित रहती है। अपने तथ्यों को स्पष्ट करने में जब वह परंपरागत काव्य के भाषाई मानकों को असमर्थ पाते हैं तो कहते हैं :-

"पेशेवर भाषा के तस्कर संकेतों
और बैलमुत्ती इबारतों में
अर्थ खोजना व्यर्थ है।"[71]

-'कविता'

और इस प्रकार उस भाषा संरचना की अर्थवत्ता पर प्रश्नचिन्ह लगा देते हैं जो संप्रेषणीय होने से ज़्यादा उसके बाहरी सौन्दर्य को प्रश्रय देती है।

धूमिल की काव्य-भाषा स्वतंत्र चेतना का संवहन करती है। अतः भावों व विचारों को रूपाकार देने के लिए जिस भाषाई वैशिष्ट्य को लेकर आते हैं वह उनकी सृजनात्मकता की परिचायक है। उनकी भाषा व्याकरण के कड़े नियमों में बंधकर असमर्थ नहीं होती। वह भावाभिव्यक्ति हेतु अपनी भाषा को तराशते हैं और कविता में प्रयुक्त करते हैं। कविता उनके लिए केवल शब्दों को क्रम से, तुक, छंद के अनुसार बैठाना नहीं है अपितु 'वाणी की आँख' है जिसके

माध्यम से मनुष्य सत्य देख सकता है । 'भाषा' उनके लिए अनुभवों को ऐसे अभिव्यक्ति देने का माध्यम है जिससे रचनात्मक, सामाजिक, राजनीतिक संघर्ष को उनकी समूची गहराई में दर्शाया जा सके । धूमिल की काव्य-भाषा और भाषा संरचना उनकी दृष्टि के रचनात्मक प्रस्तुतिकरण का अभिन्न अंग है । उनकी यह पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा सकती हैं :-

"उसके लिए कविता सिर्फ शब्दों की बिसात नहीं
वाणी की आँख है
बारिश में भीगकर आह्लादित कवि
नंगे सिर घूमता है कीच भरे रास्तों पर
अनुभव के नए-नए पृष्ठों पर
भाषा के समर्थन में बूँदें गिरती हैं
जैसे सामूहिक हस्ताक्षर अभियान में
आसमानी दस्तख़त ।"[72]

-'बारिश में भीगकर'

धूमिल के लिए यही वह रचना प्रक्रिया है जो शब्दों की बिसात बनकर सीमित नहीं होती अपितु दृष्टि देती है । रचना की यह प्रक्रिया सहज नहीं है । अनुभव यदि आह्लादित करने वाला हो तब कुछ सहज हो भी सकती है किन्तु तकलीफ़ के अनुभवों की अभिव्यक्ति में भाषा के 'चुकने' का ख़तरा रहता है । कटु अनुभवों की अभिव्यक्ति में भी सहज रहकर भाषा को सहज बनाए रखना निश्चित ही एक कठिन कार्य है क्योंकि विपरीत परिस्थितियों में सर्वप्रथम भाषा ही भ्रष्ट होती है । किन्तु धूमिल ने हर स्थिति में भाषा की सहजता को बनाए रखने में सफलता प्राप्त की है । गाँवों में रहने के कारण उनमें भदेसपन अवश्य है किन्तु उसमें किसी प्रकार की कुंठा नहीं है । यह भदेसपन उनकी कविताओं में ग्राम्य या लोक संस्कृति से जुड़े होने के कारण आया है । परिवेशगत सच्चाई से साक्षात्कार होने के कारण उनकी कविताओं में भदेसपन उपस्थित हुआ है । जन-जीवन से जुड़ाव के कारण उनकी भाषा का यह भदेसपन उनकी कविता की शक्ति बना । कविता में आए इस भदेस

रूप ने उनके विचारों को, कविता को नई अर्थवत्ता दी और उसे संप्रेषणीय बनाया, अर्थप्रक्रिया में नया योगदान दिया। उदाहरणार्थ यह पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :-

"वह किसी गँवार आदमी की ऊब से
पैदा हुई थी और
एक पढ़े-लिखे आदमी के साथ
शहर में चली गई
एक सम्पूर्ण स्त्री होने के पहले ही
गर्भाधान की क्रिया से गुज़रते हुए
उसने जाना कि प्यार
घनी आबादी-वाली बस्तियों में
मकान की तलाश है
लगातार बारिश में भीगते हुए
उसने जाना कि हर लड़की
तीसरे गर्भपात के बाद
धर्मशाला हो जाती है और कविता
हर तीसरे पाठ के बाद।"[73]

-'कविता'

इस कविता में कवि आधुनिक समय में 'कविता' की स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। स्त्री को अपमानित करना उनका उद्देश्य नहीं है अपितु, 'औरत के धर्मशाला होने' से अभिप्राय कविता के लोक विच्छिन्न होने के उस भयावह परिणाम से है जिससे कविता का महत्त्व कम हो रहा है। इस अहसास की तीखी अभिव्यक्ति के लिए वह भदेस शब्दों का रचनात्मक प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रयोग धूमिल ने वर्तमान समय में कविता के खोखलेपन और कविता के प्रति लोगों को उजागर करने हेतु किये हैं न कि स्त्री की दयनीय स्थिति पर आनंद लेने के लिए। यह प्रयोग उनके भीतर के क्रोध को उजागर करते हैं।

धूमिल की कविता में आए शब्द जीवन्त, व्यक्तिगत अनुभवों से जुड़े होने के कारण काव्य की संवेदना के प्रवाह को बाधित नहीं करते। उनकी भाषा और संवेदना के बीच की समझ उनकी रचना सृष्टि की शक्ति है। अपनी संवेदना व भाषा का जैसा तालमेल धूमिल स्थापित करते हैं वह एक सार्थक व सटीक वक्तव्य के रूप में सामने आता है। यह 'सार्थक वक्तव्य' धूमिल का साध्य नहीं था। साध्य था एक 'सही' कविता। ऐसी कविता जो युग सन्दर्भों को उजागर कर सके। परिवेशगत दबावों से मुक्त हो। इसलिए सार्थक वक्तक्व्य को वह 'घेराव में बौखलाए हुए आदमी का संक्षिप्त एकालाप' भी कहते हैं। धूमिल की कविता का मूलाधार यही आम आदमी है जो निम्न और मध्यवर्ग से सम्बन्ध रखता है और जिसमें बिगड़ती स्थितियों की भयावहता से उपजी बौखलाहट है। इस आदमी की बौखलाहट और उनके आक्रोश के मूलभूत कारणों को वह अपनी कविता में 'वक्तव्यों' के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। उनकी कविता 'मोचीराम' में इसकी उपस्थिति स्पष्ट देखी जा सकती है :-

"मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
मरम्मत के लिए खड़ा है।"[74]

-'मोचीराम'

उनके वक्तव्यों में नए रूपांतरण मिलते हैं। जैसे इस कविता में आदमी और जूता एक नया अर्थ संप्रेषित करता है और व्यक्ति की वास्तविकता और नियति का कटु अनुभव करवाता है। 'कवि के कथ्य और शैली में जो अनूठापन आ गया है वह असल में इन्हीं शब्दों एवं वाक्यों के नए रूपांतरण द्वारा आया है। इसके अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व नाटकीय व्यंग्य भी है जो इस अनूठेपन को अर्थवत्ता प्रदान करता है। धूमिल की यह सबसे बड़ी विशेषता है जो उनकी रचना प्रक्रिया को गति प्रदान करती है। यह गति ही वक्तव्य को कविता बनाती है।' वक्तव्यों के माध्यम से नाटकीयता का समावेश भी उनकी कविताओं में हो जाता है। नाटकीय संवादों के माध्यम से आक्रोश और तेवर के साथ कवि स्वार्थ लिप्त चेहरों का उद्घाटन करते हैं :-

"तुम्हारी भाषा और उम्मीद के बीच

वे काठ का एक टुकड़ा रख देंगे
या फिर एक प्याली गर्म चाय -
पियो जी कबी जी माराज ।"[75]

-'दूसरे का घर'

कवि और महाराज की जगह क्रमशः 'कबी' और 'माराज' शब्द का प्रयोग यहाँ नाटकीयता लाता है । इसी तरह मोची की दृष्टि में ग्राहक की विद्रूपता को नाटकीय तरीके से वह ऐसे प्रस्तुत करते हैं कि आक्रोश के ताने-बाने में लिजलिजी भीड़ का ख़ाका बन जाता है :-

"यह कोई बनिया है
या बिसाती है
मगर रोब ऐसा कि हिटलर का नाती है
इसे बाँद्धो, उसे काट्टो, हिंया ठोक्को, वहाँ पीट्टो '
घिश्शा दो, अइशा चमका, जुत्ते को ऐना बनाओ ।"[76]

-'मोचीराम'

नाटकीयता के साथ ही वह संवाद सृष्टि भी करते हैं । यह संवाद उनकी काव्य-भाषा को अभिप्रेत संवेदना को उजागर करने में समर्थ बनाता है । उनकी चित्रात्मक शैली भी स्थितियों को हू-ब-हू आँखों के समक्ष उपस्थित कर देती है । अपनी कविता 'किस्सा जनतंत्र' में रोटियों की जोड़-तोड़ में लगी स्त्री परिवार के सदस्यों की संख्या और रोटियों की संख्या में तारतम्य बैठाने में जुटी दिखाई देती है :-

"बड़कू को एक
छोटकु को आधा
परबत्ती- बालकिशुन आधे में आधा
कुल रोटी छह
और तभी मुँह दुब्बर
दरबे में आता है - 'खाना तैयार है ?' "[77]

-'किस्सा जनतंत्र'

जनतंत्र में समान अवसर व सुविधाओं के इंतज़ार में बैठा एक आम आदमी वास्तव में रोटी की गुणा-भाग में कैसे उलझा रहता है यह चित्र इस कविता में धूमिल खींचते हैं। घर का मुखिया दुब्बर रोटी खाने से पहले पेट भर पानी पीता है ताकि छह रोटी में पूरे परिवार का पेट भर सके। परिवार की सम्पूर्ण आर्थिक दशा कुछ पंक्तियों की कविता में धूमिल संवाद व स्थितियों के नाटकीय प्रदर्शन द्वारा उपस्थित कर देते हैं। उनकी प्रसिद्ध लम्बी कविता 'पटकथा' में आज़ादी मिलने से लेकर हिंदुस्तान की वर्तमान दुर्दशा और राजनीतिक विसंगतियों के प्रस्तुतिकरण में भी नाटकीयता है। यह कविता मंच पर खेले जा रहे नाटक की भाँति दृश्य दर दृश्य आगे बढ़ती है। आरंभ में आज़ादी मिलने पर वह प्रसन्न होते हैं। आगे जनतंत्र, समाजवाद, राजनीतिक अवसरवादिता, चुनाव आदि पर वह कड़ा प्रहार करते हैं। हिंदुस्तान की दुर्दशा पर विचलित होते हैं। यह सब उस कविता में भाषाई सृजनात्मकता के चलते ऐसे उपस्थित होता है जैसे वास्तव में मंच पर कोई नाटक देखा जा रहा हो :-

"बाहर हवा थी
धूप थी
घास थी
मैंने कहा आ-ज़ा-दी...
मुझे अच्छी तरह याद है-
मैंने यही कहा था
मेरी नस-नस में बिजली
दौड़ रही थी
उत्साह में
खुद मेरा स्वर
अजनबी लग रहा था
- - -
खेत की मेड़ पार करते हुए

मैंने एक बैल की पीठ थपथपाई...।
सड़क पर जाते हुए आदमी से
उसका नाम पूछा
और कहा-बधाई...।"[78]

-'पटकथा'

इसी कविता में आगे हिन्दुस्तान नाम के एक पात्र को लेकर आते हैं जो कवि का ही हमशक्ल है। वह हमशक्ल उन्हें जीवन के उसी सत्य से परिचित करवाता है जिसके लिए एक साधारण मनुष्य जी तोड़ मेहनत करता है। यह सत्य है 'रोटी'। क्योंकि जिसके पास रोटी नहीं वह पशु बन जाने को विवश हो जाता है :-

"सुनो ;
आज मैं तुम्हें वह सत्य बतलाता हूँ
जिसके आगे हर सच्चाई
छोटी है। इस दुनिया में
भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क
रोटी है।"[79]

-'पटकथा'

रोटी और भूख उनकी कविता में कई बार आए हैं। एक भूखे व्यक्ति को बजती घंटियों की आवाज़ में दिखाई देने वाली सिकती रोटियों का वर्णन एक अन्य प्रकार से अपनी कविता में नाद बिम्ब के माध्यम से वह कुछ ऐसे करते हैं :-

"छितो छितो डांग छितो
छितो छितो डांग डांग
डफले पर बजती है भूख पैर में घंटियाँ
दुपहर की आँच में सिकती हैं
रोटियाँ
मजा करो-

तुम अपनी संसद के साथ
हम अपनी सांसत के साथ ।"[80]

-'रोटियों का शहर'

वहीं भूख और भाषा के अंतर्संबंध की ओर भी उनकी दृष्टि जाती है । क्योंकि भूखा व्यक्ति व्याकुल होकर पशुतुल्य हो जाता है और सबसे पहले उसका साथ उसकी भाषा छोड़ती है, और फिर मनुष्यता :-

"मगर तुम्हारी भूख और भाषा में
यदि सही दूरी नहीं है
तो तुम अपने-आपको आदमी मत कहो
क्योंकि पशुता-
सिर्फ पूँछ होने की मजबूरी नहीं है
वह आदमी को भी वहीं ले जाती है
जहाँ भूख
सबसे पहले भाषा को खाती है ।"[81]

-'पटकथा'

धूमिल की काव्य-भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कविता में जीवन की यथार्थ स्थितियों का चित्रण करती है । यथार्थ के यथारूप चित्रण में कई स्थानों पर उनकी काव्य-भाषा 'गद्य-भाषा' के निकट आ जाती है । गद्य के धूमिल पक्षधर थे । गद्य के विषय में उन्होंने एक स्थान पर लिखा था कि "सातवें दशक में पहली बार 'खड़ी बोली की कविता' लिखी गयी । ऐसा 'लय की मुक्ति' के कारण ही संभव हुआ । कविता और भाषा का फर्क ख़त्म हो गया । कविता भाषा और भाषा कविता बन गयी ।"[82] गद्य को धूमिल अपने समय की मुख्य विधा मानते थे और स्वयं अपनी कविताओं में गद्य का प्रयोग उन्होंने किया है । उनमें मुहावरे, सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ, वक्तव्य, गठीला वाक्य-विन्यास मिलता है और साथ ही लय या तुक भी उपस्थित रहती है । धूमिल द्वारा मुहावरों व सूक्तियों के प्रयोग के सन्दर्भ में राजेश जोशी का कथन है कि "सूक्तियाँ या मुहावरे गढ़ना एक ग्रामीण परंपरा है जो कमोबेश अनुभव की प्रचुरता लेकिन भाषा की पर्याप्त जानकारी न

होने के कारण पैदा हुई होगी । सूक्तियाँ अधिकतर अपने निर्धारित शब्दों के भीतर ही अनेकानेक अर्थों की गूँज को अपने में समाहित किए होती हैं और सन्दर्भों के बदलते ही एक ही सूक्ति के अर्थ भी बदल जाते हैं । यह सूक्तियों का एक विशेष गुण है जिसे अधिकाँश सूक्तियों में देखा जा सकता है । 'निराला' कविता में सूक्तियों और 'उपदेशों' को कवि की कमज़ोरी मानते थे लेकिन धूमिल की कविता निराला की मान्यता के विरुद्ध एक जीवंत चुनौती है, वहाँ सूक्तियाँ उपदेशों और वक्तव्यों से कविता का गठन सिर्फ संभव ही नहीं हुआ है ; वरन् उसने आज की कविता का एक तेज़ तर्रार नया मुहावरा भी गढ़ा है और धूमिल उसमें काफ़ी हद तक सफल भी रहे हैं ।"[83]

मुहावरों, सूक्तियों आदि के प्रयोग से अपनी काव्य-भाषा को धूमिल ने शक्तिशाली और समृद्ध बनाया है । सूक्ष्म भावों की तीक्ष्ण अभिव्यक्ति में और व्यंग्य करने में यह मुहावरे व सूक्तियाँ सहायक सिद्ध हुए हैं । अभिव्यक्ति में प्रखरता आई है । उनकी कविताओं में परंपरागत समाज में स्वीकृत मुहावरे भी हैं और यथार्थ की सटीक अभिव्यक्ति हेतु स्वनिर्मित मुहावरे भी । जिन स्थितियों की अभिव्यक्ति उन्होंने इनके प्रयोग द्वारा की है वह कहीं बाहर से उठाकर नहीं लाई गई हैं या काल्पनिक नहीं हैं । ठोस सत्य है । इसी ठोस सत्य को मुहावरों की प्रयुक्ति द्वारा उन्होंने साकार किया है । देहाती समाज में प्रचलित कुछ ऐसे मुहावरों का भी प्रयोग उन्होंने किया है जिन्हें साहित्यिक भाषा की दृष्टि से अश्लीलता की कोटि में रखा जाता है किन्तु इनसे उस कटु यथार्थ को उन्होंने उजागर किया है जिनसे तथाकथित सभ्य समाज नज़र नहीं मिलाना चाहता । अपनी कविताओं में ऐसे मुहावरों या शब्दों का प्रयोग कर सामाजिक स्थितियों का सघन साक्षात्कार करवाया है । इस सम्बन्ध में अशोक वाजपेयी का कथन है कि 'धूमिल जो काव्य-संसार बसाते हैं वह हाशिये की दुनिया नहीं बीच की दुनिया है । यह दुनिया जीवित है और पहचाने जा सकने वाले समकालीन मानव चरित्रों की दुनिया है ; जो अपने ठोस रंग रूपों और अपने चारित्रिक मुहावरों में धूमिल के यहाँ उजागर होती है ।' आधुनिक जीवंत यथार्थ की अभिव्यक्ति इन मुहावरों या सूक्तियों के माध्यम से वह करते हैं । विसंगतिपूर्ण समाज पर अपनी सूक्तियों से उन्होंने कटाक्ष किया है । आधुनिक जीवन में व्याप्त विडम्बना, छल-कपट, स्वार्थ, धोखेबाज़ी, कायरता को सूक्तियों द्वारा विस्तारित अभिव्यक्ति दी है । कुछ उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं :-

"मैंने हरेक को आवाज़ दी है
हरेक का दरवाज़ा खटखटाया है
मगर बेकार...मैंने जिसकी पूँछ
उठाई है उसको मादा पाया है ।"[84]

-'पटकथा'

x x x

"प्यार घनी आबादी वाली बस्तियों में
मकान की तलाश है ।"[85]

-'कविता'

x x x

"आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है ।"[86]

-'बीस साल बाद'

x x x

"जनता -
एक भेड़ है' जो दूसरों की ठण्ड के लिए
अपनी पीठ पर
ऊन की फ़सल ढो रही है ।"[87]

-'पटकथा'

राजनीतिक-सामाजिक परिवेश की कमज़ोरियों को इन प्रयोगों द्वारा वह बेपर्दा कर प्रस्तुत करते हैं । तुकों का भी उन्होंने अत्यंत सृजनात्मक प्रयोग किया है । नक्सलबाड़ी आन्दोलन का समर्थन करते हुए उन्होंने एक कविता में लिखा है कि जब बुद्धिजीवी वर्ग कायर बनकर आन्दोलन से जुड़े लोगों का साथ नहीं दे सकता तो उनके पास साहस से तमंचा उठाने के अलावा कोई मार्ग नहीं बचता । कविता की गद्यात्मकता अवलोकनीय है :-

"मैं तुम्हें दिखलाता हूँ भाषा के जंगल में
कविता का वह वर्जित प्रदेश
जहाँ कायरता -

एक खाली तमंचा फेंककर
भाग गयी है और साहस
चंद पके हुए बालों के साथ
आगे बढ़ गया है -
अँधेरे में ।"[88]

-'कविता-श्रीकाकुलम'

एक अन्य उदाहरण में निम्न कविता को भी देखा जा सकता है :-

"मैं वह सर देखता हूँ'
भाई गजब :
लोहा भी सोचता है ।
फिर देखते ही देखते
वह सिर बदल जाता है
निग्रो औरत के
पुष्ट दूध भरे विशाल स्तन में,
पीप्-पीप् करते बम में
जिसे छापामार दस्ते ने दुश्मन की ओर
फेंका है ।
-सैंकड़ों नीली-नीली नसें कौंधती हैं ताज़ा और
तेज़ खून लेकर भागती हुई जहाँ...
आदमी के लिए सैंकड़ों ज़िन्दा विचार
भाष्य बनने के लिए व्याकुल हैं ।"[89]

-'लेनिन का सिर'

स्वातंत्र्योत्तर भारत के राजनीतिक स्वरूप को अत्यंत प्रभावशाली तरीके से धूमिल अपनी भाषिक सृजनात्मकता द्वारा प्रस्तुत करते हैं । वह शब्द चयन और उनका प्रयोग इस प्रकार करते हैं

कि उनकी बात विस्फोट करती है । शब्दों का प्रयोग उसके नंगेपन में ऐसे वह करते हैं कि पाठक तक वह एक व्यापक अर्थ के साथ पहुँचता है । शब्द की विद्रूपता या कुरूपता या उसके प्रचलित अर्थ की तरफ़ उसका ध्यान नहीं जाता और स्थितियों की नग्नता साकार हो उठती है । कविता जैसे-जैसे विकसित होती है शब्द का प्रचलित अर्थ पीछे छूटता जाता है और शब्दों को विस्तृत आयाम मिलता है । यहाँ एक उदाहरण अवलोकनीय है जहाँ 'संडास' जैसा शब्द ईमानदारी के 'चुकने' या 'बिकने' की भयावहता को दर्शाता है । नैतिकता की भ्रामक अवधारणा को स्पष्ट करता है :-

"हर ईमान का, एक चोर दरवाज़ा
होता है
जो संडास की बगल में खुलता है ।"[90]

-'सच्ची बात'

मूतना, मासिक धर्म, जाँघ, योनी, सहवास जैसे अप्रचलित, अश्लील, कठोर व नुकीले शब्द चुनकर उन्हें धार देकर धूमिल ने उन्हें पैना किया है । ताकि ये शब्द सामाजिक-राजनीतिक कुरूपता को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर सकें और हृदय पर चोट कर सकें । जैसे :-

"अपने जाँगर का सुख तलाशना
अन्धी लड़की की आँखों में
उससे सहवास का सुख तलाशना है ।"[91]

-'पतझड़'

x x x

"मासिक धर्म में डूबे लत्ते-सा
खड़खड़ाता हुआ दिन ।"[92]

-'वसंत'

धूमिल द्वारा यौन प्रतीकों के प्रयोग के उचित या अनुचित होने के प्रश्न के उत्तर में विद्यानिवास मिश्र कहते हैं कि "शायद धूमिल को गाँव वाले मन की बात सीधी तौर पर कहने के लिए लाचारी

से इतना आक्रामक होना पड़ा है । मैं उनकी भाषा का न पक्षधर हूँ, न स्त्री के शरीर का इस तरह भाषिक उपयोग करने को काव्योचित मानता हूँ, परन्तु जो कवि फ़रेब से, हर एक तरह के फ़रेब से एकदम अफना गया हो वह शहरी नारी-गरिमा के फ़रेब को भी दूर फ़ेंक देता है, शायद उसका उत्साह विस्थापित है पर उसका ईमान अपनी जगह पर है और यही बात हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए । धूमिल के काव्य में काम नहीं है, कामुकता के प्रति गहरी वितृष्णा है । वह पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की तरह ग़रिमा के लिए ही कुछ तीखा होना चाहता है ।"[93] उनकी कविता में आने वाले "यौन और ऊपर से वीभत्स लगने वाले बिम्ब, प्रतीक और सादृश्य विधान तो उनकी भाषा को चौखटा देने वाले हाशिया मात्र हैं ।"[94] 'अश्लीलता' के सामाजिक सन्दर्भों को तोड़कर उसके विद्रूप का प्रभाव पाठक के मानस पर डालकर जागृत करने का काम धूमिल ने किया । इसके लिए अपनी भाषा में सहजता की ओर भी उनकी विशेष दृष्टि रही । इसी सहजता के माध्यम से आज़ादी, संसद, जनतंत्र, राजनीति, समाजवाद पर ऐसा तीखा, पैना व्यंग्य किया कि इनकी दुर्दशा के लिए ज़िम्मेदार लोग तिलमिला कर रह जाएँ :-

"उन्होंने किसी चीज़ को
सही जगह नहीं रहने दिया है
न संज्ञा
न विशेषण
न सर्वनाम
एक समूचा और सही वाक्य
टूटकर बि-ख-र गया है ।"[95]

-'पटकथा'

या

"नहीं अपना कोई हमदर्द
यहाँ नहीं है । मैंने एक एक को
परख़ लिया है ।
मैंने हरेक को आवाज़ दी है

हरेक का दरवाज़ा खटखटाया है
मगर बेकार। मैंने जिसकी पूँछ
उठाई है उसको मादा
पाया है।"[96]

-'पटकथा'

उनका आक्रोश केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं रहता। अवसरवादियों, दोगले चरित्र वालों पर प्रहार करने के साथ ही जनता के दोषों पर भी उसी तीक्ष्णता से वह व्यंग्य करते हैं। समाज के सभी क्षेत्रों, वर्गों पर उनकी दृष्टि गयी है। देहात, गाँव, क़स्बा, शहर सभी की विषमताओं के विरोध में उन्होंने आवाज़ उठाई है :-

"शहर की समूची पशुता के खिलाफ़
गलियों में नंगी घूमती हुई
पागल औरत के 'गाभिन पेट' की तरह
सड़क के पिछले हिस्से में
छाया रहेगा पीला अन्धकार।"[97]

-'जनतंत्र के सूर्योदय में'

समाज की मूल्यहीन व संवेदनहीन स्थिति की क्रूरता पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा कि :-

"एक अजीब-सी प्यारभरी गुर्राहट
जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है।"[98]

-'पटकथा'

ऊपर से वीभत्स दिखने वाले और जुगुप्सोपादक शब्दों का प्रयोग धूमिल समाज के स्वार्थलिप्त, संवेदनशून्य रूप के उद्घाटन के लिए करते हैं। उनकी भाषिक पुनर्रचना अनेक संवेदनाओं और परिस्थितियों को एक साथ मूर्तिमान कर देती है।

कवि धूमिल की काव्य-भाषा उन्हें उस 'धूमिल' के रूप में प्रतिष्ठित करती है जो निर्भयता से अपनी बात को अभिव्यक्त कर देता है । उनकी कविता में आया एक-एक शब्द, शैली, परंपरागत, परिचित अर्थ की सीमा से बाहर निकल कर एकदम नवीन परिदृश्यों को ऐसे प्रस्तुत करती है कि ताज्जुब होता है । युगीन परिवेश की पीड़ा को अपनी काव्य-भाषा और संरचना के द्वारा उन्होंने ऐसे प्रस्तुत किया है कि एक ओर वह युगीन समाज की विसंगतियों को सामने लाती है और दूसरी ओर प्रासंगिक भी हो जाती है । उनकी रचनात्मक उत्तेजना का कारण विसंगत स्थितियों का विरोध था और साथ ही ऐसी पैनी समझ थी जिसके कारण वह आवेग के बहाव में बिना बहे सटीक, मारक कविताएँ लिख पाए जो भयावह और जटिल स्थितियों में जागृत करने और उनका विरोध करने में हमें सक्षम बनाती हैं । उनकी रचनाधर्मिता का मूल उद्देश्य सामाजिक उत्तरदायित्व था । यही कारण है कि उन्होंने उस भाषा में अपनी बात कही जो नग्न यथार्थ को मूल्यों के परदे के भीतर रखने की बजाय उसकी भयावहता को उजागर करे । इसके लिए कहीं उन्होंने वक्तव्य रूप में, कहीं विवेचन शैली में, कहीं संवादात्मक शैली अपनाकर, कहीं संकेत द्वारा, कहिव भदेस होकर, कहीं नाटकीयता अपनाकर कविता लिखी है । प्रसंगानुसार उनकी भाषा का तेवर बदलता रहता है और जीवन की तमाम विद्रूपताओं की अभिव्यक्ति में वह सफल दिखाई देते हैं । काव्य की विषयवस्तु में यथार्थ की अभिव्यक्ति के पैरोकार होने के कारण भाषा-शैली में भी यथार्थपरकता, भावप्रवणता की सचेतता उनमें परिलक्षित होती है । जीवन, समाज, जनतांत्रिक व्यवस्था की तमाम विद्रूपताओं, बेहूदगियों पर प्रहार करने के लिए भाषा को नवीनता से सिंचित् कर उसे सशक्त बनाने में निश्चित ही धूमिल सफल हुए हैं ।

सन्दर्भ

[1] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 10

[2] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 105

[3] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 104

[4] जनान्तिक, नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ संख्या - 27

[5] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 119

[6] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 67

[7] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 26

[8] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 43

[9] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 49

[10] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 15

[11] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 16

[12] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 108

[13] समकालीन हिन्दी कविता, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ संख्या - 198

[14] आलोचना, अक्तूबर-दिसंबर - 1984, सं. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या - 21

[15] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 66

[16] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 126-127

[17] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 104

[18] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 124

[19] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 100 -101

[20] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 105

[21] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 105

[22] सुदामा पांडे का प्रजातंत्र, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या- 61

[23] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 126

[24] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 36

[25] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 108

[26] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 14

[27] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 25

[28] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 88

[29] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 58

[30] धूमिल और परवर्ती जनवादी कविता, श्रीराम त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या - 64

[31] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 47

[32] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 50, आवृत्ति - 2010

[33] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 120

[34] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 97

[35] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 92

[36] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 77

[37] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 36

[38] कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या - 126

[39] कवि कह गया है, अशोक वाजपेयी, पृष्ठ संख्या -110-111

[40] सत्तरोत्तरी हिन्दी कविता : संवेदना शिल्प और कवि, मनोज सोनकर, पृष्ठ संख्या - 90

[41] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 117

[42] दूसरे प्रजातंत्र की तलाश में : धूमिल, कुमार कृष्ण, पृष्ठ संख्या -192 से उद्धृत

[43] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 86

[44] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 66

[45] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 36

[46] समकालीन बोध और धूमिल का काव्य, डॉ. हुकुमचंद राजपाल, पृष्ठ संख्या - 135

[47] समकालीन हिन्दी कविता का मूल्यांकन, गुरचरण सिंह, पृष्ठ संख्या – 103

[48] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 10

[49] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 124

[50] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 15

[51] कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या – 135

[52]परिक्षेत्र पत्रिका, अंक - 2,3,4 अगस्त- 81, जनवरी - 82, रत्नशंकर पाण्डेय, पृष्ठ संख्या - 37

[53] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 127

[54] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 127

[55] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 117

[56] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 126

[57] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 63

[58] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 84

[59] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 125

[60] समकालीन कविता और धूमिल, डॉ. मंजुल उपाध्याय, पृष्ठ संख्या - 41

[61] मुक्तिबोध और त्रिलोचन शास्त्री से वीरेंद्र मोहन की बातचीत, धूमिल के बारे में, आलोचना, अप्रैल-जून, 1989, सं. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या - 55

[62] नया प्रतीक, फरवरी - 1978, पृष्ठ संख्या - 4-5

[63] आलोचना भी रचना है, काशीनाथ सिंह, पृष्ठ संख्या - 78

[64] पूर्वग्रह पत्रिका, अंक - 7, मार्च-अप्रैल, 1975, पृष्ठ संख्या - 9

[65] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 9

[66] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 68

[67] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 40

[68] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 98

[69] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 16

[70] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 85

[71] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 8

[72] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 75

[73] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 7

[74] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 36

[75] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 76

[76] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 38

[77] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 50

[78] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 99

[79] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 113

[80] सुदामा पांडे का प्रजातंत्र, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या- 39

[81] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 113

[82] आगाह, विशेषांक - धूमिल

[83] पूर्वग्रह पत्रिका, अंक - 7, मार्च-अप्रैल, 1975, पृष्ठ संख्या - 17

[84] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 125

[85] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 7

[86] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 10

[87] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 104

[88] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 56

[89] कल सुनना मुझे, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 67

[90] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 77

[91] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 60

[92] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 18

[93] सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र, धूमिल, भूमिका, पृष्ठ संख्या - 12

[94] आधुनिक कविता : नए सन्दर्भ, डॉ. वीरेंद्र सिंह, पृष्ठ संख्या - 65

[95] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 109

[96] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 125

[97] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 12

[98] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 111-112

अध्याय – पाँच

हिन्दी कविता में जनतंत्र की समग्र तस्वीर

अध्याय – पाँच

हिन्दी कविता में जनतंत्र की समग्र तस्वीर

5.1 साठोत्तरी कविता का मूल स्वर व अन्य समकालीन कवि और जनतंत्र

5.2 रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा और धूमिल की जनतांत्रिक दृष्टि का तुलनात्मक विवेचन

अध्याय - पाँच

हिंदी कविता में जनतंत्र की समग्र तस्वीर

स्वतंत्रता के बाद भारत देश के नागरिकों में राजनीतिक-आर्थिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप निकट भविष्य में होने वाले सकारात्मक परिवर्तनों पर पूर्ण आस्था थी । ब्रिटिश शासन से मुक्ति के पश्चात् भारत को स्वावलम्बी बनाने के लिए जो अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गए उनके केन्द्र में जन सामान्य था । उनकी जीवन स्थितियों में सुधार कर उन्हें उन्नत बनाने की इच्छा थी । जनता के हित की भावना सर्वाधिक थी । राजनीतिज्ञों की भी यह इच्छा थी कि आज़ाद देश में प्रत्येक व्यक्ति अपनत्व का अनुभव करे और देश को चलाने सम्बन्धी हर एक निर्णय में 'जनता' की प्रतिभागिता हो । जनता में ही शासन की वास्तविक क्षमता निहित मानकर भारत में 'जनतंत्र' की स्थापना हुई । कवियों ने इस 'जनतंत्र' के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए आरंभिक समय में उल्लास और स्फूर्ति से पूर्ण कविताएँ लिखीं । अपने भावों को व्यक्त करते हुए छायावाद के चार स्तंभों में एक माने जाने वाले प्रसिद्ध कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने लिखा :-

"भरो धान, भरो मान
करो लोक का विधान
तानो नूतन वितान
प्राणों को करो सफल ।"[1]

-'पालो तुम सकल सकल'

देश में 'जनतंत्र' के निर्णय ने जनता के हृदय को आलोकित और उल्लसित किया । जो शक्ति जनतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के रूप में जनता को मिली थी उसके प्रति चेतन होना भी अपेक्षित था । भारत के समक्ष अर्थजर्जित स्थितियों से निजात पाने, विभाजन की पीड़ा से बाहर निकलने, नए ऊषाकाल में आगे बढ़ने, अपने पैरों पर खड़े होने जैसी चुनौतियाँ विकराल रूप धारण कर खड़ी थी । स्वतंत्रता के पश्चात् की इन स्थितियों के प्रति सचेत होकर अपना दायित्व

समझ हिंदी कविता में कवियों ने सत्य की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया ताकि रचनाओं के द्वारा युगगति को सही दिशा दी जा सके।

एक ओर कवियों ने जहाँ 'जनतंत्र' का स्वागत करते हुए जनगण का अभिवादन किया वहीं दूसरी ओर 'जनता' को सचेत करने का कार्य भी अपनी कविताओं के द्वारा किया जिससे कि अपनी शक्ति का सामर्थ्य समझ अन्याय के विरोध में वह खड़ी हो सके और केवल 'मतदान' करने का यंत्र बनकर न रह जाए। इसके लिए उनमें राजनीतिक चेतना का होना आवश्यक था ताकि परिस्थितियों के प्रत्येक पक्ष को समझ कर वह बुद्धिमत्ता पूर्ण निर्णय ले सके। ग़लत को ग़लत व सही को सही कह सके। जनतांत्रिक व्यवस्था के इस पक्ष पर भी कवियों की दृष्टि रही और इसे कवियों ने ब-खू-बी अपनी कविता का विषय बनाकर अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। 'दिनकर' की एक कविता की पंक्तियाँ यहाँ उदाहरणार्थ देखी जा सकती हैं जिनमें वह जनता को स्वतंत्रता का उनके सामर्थ्य का बोध कराते दिखाई देते हैं :-

"है कौन जगत में, जो स्वतंत्र जनसत्ता का अवरोध करे ?
रह सकता सत्तारूढ़ कौन, जनता जब उस पर क्रोध करे ?
आज़ादी केवल नहीं आप अपनी सरकार बनाना ही,
आज़ादी है उसके विरुद्ध खुलकर विद्रोह मचाना भी।"[2]

इस समय की कविता में कवियों ने जनता के प्रति जो अनन्य विश्वास और उनकी निर्णयात्मक शक्ति के प्रति जो आस्था दिखाई उससे 'जनतंत्र' चलाने वाली जनता को प्राणशक्ति मिली। प्रेरक कविताओं द्वारा उनका आत्मविश्वास बढ़ा, संबल मिला तथा दृष्टि मिली। कविताओं में इस जनतांत्रिक व्यवस्था और उन्नत भविष्य के प्रति आस्था का भाव भी दिखाई दिया। स्वातंत्रयोत्तर भारत में कवियों की दृष्टि प्रत्येक पक्ष व स्थिति की पैनी पड़ताल करती रही। समय के साथ राजनीतिक जीवन में हुए परिवर्तनों और आज़ादी के बाद भी एक लम्बा समय बीत जाने पर जनता की अपरिवर्तित स्थितियों को अपनी कविता में कवियों ने उतारा। राजनीतिज्ञों में अपना हित साधन करने हेतु जनता को बरगलाने की बढ़ती वृत्ति तथा बापू के सिद्धांतों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति को देख उन पर व्यंग्य करते हुए सर्वेश्वर ने लिखा :-

"और तुम्हारा चश्मा ?
इतने दिनों हर कोई ?
उसे ही लगाकर
दिखाता रहा है अन्धों को करिश्मा ।"[3]

-'पंचधातु'

सन् 1960 तक आते-आते 'जनतंत्र' पर कवियों के विचार और कविता का स्वर पूर्णतः परिवर्तित हो गया और आस्था, विश्वास, चैतन्य, उल्लास का स्थान अनास्था, सन्देह, जड़ता और आक्रोश ने ले लिया । रचनाकारों ने यथार्थ को अभिव्यक्ति देते हुए अपने उस दायित्व का निर्वाह किया जिसकी ओर इंगित करते हुए मुक्तिबोध ने कहा था कि "जनता की राजनीति और जनोन्मुखी साहित्य का स्रोत एक ही है और वह है आज का यथार्थ । आज का यथार्थ कोई रहस्यवादी धारणा नहीं है, जिसको समझने के लिए इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों को तीव्र करना ज़रूरी हो । यदि हमारी काव्य-प्रेरणा वस्तुतः जीवन से उद्‌भुत हुई हो तो जनजीवन की वर्तमान परिस्थितियों और कष्टों का कारण भी हमारे अनुभूति-क्षेत्र का अंग होगा । अर्थात् इंसानियत को तबाह कने वाले रावणों, उनके सिपहसालारों और दासों के जनविरोधी षड्यंत्र भी हमारी अनुभूतियों के अंग होंगे ।...राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति में भिन्न हैं, उनका मूल है आज का यथार्थ, उसके लक्ष्य, उसके अभिप्रेत, उसके संघर्ष ।"[4]

स्वातंत्रयोत्तर लगभग दो दशकों की कविता में इसी अभिप्रेत और संघर्ष को कवियों ने वाणी दी । सन् साठ के बाद की कविताओं में राजनीतिक उथल-पुथल, राजनेताओं की आचारहीनता, जड़ता, स्वार्थभाव, मोहभंग, जनसाधारण की बिगड़ती स्थितियों का अनावरण करना कवियों का मुख्य लक्ष्य हो गया । शिथिल होती राजनीतिक व्यवस्था और मूल्य विघटन पर चिंता व्यक्त करते हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति को कवियों ने अपना ध्येय बना लिया । इन साठोत्तरी स्थितियों को कवियों ने किस शैली में अभिव्यक्त किया और उसका मूल स्वर क्या है ? 'जनतांत्रिक व्यवस्था' की अभिव्यक्ति किस रूप में इस समय कवियों ने की ? इसकी चर्चा अगले उपाध्याय में की गई है । साथ ही रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल की जनतांत्रिक दृष्टि और अभिव्यक्ति के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन भी इस अध्याय के अंतर्गत किया गया है ।

5.1 साठ के बाद की कविता का मूल स्वर और अन्य समकालीन कवि

सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता अंतर्द्वंद्वों से जूझते, अंतर्विरोधों का सामना करते हुए लोगों का साहित्यिक दस्तावेज़ कही जा सकती है। यह टूटते मूल्यों, विसंगतियों, विद्रूपताओं को अभिव्यक्त करने वाली कविता है जिसके केन्द्र में वह जनसामान्य है जो सामाजिक-राजनीतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार से टूट गया है। सत्ताधारियों के षड्यंत्रकारी व्यवहार और वादों के जाल में फँसकर वह तड़प रहा है। यह वह आम-आदमी है जिसकी आज़ादी से जुड़ी आकाँक्षाएँ, स्वप्न अपूर्ण हैं। स्वतंत्रता के द्वितीय दशक की कविता में सामाजिक-राजनीतिक पाखण्ड को भोग रहे जन सामान्य की स्थितियों को विद्रोह के स्वर में कवियों ने अभिव्यक्ति दी है। इस समय की कविता में युवा वर्ग के आक्रोश, संत्रास और चहुँ ओर व्याप्त विडम्बनाओं का चित्रण मिलता है। जन साधारण की जीवन स्थितियों की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण संवेदना और आत्मीयता के साथ कवियों ने की है जिसमें घुटन है, त्रासदी है, अनीति है, हिंसा है, अत्याचार है, अनाचार है। इस समय की कविता में राजनीति के उस सर्वग्रासी रूप की अभिव्यक्ति है जिसमें खंडित मानवीय मूल्य व्यक्ति की नियति बन चुके हैं।

सन् साठ के बाद की कविता में मूल रूप में राजनीतिक चेतना की अभिव्यति मिलती है। राजनीति के प्रति इस सजग बोध का कारण उसकी लोकव्यापी शक्ति है इसी कारण वह जीवन का और कविता का मुख्य विषय बन गई है। स्वतंत्रता और जनतांत्रिक व्यवस्था से जुड़े 'मोह' के 'भंग' होने का स्वर इस कविता में सुनाई देता है। स्वातंत्रयोत्तर भारत में राजनीति से जुड़े जनतंत्र, संसद, जनता, संविधान आदि शब्दों की विविध भंगिमाओं के साथ की गई प्रयुक्ति जनतांत्रिक व्यवस्था के भ्रष्ट व्याकरण को अभिव्यक्ति देती है। राजनीतिक विसंगतियों के विविध सूक्ष्म आयाम इस समय की कविता में मुखरता लिए हुए हैं। जनतंत्र में जनता की अनदेखी तथा स्वतंत्रता से जुड़ी अनुभूति की शिथिलता पर सन्न 1960 के बाद की कविता ज़ोरदार कुठाराघात करती है। इस समय की कविता सही मायने में जनतंत्र की कविता है।

वस्तुतः सन् 1960 के बाद देश की राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में आए बदलावों पर अपनी कविताओं के माध्यम से कवियों ने दृष्टिपात किया है। जनतांत्रिक स्थितियों से

सीधे साक्षात्कार करते हुए इस समय की कविता में राजनैतिक अनुभवों को रचनात्मक स्तर पर कवियों ने परिभाषित किया है । एक ओर जन की जीवन स्थितियों में सुधार के प्रति ज़िम्मेदार राजनैतिक व्यवस्था की व्यक्तिहन्ता राजनीति में परिणति और दूसरी ओर आम जन की विवशता, विपन्नता, ध्वंस आक्रोश और विद्रोह इस समय की कविताओं के मुख्य विषय रहे हैं । इस समय की कविता में मिलने वाले विद्रोह के स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ. शिवकुमार मिश्र कहते हैं कि यह "विद्रोह सत्ता के शीर्ष पर बैठी हुई स्वार्थी बुज़ुर्ग पीढ़ी के प्रति जिसने आज़ाद हुए देश को आज़ादी के बीस वर्षों में पूरी तरह अपने हक़ में निचोड़ कर निर्जीव कर दिया है । विद्रोह सुविधाभोगी वर्गों का हित साधन करने वाली उस समाज व्यवस्था के प्रति जिसमें मनुष्य मूलभूत अधिकारों का एक गट्ठर सिर पर लादे महज़ मिट्टी का पुतला, एक जिन्स, एक 'केस', एक फ़ाइल बनकर रह गया है, और अपने चारों ओर की कारगुज़ारियों का महज़ दर्शक, महज़ भोक्ता और महज़ एक माध्यम । पुरानी जीवन-स्थितियों की निरर्थकता का अहसास, परन्तु नई जीवन-स्थितियों के निर्माण में चाहकर भी अपनी भूमिका न निभा पाने की असमर्थता, जो कुछ सामने आ रहा है , अथवा जो कुछ घटित हो रहा है, उसे सिर माथे लेने की विवशता और न ले सकने की स्थिति में उत्पन्न आक्रोश, विक्षोभ, झुंझलाहट ही उस सारे मानसिक संत्रास एवं तनाव की जन्मदात्री है ।"[5] जन सामान्य के इसी तनाव, संत्रास, बेचैनी, उत्तेजना को कवियों ने स्वर प्रदान किया है । सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक असंगतियों से दु:खी जनता की जीवन स्थितियों को भली प्रकार जान-समझ कर कवियों ने अभिव्यक्त किया है ।

इस समय की कविता में जो तीक्ष्णता, उत्तेजना, आक्रोश, बड़बोलापन दिखाई देता है वह 'जन' की त्रासद स्थितियों से आहत बौद्धिक जनों का स्वाभाविक उबाल है । यह अनायास नहीं हुआ कि 1960 के बाद की कविता का स्वर पूर्ववर्ती कोमल स्वर से बदल कर कठोर और आक्रोश से पूर्ण हो गया । अपितु राजनीति में व्याप्त उस भेड़ियातंत्र को जिसके कारण निम्न, ग़रीब, सामान्य वर्ग का जीवन पशुतुल्य हो रहा था, अभिव्यक्ति देने हेतु कविता का तेवर बदला और कविता ने व्यंग्यपूर्ण, जटिल और संश्लिष्ट रूप धारण किया । राजनीतिक सत्य को उस समय की पूरी जीवंतता के साथ कवियों ने रूपायित किया । 1960 के बाद राजनीतिक कविताओं का इतनी मात्रा में लिखा जाना अचानक प्रारंभ नहीं हुआ था । इसके पीछे देश के राजनैतिक ढाँचे की वह चरमराती

स्थितियाँ थीं जिसके कारण उस पीढ़ी का भविष्य अँधेरे में जाते हुए दिख रहा था जिसका इस व्यवस्था पर अटूट विश्वास था। इस अंधकार को उस समय लिख रहे अनेक कवियों की कविताओं में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, दुष्यंत कुमार, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, श्रीकांत वर्मा आदि कवियों की कविताओं में इन समाजिक-राजनैतिक स्थितियों की पकड़ भाव और शिल्प के स्तर पर व्यक्तिगत विशिष्टता के साथ व्यंजित हुई दिखाई देती है। व्यक्तिक अनुभवों और शैली से समायोजित नई विद्रोहात्मक मुद्राओं के मूल में राजनैतिक विद्रूपताएँ, जनतांत्रिक अव्यवस्था, सामाजिक असंतोष व मोहभंग ही परिलक्षित होता है।

जिस राजनीति की उपस्थिति साठ के बाद की कविताओं में प्रमुख रूप में है उसके केन्द्र में 'व्यक्ति' है। इसी व्यक्ति के जीवन से जुड़ी आकाँक्षाओं और वस्तुजगत की स्थितियों के बीच की द्वंद्वात्मकता राजनीतिक यथार्थ से जुड़ती है। जनतांत्रिक व्यवस्था में यह व्यक्ति ही वह महत्त्वपूर्ण ईकाई है जिससे जुड़े विविध सरोकारों पर सूक्ष्म दृष्टि रखती हुई राजनीतिक सत्य को '60 के बाद की कविता उद्घाटित करती है। एक ओर वह नेतृवर्ग की आचारहीनता को अनावृत्त करती है तो दूसरी ओर जन की विवशता और स्थितियों के प्रति उदासीनता तथा उसके संघर्ष को रूपायित करती है। इस जन के संघर्षों की साक्षी बनकर उसकी स्थितियों के ज़िम्मेदार लोगों व व्यवस्था की विरूपताओं को व्याख्यायित करती है। "कविता का अंतिम और पहला लक्ष्य आदमी है ; उसके मूल्यों की प्रतिष्ठा है। उन सभी मुहानों पर उसकी सुरक्षा की प्रतिभूति करना है, जिनके माध्यम से आदमी को पहचाना जा सके ; उसे सही व्याख्या और सही सामाजिकता दी जा सके। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तरों पर की जाने वाली चालबाजियों की धज्जियाँ कविता तभी उड़ा सकती है जब वह आदमी के साथ होगी।"[6]

कहना न होगा कि यह 'आदमी' ही साठ के बाद की कविता के केंद्र में है। साधारण आदमी को पहचानने उसकी समस्याओं और तकलीफ़ों को जानने की जो प्रक्रिया प्रगतिवाद और नई कविता से आरम्भ हुई थी उसकी श्रेष्ठतम उपस्थिति यहाँ देखी जा सकती है। व्यक्ति के प्रति जो प्रतिबद्धता यहाँ दिखाई देती है वह अन्यत्र कहीं नहीं। सत्तातंत्र में 'जन' को नगण्य मानने की प्रवृत्ति को इस समय में कवियों ने मूर्त किया है। राजनीति से पीड़ित व्यक्ति की व्यथा को आक्रोश

के साथ व्यंजित किया है। साठ के बाद की कविता की यह विशिष्टता है कि चतुर राजनीतिक सत्ता के हर पैंतरे को वह अपने तीक्ष्ण प्रहार से तार-तार करती है।

साठ के बाद लिखी गई कविताओं में राजनीति और जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रति विद्रोहात्मक भंगिमाओं का कारण क्या है ? यह जानने के लिए तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों पर एक त्वरित दृष्टि डालना यहाँ उचित होगा। वस्तुतः स्वतंत्रता के पश्चात् जन के विकास हेतु बनी विविध योजनाओं का लड़खड़ाते हुए चलना और फिर औंधे मुँह गिरना, फिर हिंदी-चीनी भाई-भाई के नारे का धराशाई होना, पकिस्तान का भारत पर हमला, फिर सत्ताधारियों द्वारा सत्ता में बने रहने के लिए जोड़-तोड़ करना कुछ ऐसे कारण थे जिससे स्वतंत्रता सार्थक होने की जगह अर्थहीन होने लगी और नागरिकों में व्यवस्था के प्रति आक्रोश भर गया। स्वतंत्रता के पश्चात् के आरंभिक कुछ वर्षों तक जनता अपनी पीड़ा के भविष्य में समाप्त हो जाने के प्रति आश्वस्त थी किन्तु शीघ्र ही राजनैतिक स्वार्थ लोलुपता, सत्ताप्रियता, विश्वासघात और भ्रष्टाचार का स्वरूप उसके सामने आ गया। यहीं से उज्जवल भविष्य के प्रति जो आस्था थी वह वर्तमान स्थितियों के प्रति विद्रोह और अविश्वास में बदल गई। ग़रीबी, बेकारी, भुखमरी, महँगाई, विघटित होते मूल्यों के कारण आम-आदमी विश्वास चरमराने लगा। जन साधारण की व्यथा से जुड़ी कवियों की संवेदना ने इन स्थितियों के विरोध में अपना स्वर बुलंद किया और देशकाल की जटिल राजनीतिक स्थितियों, जनतांत्रिक व्यवस्था तंत्र के अँधेरों से त्रस्त व्यक्ति की छटपटाहट को सार्थक एवं विद्रोहात्मक अभिव्यक्ति दी। राजनैतिक-सामाजिक ढाँचे के प्रति इस विद्रोह के मूल में साधारण वर्ग की पक्षधरता परिलक्षित होती है जो शोषणकारी शक्तियों द्वारा संत्रस्त है। इस संत्रास को युग सन्दर्भों के साथ इस समय की कविता ने रेखांकित किया है। कवियों की वैचारिक जागरुकता से परिस्थितियों की भयावहता और जड़ता के विरोध में विद्रोह इस समय की कविता का मूल भाव बन जाता है।

जनतांत्रिक आदर्श, स्वार्थपरता, सत्तालोलुपता, आचारहीनता, मूल्यहीनता, राजनीतिक भ्रष्टाचार, मानवता की कराह, जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रति ह्रास पर वार करने के साथ-साथ कवियों ने जन को जागृत करने के प्रयास भी निरंतर किए। अपने विद्रोहात्मक, आलोचनात्मक स्वरों से अमानवीय तंत्र में जीते 'जन' को उनकी शक्तियों से साक्षात्कार कराने का कार्य भी किया।

जनता को दिग्भ्रमित बनाए रखने की सत्तावर्ग की चाल का अनावरण कर उन्हें अपनी स्थितियों के प्रति जागृत होने को प्रेरित किया । इन कवियों की महत्ता इस बात में है कि इनका विरोध एकतरफ़ा नहीं है । यानी केवल सत्तावर्ग की कमियों पर ही यह प्रहार नहीं किया है अपितु जनसामान्य की तटस्थता, भाग्यवादिता और अकर्मण्यता को भी सामने लाए हैं । स्पष्ट है कि जनतांत्रिक व्यवस्था में जन सम्मति अतीव महत्त्वपूर्ण होती है, अपने मतदान रूपी 'अस्त्र' से अपने जीवन और राष्ट्र को स्वरूप देने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है । किन्तु जनता ने नेताओं को आरम्भ में जन-प्रतिनिधि न मानकर सर्वस्व मान लिया और भारत के सृजन को राजनेताओं का दायित्व मान स्वयं को उनके हाथ सौंप दिया । परिणामतः शासक वर्ग में स्वार्थपरता और दिशाहीनता बढ़ी । जनता यंत्रवत् मतदान करती रही किन्तु जनता के तंत्र का वास्तविक अर्थ कहीं विलुप्त हो गया । आज़ादी के दो दशक बीत जाने पर 'मोहभंग' धीरे-धीरे मूलभाव बन गया । सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक क्षेत्रों से हुए इस मोहभंग की अभिव्यक्ति साहित्यिक धरातल पर साठोत्तरी कविता में स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है ।

सन् साठ के बाद की कविता में राजनीति में व्याप्त अव्यवस्था से असहमति का जो स्वर प्रखरता से सुनाई देता है उसके केंद्र में व्यक्तिचिन्ता निहित है । एक ओर राजनीतिक विसंगतियों के नियामक नेताओं और राजनैतिक विषमताओं के विरोध में क्रोध, आक्रोश और तीक्ष्णता से पूर्ण कविताएँ हैं और दूसरी ओर व्यक्ति की तटस्थता और अकर्मण्यता की व्यंजना करते हुए उनके राजनीतिक बोध को उद्‌भुत करने का प्रयास कवियों ने किया है । इस समय लिखी गई कविता की शक्ति और प्रखर स्वरों का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि सातवें दशक के बाद भी राजनीतिक चेतना के तीव्र, सशक्ततम स्वर मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, दुष्यन्त कुमार, लीलाधर जगूड़ी, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा व धूमिल आदि कवियों में सुनाई देते हैं । जनतांत्रिक व्यवस्था को सुचारुरूपेण चलाने के लिए ज़िम्मेदार सत्ता के स्वार्थ व सत्तालोलुप चित्रण के कारण शोषणधर्मी स्वरूप की सघन अभिव्यक्ति इन कवियों ने की है ।

छठे दशक के कालखण्ड में राजनैतिक संघर्षों और सामाजिक विषमताओं के असंगतिपूर्ण अन्धकार से साक्षात्कार मुक्तिबोध की कविताओं से होता है । यों तो मुक्तिबोध की मृत्यु सन् 1964

में हो गई थी किन्तु जो बेचैनी और छटपटाहट अन्य कवियों में दिखाई पड़ती है उसमें मुक्तिबोध के भावबोध का गहरा हाथ है । राजनैतिक भावबोध की वैचारिक भंगिमा की दृष्टि से राजनीतिक कविता का प्रणेता या प्रेरक मुक्तिबोध को कहा जा सकता है । अपने युग के अन्धकार को, राजनैतिक विसंगतियों को अत्यंत प्रखर स्वर में मुक्तिबोध ने रूपायित किया है । उनकी कविताओं में राजनीति और जीवन में व्यापे जटिल यथार्थ, दमन, आतंक, शोषण, भय, द्वंद्व, एकाकीपन, स्वार्थपरता, विघटनकारी स्थितियों की अन्धकारपूर्ण भयावहता तथा षड्यंत्रकारी चरित्रों की अभिव्यक्ति सम्मिलित है । मुक्तिबोध की कविताओं में राजनीति का जो बहुआयामी विस्तार है उसने परवर्ती कवियों की दृष्टि को भी बहुत प्रभावित किया है ।

जनतांत्रिक व्यवस्था में 'जनतंत्र' की अनदेखी, व्यक्ति की पतनोन्मुखी स्थिति, राजनेताओं के चारित्रिक स्खलन और शोषणधर्मी चरित्र, आचारहीनता, सत्ता के प्रति लालच, राजनेताओं की कथनी व करनी में अंतर, मूल्यहीनता, विद्रोहात्मक स्वर, राजनीतिक विद्रूपताओं, परिवेशजन्य क्रूरता का चित्रण साठ के बाद की राजनैतिक कविता में मिलता है । 'जनतंत्र' में जनता की निरंतर बिगड़ती स्थितियों पर कवियों ने कलम चलाई है । इन कवियों की कविताओं के माध्यम से 'जनतंत्र' की जो तस्वीर मुख्यतः बनती है वह निश्चित ही अपेक्षित तस्वीर नहीं है । साठ के बाद की कविताओं में व्यवस्था के मानवघाती रूप का पर्दाफ़ाश करते हुए शोषण के प्रति आक्रोश और जनसाधारण की पक्षधरता को तथा देशकाल की असंगतियों के प्रति बेचैनी और तीक्ष्ण बोध को यहाँ देखा जा सकता है ।

जनतांत्रिक विघटन पर कवियों और रचनाकारों की जो तल्ख़ वृत्ति साठ के बाद की कविताओं में दिखाई देती है वह मूलतः देश के संवैधानिक निकाय 'जनतांत्रिक प्रणाली' को स्थापित करने हेतु है जिसका उद्देश्य सबकी भलाई, सबका विकास था । इन कवियों ने जहाँ 'जनतंत्र' पर अपना निशाना साधा है वह वास्तव में उसके उन विघटित मूल्यों पर वार है जो जन विरोधी हो गए थे । संवैधानिक व्यवस्था के अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल न होने के कारण ही जनता और बुद्धिजीवियों का मोहभंग हुआ था । कहा जा सकता है कि साठ के बाद कवियों द्वारा जनतंत्र पर की गई टिप्पणी, उसकी आलोचना की पृष्ठभूमि में अपेक्षित 'जनतंत्र' की स्थापना की भावना निहित थी । इसके लिए अनुचित के विरोध में कवियों ने कविताओं के माध्यम से

असहमति जताई क्योंकि साहित्य असहमति के द्वारा ही स्थितियों को परिवर्तित करने में सफल भूमिका अदा कर सकता है । यही कारण है कि जनतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त अव्यवस्था को उसके भ्रष्ट स्वरूप को बदलने की इच्छा कवियों में बलवती होती दिखाई देती है और उनका स्वर तीक्ष्ण और प्रखर होता है । 'जनतांत्रिक व्यवस्था' के सूत्रधार बनकर जनता का अहित करने वाले नेताओं की राजनीति के लिए घातक सिद्ध होती चरित्रहीनता और दोगलेपन पर वार करते हुए तथा झूठे आदर्शों से जनसाधारण को बरगलाने की चाल को अनावृत्त करते हुए नागार्जुन लिखते हैं -

"जितनी जिसमें बुद्धि लोभ भी उतना ही विकराल,
घूम रहे हैं राजपथों पर डाकू अँगुलिमाल,
बातें सीधी सादी, पर जीवन आडम्बरपूर्ण ,
शासक बाँट रहे हैं सूखे आदर्शों का चूर्ण ।"[7]

जनतंत्र में चुनाव की जोड़तोड़ को अपना ध्येय मानकर किसी भी कीमत पर सत्ता में बने रहने की नेताओं की चाह और स्वार्थपरता पर अनेक कवियों ने प्रहार किया है । नेताओं के स्वार्थी व्यवहार से परिचय करवाते हुए सर्वेश्वर लिखते हैं :-

"मैं जानता हूँ मेरे दोस्त कि हमारे-तुम्हारे
और सबके आँसू इस धरती पर गिरेंगे
और सूखते चले जाएँगे
x x x
जो भी आएगा चला जाएगा
मटका कर कुल्हा; खाय लिया खिचड़ी सलाम भईया चूल्हा ।"[8]

नेताओं के वास्तविक चरित्र का अंकन करते हुए जन सामान्य की जीवन स्थितियों के प्रति उनके लापरवाह रवैये का वर्णन यहाँ उन्होंने किया है । अपनी कविताओं के माध्यम से उन्होंने सामान्य वर्ग के जीवन में व्याप्त विसंगतियों, विद्रूपताओं, विडम्बनाओं और तनावों का चित्रण किया है और उसके मूल कारणों में जनतांत्रिक प्रणाली और सत्ताधारियों को ज़िम्मेदार माना है । व्यवस्था के संवेदनहीन, षड्यंत्रकारी चरित्र की पहचान करते हुए वह जनता को भी इन चालों के बारे में

आगाह करते चलते हैं। देश की विघटित होती स्थितियों का चित्रण करते हुए लड़खड़ाते हुए देश की मरती हुई आत्मा का मर्मान्तक अंकन करते हैं। स्वतंत्रता मिलने के दो दशकों बाद तक भी सत्ता द्वारा जनता से किए गए वायदों, सब कुछ सही हो जाने की उम्मीदों, धीरे धीरे बदलाव होने के नेताओं के आश्वासनों के खोखलेपन को सामने रखते हुए वह कहते हैं :-

"मेरे दोस्तों
मैं उस देश का क्या करूँ
जो धीरे-धीरे खाली होता जा रहा है
मेरे दोस्तों
धीरे-धीरे कुछ नहीं होता
सिर्फ मौत होती है
धीरे-धीरे एक क्रान्ति यात्रा
शव यात्रा में बदल रही है।"[9]

-'धीरे-धीरे'

'क्रान्ति यात्रा' का 'शव यात्रा' में बदलना 'मोह का भंग' होना, जोश का ठण्डा होना इंगित करता है। सत्ता में व्याप्त लोगों के ग़ैरज़िम्मेदाराना व्यवहार और जनता की अनदेखी के परिणामस्वरूप जब देश को मजबूत होने के स्थान पर जब लड़खड़ाते हुए कवि देखता है तो स्पष्ट कहता है कि जिस देश की कुछ समय बाद उन्नत्ति करने की उम्मीद थी वह देश उस शव यात्रा पर चल रहा है जहाँ अंततः मौत के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा।

एक जनतांत्रिक व्यवस्था में जनता, आम-चुनाव, संविधान, संसद, स्वतंत्र न्याय व्यवस्था, योजनाएँ, नीतियाँ आदि प्रमुख होते हैं और यही वह तत्व हैं जो देश के विकास की राह को मजबूती प्रदान करते हैं। किन्तु आज़ाद भारत में जो भी नीतियाँ बनी या तो वह आम आदमी को नज़रअंदाज़ कर के बनाई गईं या उनकी सही अनुपालना नहीं हुई जिसका लाभ सत्ताधारी वर्ग और पूँजीपतियों द्वारा लिया गया। सर्वेश्वर जब इन नीतियों पर नज़र डालते हैं तो उनका इस व्यवस्था से विश्वास डगमगाने लगता है। लोकतंत्र को वह एक ऐसी वस्तु के रूप में पाते हैं जहाँ पचास करोड़ की जनता विपन्नता के चरम पर है और हर कोई अपनी सुविधा के हिसाब से उसका

इस्तेमाल करता हुआ नज़र आता है और इस कर्म पर वह इतराता भी है। सर्वेश्वर की शब्दों में कहें तो :-

"पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते
ठठरियाँ खड़खड़ाते
हर क्षण मेरे सामने से गुज़र जाते हैं
झाँकियाँ निकलती हैं ढोंग की विश्वासघात की
लोकतंत्र को जूते की तरह
लाठी में लटकाए
भागे जा रहे हैं सभी
सीना फुलाये।"[10]

-'यह खिड़की'

सन् साठ के बाद में लिखी गई कविताएँ अपने समय के सच को ब-खू-बी अभिव्यक्त करती हुई, राजनीति के उन सभी दाँव-पेंचों को सामने लाती चलती हैं जिनके कारण प्रजातान्त्रिक मूल्यों का विघटन हो रहा था। कवियों ने राजनीति के उन पहलुओं को सामने लाने का प्रयास किया है जो स्वार्थ हित में देश को कमज़ोर करने के लिए ज़िम्मेदार हैं। चाहे वह नेता हों, पुलिस हो या नौकरशाही हो। इन्होंने स्पष्ट रूप से यह दिखलाया है कि आज़ादी के तीस वर्ष तक जो कुछ भी हुआ इनके पीछे यही लोग ज़िम्मेदार हैं। यही वह लोग हैं जिनकी स्वार्थान्धता और भ्रष्ट रवैया देश को दिन प्रति दिन खोखला करता जा रहा है और अब अमानवीयता तक पहुँच गया है।

राजनीति में गहरे पैठ बनाती इन भ्रष्ट स्थितियों को, जनतांत्रिक व्यवस्था के अपने मूल आदर्शों से दूर जाने को, भयावह आर्थिक विषमता और उससे उत्पन्न सामाजिक पिछड़ेपन को कवि दुष्यंत कुमार ने भी करीब से देखा था। स्थिति यह थी कि आम जन के स्वतंत्रता से जुड़े जो सपने थे जिसमें रोज़गार, रोटी और सर पर छत जैसी मूलभूत आवश्यकताएँ थी उसकी भी पूर्ति नहीं हो सकी। सिर्फ़ राजनेताओं के चुनावी वायदे उनके सामने थाली में उपस्थित थे। सामाजिक, राजनितिक और आर्थिक क्षेत्र में बढ़ती हुई अराजक स्थिति, लोगों में उत्पन्न वैमनस्य, असंतोष

आदि के कारण कवि का मन मस्तिष्क इस जनतांत्रिक व्यवस्था से जुड़े शासक वर्ग तथा उन्हें समर्थन देते पूँजीपतियों के प्रति आक्रोशित होता हुआ दिखाई देता है। अतः उस व्यवस्था के ख़ात्मे के लिए ज़िम्मेदार राजनेताओं, पूँजीपतियों और शोषक समाज के सभी रूपों को जनता के समक्ष लाने का प्रयास वह करते हैं। कवि को पता है कि इन स्थितियों के केंद्र में वे राजनीतिक रहनुमा हैं जो सिर्फ मतलब की रोटियाँ सेंकना पसंद करते हैं। अपनी स्वार्थपरता के सामने उन्हें कुछ नहीं दिखता है। इन नेताओं को कटघरे में खड़ा कर दुष्यंत कहते हैं -

"तुम्हारा आभारी हूँ रहनुमाओं
तुम्हारी बदौलत मेरा देश
यातनाओं से नहीं
फूलमालाओं से दबकर मरा है।"[11]

-'गाते-गाते'

देश को मिली आज़ादी और जनतंत्र की स्थापना की पोल तब खुलकर सामने आती है जब आम जन भूख और ग़रीबी के कारण दम तोड़ता नज़र आता है। राजनैतिक विरूपताओं के चलते जनता के उत्पीड़न, मानवीय शोषण व बेबसी की तस्वीर को इस समय में लिख रहे कवियों ने बेबाकी से चित्रित किया है। वर्तमान स्थिति को रूपायित करते हुए जहाँ धूमिल ने 'हिन्दुस्तान के मानचित्र पर गाय को गोबर' करते हुए दिखाया है वहीं दुष्यंत कुमार ने 'देश के चिथड़ों में लिपटे' हुए होने का चित्र खींचा है :-

"कल नुमांईश में मिला वह चिथड़े पहने हुए
मैंने पूछा नाम उसका बोला हिन्दुस्तान है।"[12]

-'साए में धूप संग्रह से'

देश में जन सामान्य की बिगड़ती स्थितियों के लिए राजनेताओं को ज़िम्मेदार मानते हुए उनके दोहरे चरित्र, अन्दर और बाहर के दोहरे रवैये को भी कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा उघाड़ कर रखा है। घंत-मंत कविता के द्वारा सर्वेश्वर ने अवसरवादिता और तिकड़म के बल पर नेता बनने और जनता को (यह कह कर कि वह उनके बीच का ही आम जन है जिसे राजनीति करनी

नहीं आती) भ्रमित करने वाले नेताओं की पोल खोली है और राजनेताओं के कपटी रूप को दिखाने की कोशिश की है। वे लिखते हैं :-

"दिल्ली हमका चाकर कीन्ह, दिल दिमाग भूसा भर दीन्ह
भूसा ले हम शेर बनावा, ओह से एक दुकान चलावा
देख दुकान सब किन्ही प्रणाम, नेता बनेन कमाएन नाम
नाम दिहिस संसद में सीट, ओह पर बैठ के कीन्हा बीट
बीट देख छाई खुशिहाली, जनता हंसेसि बजाइस ताली।"[13]

-'घंत-मंत'

वहीं नागार्जुन में इसी भाव की अभिव्यक्ति इस रूप में मिलती है :-

"जमींदार है, साहूकार है, बनिया है, व्यापारी है
अन्दर अन्दर विकट कसाई बाहर खद्दरधारी है।"[14]

-'सच न बोलना'

यह वह नेता हैं जिन पर पूरे देश का, बड़ी जनसंख्या का दारोमदार है। अपने सिद्धांतों, कर्तव्यों को भूल, मूल्यों और नैतिकता को ठेंगा दिखा कर यह नेता 'सिक्कों की अदलाबदली कर' देश का हिसाब करने से भी नहीं चूकते। जनता का शुभचिंतक होने का दिखावा करते इन नेताओं को यह कवि देश के पतन का मुख्य कारण मानते हैं। इनके प्रति रोष व्यक्त करते हुए लीलाधर जगूड़ी अपनी कविता में लिखते हैं :-

"नेता इस देश का सही तर्क है
जहाँ पर सबका बेड़ा गर्क है वह महान है
उसके कन्धों पर देश है
वे देश का क्या नहीं करते हैं
सिक्का बदल कर
देश का हिसाब करते हैं।"[15]

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विसंगतियों से असहायता, बेबसी और संत्रास का अनुभव करती जनता की पीड़ा ने संवेदनशील, चैतन्य कवियों को आरम्भ काल से ही उत्तेजित किया है।

चेतना संपन्न कवि जनता की अपेक्षाओं उनके सुख-दुःख, हित-अहित आदि बातों के लिए सदैव चिंतित होते हैं। अतः जब वह शासन प्रणाली और राजनीतिक-सामाजिक संरचना को उच्च वर्ग के पक्ष में और आम जन के प्रति उदासीन देखते हैं तो जब सामान्य का आह्वान करते हैं ताकि आततायियों का सामना किया जा सके। जब 'जन' को केन्द्रीय शक्ति मानने वाले जनतंत्र में 'जन' को ही उपेक्षित होता यह कवि देखते हैं और 'जनतंत्र' शोषणतंत्र में तब्दील होता नज़र आता है तो वह विचलित होते हैं। इस शोषण तंत्र से आम जनता को बचाने का एकमात्र कारगर उपाय वह जन साधारण को इस तंत्र के प्रति जागरुक करना पाते हैं। इसके लिए लोगों को राजनीति और उस से जुड़े लोगों से, उनके रवैये से रू-ब-रू करवाने, जनता को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करने का बीड़ा यह कवि उठाते हैं ताकि शोषणधर्मी व्यवस्था में परिवर्तन लाया जाया सके और स्थितियों में सुधार हो। इस कार्य के लिए वह अपनी रचनाओं को माध्यम बनाते हैं। दुष्यंत कुमार लिखते हैं :-

"सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मक़सद नहीं
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए
मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही
हो कहीं भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए।"[16]

-'साए में धूप संग्रह से'

भयावह, विसंगत स्थितियों में यदि हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाया जाए तो स्थितियाँ और विषम हो सकती हैं। अतः परिवर्तन के लिए यह कवि जागृति को, प्रश्न करने को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। फिर चाहे इसकी शुरुआत कहीं से भी क्यों न हो। विसंगतियों को प्रखर होते देख दुष्यंत कुमार कहीं भी विरोध के स्वर का बुलंद होना आवश्यक मानते हैं। वैसे ही लीलाधर जगूड़ी भी शोषण से खण्डित भाषा को पुनः बुलंद करने हेतु उपाय ढूँढने को बेचैन दिखाई देते हैं। वह उस धागे का छोर ढूँढने को व्याकुल दीखते हैं जहाँ से व्यवस्था में व्याप्त विषमताओं को उधेड़ा जा सके :-

"किस तरह उधेडूँ यह व्यवस्था
किस तरह तोडूँ कुछ

कि खण्डित भाषा एक आकृति बने
किस तरह उगाऊँ इस मिट्टी में से एक चीख
जिसके सहारे यह आकाश नीचे उतरे ।"[17]

वहीं सर्वेश्वर अपनी कविताओं में पूरी ताकत के साथ व्यवस्था से टक्कर लेते हुए दिखाई पड़ते हैं । ऐसा लगता है मानों इस जनतांत्रिक व्यवस्था को भ्रष्ट करने वालों को उखाड़ फेंकना चाहते हैं, इसे सिरे से ख़ारिज कर देना चाहते हैं । राजनीतिक, आर्थिक शोषणचक्र में पिसते ग़रीब, असहाय, मजदूर वर्ग की तकलीफ़ों को देख वह उस हृदयहीन व्यक्ति को झंझोड़कर सत्य दिखाने को आतुर दीखते हैं जिसने सत्ता और धन की लालसा में अपनी आँखें बंद कर ली हैं । वह श्रमिकों और मजदूरों की नंगी पीठ पर अंकित उनकी मेहनत और मजबूरी के प्रमाण पसीने की धार को 'क्रान्ति के शिलालेख' सा पढ़ने को कहते हैं जिससे उस वर्ग के आर्तनाद को समझा जा सके क्योंकि कुछ कहने की उसकी क्षमता तो चुक गई है :-

"पढ़ो,
नंगी पीठ पर
धूल जमी पसीने की धार को
क्रान्ति के शिलालेख-सा
और उसे उठाओ जो
बोझ से थककर गिर
रहा है लगातार, बार बार
कटी है ज़बान
नहीं पाता पुकार ।"[18]

सन् साठ के बाद के तमाम कवियों की रचनाओं का संसार उनका भोगा हुआ संसार है । उसका ढाँचा उनके व्यक्तिगत जीवन के उबड़-खाबड़ अनुभवों के साँचे में तपकर बना है । उन्होंने शोषितों और दमितों को तड़पकर जीते हुए देखा है । यह कवि मानवता के प्रति, समाज के अंतिम व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्ध हैं, आस्थावान हैं । जन सामान्य के प्रति गहन संवेदना इनकी रचनाओं को

और मारक बनाती है । कवि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना स्वयं को इस 'जन' के पक्ष में तथा सत्ता के विरोध में रखते हुए 'काले झंडे' के रूप में प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं :-

"अब मैं कवि नहीं रहा
एक काला झंडा हूँ
तिरपन करोड़ भौहों के बीच मातम में
खड़ी है मेरी कविता - ।"[19]

जहाँ सर्वेश्वर भारत देश की तकलीफ़ झेलती, अपनी समस्याओं का मातम मनाती जनता के साथ और सत्ता के ख़िलाफ़ खड़े होते हैं वहीं जनता से और उनकी भावनाओं से अपने जुड़ाव को व्यक्त करते हुए केदारनाथ अग्रवाल कहते हैं :-

"चम्मचों से नहीं, आकंठ डूबकर पिया जाता है
दु:ख को दुःख की नदी में, और तब जिया जाता है
आदमी की तरह आदमी के साथ
आदमी के लिए ।"[20]

-'आग का आइना'

आज के अमानवीय समाज में आदमीयत को बचाए रखने के लिए इसी अपनत्व की आवश्यकता है । किसी के दुःख को समझे बिना उसका हित करना संभव ही नहीं है । इस आदमी के ही हितार्थ नागार्जुन भी अपनी प्रतिबद्धता और जुड़ाव को व्यक्त करते हैं :-

"प्रतिबद्ध हूँ
सम्बद्ध हूँ
आबद्ध हूँ
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ -
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त -"[21]

-'प्रतिबद्ध हूँ'

कविता कवियों के लिए उस हथियार के समान है जिसे वह व्यवस्था से लड़ने के लिए काम में लाता है । इस हथियार का प्रयोग सभी जन कवियों ने आमजन के हितार्थ किया है । जब अमानवीय, असंवेदनशील व्यवस्था तंत्र से पीड़ित 'जन' की ज़ुबान से आवाज़ आनी बंद हो जाती है, जब जनता अपनी बात रख पाने में असमर्थ होती है तब कवियों की कविता उनकी आवाज़ बनती है और शब्द रूपी हथियार उन्हें सहारा देते हैं । हताश जनता को जुझारू व सुदृढ़ बनाने का प्रयास करते हैं । इसका प्रमाण 'जनतंत्र' का काला अध्याय माने जाने वाले आपातकाल के समय में दिखाई दिया, जब बोलने और प्रत्यक्ष रूप में लिखने के अधिकार को शासन द्वारा प्रतिबंधित कर दिया गया था । 'शासन की बन्दूक' के समक्ष आम जनता की पीड़ा को उनके दु:खों को शब्द बद्ध करने हेतु कविता रुपी हथियार का प्रयोग कवियों ने किया । इस दौर में भी इन कवियों ने सत्ता और उस पर आसीन लोगों की कुचाल पर क़रारा प्रहार किया है । नागार्जुन, मुक्तिबोध, रघुवीर, धूमिल, सर्वेश्वर, केदारनाथ अग्रवाल, दुष्यंत, लीलाधर जगूड़ी आदि ने सत्ता के पाखण्ड, झूठ, मूल्यहीनता के प्रति तीख़ी प्रतिक्रिया व्यक्त की है ।

आपातकाल के समय जनतांत्रिक मूल्यों के विघटन को देख उसे लागू करने वाली सत्तापक्ष की प्रधानमन्त्री पर नागार्जुन ने जैसा वार किया है वह तिलमिला देने की हद तक है । उसकी तीक्ष्णता देख यह साफ़ हो जाता है कि सत्तापक्ष कितना भी शोषणकारी क्यों न हो कवि अपनी लेखनी का प्रयोग कर सत्य को उसके वास्तविक रूप में सामने लाने से नहीं चूकते । जब नेता अपने आप को संसद, संविधान, न्यायालय और जनतांत्रिक मूल्यों से ऊपर समझने लगते हैं तो साहित्यकार अपनी ज़िम्मेदारी समझ, कटु वाणी में उन पर प्रहार कर उसे वहीं रोकने को प्रयासरत दीखते हैं :-

"खूब तनी हो, खूब अड़ी, खूब लड़ी हो,
प्रजातंत्र को कौन पूछता, तुम बड़ी हो ,
डर के मारे न्यायपालिका काँप गयी
वो बेचारी अगली गतिविधि भाँप गयी
देश बड़ा है लोकतंत्र है सिक्का खोटा
तुम्ही बड़ी हो, संविधान है तुमसे छोटा ।"[22]

-'मोर न होगा उल्लू होंगे '

'लोकतंत्र' को ख़ुद से छोटा मानने की सत्ताधारियों की इस प्रवृत्ति का ही यह परिणाम होता है कि आदमी टूटने लगता है । उसका विश्वास न केवल सत्ता से अपितु ख़ुद पर से भी उठने लगता है । तब कवि का साहस, उसकी दृढ़ता आम आदमी में अपनी कविता के माध्यम से शक्ति का स्पंदन करती है । सत्ता तथा सरकारी नीतियों की आलोचना करने का साहस सभी में नहीं होता है किन्तु साठ के बाद उस समय की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक स्थितियों पर लिख रहे लगभग सभी कवियों में यह साहस और प्रखरता दिखती है । फिर चाहे नेताओं के भ्रष्टाचारी चरित्र पर लिखना हो या पूँजीवादियों के साथ साठ-गाँठ, सत्ता के मद में चूर पाशविकता तक पहुँची मानसिकता पर प्रहार करना हो या जनता को अपने मनोरंजन का साधन और सत्ता में बने रहने के लिए सीढ़ी मानने की मानसिकता, जनसामान्य में स्वयं की शक्ति से साक्षात्कार कराने के लिए प्रेरित करना हो या उनकी कायरता पर प्रहार - यह कवि कहीं नहीं चूकते । नेताओं के भ्रष्टाचारी स्वरूप को सामने लाते हुए उलटबांसी के माध्यम से केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं :-

"हल जोते धरती जुतै
खेत बीज को खाय
मुंशी जी के राज में
अन्न न उपजै भाय ।"

सत्ताधारियों की पूँजीवादियों के साथ व्यक्तिगत हित साधन के लिए हुई साठ-गाँठ पर और एक वर्ग विशेष के संसाधनों पर एकाधिकार द्वारा निरंतर उन्नत्ति, समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ते जाने पर दृष्टि डालते हुए नागार्जुन लिखते हैं :-

"खादी ने मखमल से अपनी सांठ गाँठ कर डाली है
बिड़ला टाटा डालमिया की तीसों दिन दीवाली है ।"[23]

-'रामराज'

सत्ता के मद में चूर नेताओं के सब कुछ अपनी झोली में भर लेने, ढोंग करके मासूम, भोला चेहरा दिखाकर जनता को मूर्ख बनाकर उनके हक़ का भक्षण करने की नीयत पर वार करते हुए सर्वेश्वर

कहते हैं कि इनसे बेहतर तो वह लोग थे जो भला होने का दिखावा तो नहीं करते थे । उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के कारण अपने बचाव में कुछ किया जा सकता था किन्तु मानवीयता का मुखौटा पहने इन सत्ताधारियों की कुचाल से तो बचना भी मुश्किल है :-

"इनसे कहीं अच्छे थे वे
जो नरमुण्ड की मालाएँ पहनकर
अपने शौर्य पर इतराते थे
कम से कम बंधुत्व और करुणा के
गीत तो नहीं गाते थे ।"[24]

किन्तु आज के शासकों के तरीक़े अलग हैं । वह मनुष्य को 'मनुष्य' ही नहीं समझते । वे जब चाहें, जिस दिशा में चाहें, जिस प्रकार से चाहें जिस गति से चाहें आदमी को उछाल कर अपना मनोरंजन भी करते हैं और उसी की तकलीफ़ों का रोना रो कर, उनके प्रति करुणा और चिंता दिखाकर अपना हित भी साधते हैं । इस पर कटाक्ष करते हुए कवि कहते हैं :-

"जिस तरह चाहो बजाओ इस सभा में
हम नहीं हैं आदमी, हम झुनझुने हैं ।"[25]

स्वयं को एक झुनझुने की तरह बजने देने, अपनी निरंतर ख़राब, दयनीय होती दशा देख कर भी चुप रहने की जनता की मानसिकता पर, उनकी निष्क्रियता पर, पलायनवादिता पर, तटस्थता पर भी यह कवि चोट करते हैं । अन्याय के विरोध में स्वर बुलंद करने वाले यह कवि जाने हैं कि आज की भयावह स्थितियों में बिना आवाज़ उठाए, बिना विद्रोह किए, बिना अपने हक़ के लिए लड़े कुछ सुधार नहीं हो सकता । अतः जन सामान्य की अकर्मण्यता पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं :-

"गजब है आप सो रहे हैं
अपने ही देश में तटस्थ हो रहे हैं
आपके चेहरे पर कृषि प्रधान देश की पूरी भूख है
पूरा विप्लव है
आपसे मिलकर बड़ी ख़ुशी हुई आप चिंतन कर रहे हैं
आप बहुत डर रहे हैं ।"[26]

कहा जा सकता है कि जनतांत्रिक मूल्यों के विघटन और उनके तथाकथित पहरेदारों द्वारा किए गए शोषण को साठ के दौर के सभी कवियों ने प्रस्तुत किया है । जनतांत्रिक व्यवस्था की छीझन को, उससे उपजी भयावह आर्थिक विषमता को, सामाजिक पिछड़ेपन को क़रीब से देखने वाले इन कवियों ने जनता पर हो रहे अत्याचार और राजनितिक षड़यंत्र के विरोध में अपना स्वर बुलंद कर उन अंधकारपूर्ण स्थितियों का चित्रण किया है जिससे 'जन' की स्थिति बिगड़ रही है । जनतंत्र में से 'जन' को अनदेखा कर सत्ता से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग अपने स्वार्थहित करने की सत्ताधारियों की प्रवृत्ति पर प्रहार इस समय की कविता के मूल में है । जनतांत्रिक व्यवस्था को सुचारुरूपेण चलाने के ज़िम्मेदार राजनीतिक वर्ग की जड़ता, स्वकेन्द्रित दृष्टि, पतनोन्मुखी दशा की अभिव्यंजना मुख्यतः इस समय की कविता में मिलती है । परिवेशजन्य क्रूरता से चहुँ ओर व्याप्त असंगतियों को आक्रोशपूर्ण वाणी में कविता के माध्यम से खंड-खंड करने की आकुलता इस कालखंड के कवियों में दिखाई देती है । जनतांत्रिक विसंगतियों का सीधा साक्षात्कार और राजनीतिक विद्रूपताओं व शासनतंत्र पर प्रहार इस समय की कविता के मूल में देखा जा सकता है।

5.2 रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा और धूमिल की जनतांत्रिक दृष्टि का तुलनात्मक विवेचन

रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल की कविताओं के माध्यम से उनकी जनतांत्रिक दृष्टि पर पृथकतः अलग-अलग अध्यायों में बात की गई है। इनकी कविताओं पर विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि इन तीनों कवियों की कविताओं में जनतांत्रिक अव्यवस्था से पैदा होने वाले 'मोहभंग' की गहरी पीड़ा है। तीनों कवियों की दृष्टि 'जनतांत्रिक व्यवस्था' के उस पक्ष पर केन्द्रित है जहाँ अव्यवस्था है, भ्रष्टाचार है, स्वार्थ केन्द्र में है, जनता के प्रति ग़ैर ज़िम्मेदाराना रवैया है, 'जनतंत्र' में सर्वस्व मानी जाने वाली जनता की उपेक्षा है तथा सत्ताधारी वर्ग में अपनी सत्ता बनाए रखने की लालसा चरम पर है। रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा की आरंभिक कविताओं में तो इस व्यवस्था के प्रति आस्था भी दिखाई देती है किन्तु शीघ्र ही उस विश्वास के खण्डित होने के स्वर भी सुनाई देते हैं। लम्बे संघर्ष के बाद मिली स्वतंत्रता और गहन विचार विमर्श के बाद अपनाई गई

जनतांत्रिक व्यवस्था के होने पर भी परिवेशजन्य असंगतियों के परिणामस्वरूप निरंतर असुरक्षित महसूस करती भारतीय जनता की समस्याओं को समझते हुए उन्हें अपनी कविताओं में इन कवियों ने स्थान दिया है । 'जनतंत्र' से हुए जन के मोहभंग को शब्द दिए हैं । 'जनतंत्र' के नाम पर जनतांत्रिक संस्थाओं को भ्रष्ट करने वाले जन प्रतिनिधियों की निंदा की है । जनतंत्र को मात्र 'वोटतंत्र' बनाने वाले नेताओं की आलोचना की है । सत्ता की जोड़-तोड़ करते हुए 'जनता' को झुनझुना मानकर अपनी इच्छानुसार बजाने की प्रवृत्ति पर प्रहार किया है । जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति में भी मिली असफलताओं को सामने लाए हैं । जनतांत्रिक व्यवस्था के मूल्यों, नियमों को व्यक्तिगत हितार्थ तोड़ने-मोड़ने की प्रवृत्ति पर प्रहार किया है ।

कोई भी कवि या रचनाकार सामाजिक, राजनैतिक स्थितियों को तटस्थ होकर देखता है । बिना किसी पूर्वाग्रह के उसके विविध पहलुओं पर विचार-विमर्श करना उसकी प्राथमिक ज़िम्मेदारी होती है ताकि जो रचना वह करे उसके आधार पर कोई पाठक अपने मन में किसी पक्ष विशेष के प्रति पूर्वाग्रहों से ग्रस्त न हो जाए । यह विशिष्टता इन तीनों कवियों में भी मिलती है । तीनों ही कवि स्थितियों की पड़ताल निरपेक्ष होकर करते हैं । राजनीति व समाज में फैली असंगतियों और अव्यवस्था की पड़ताल कर यह पाते हैं कि इनका कारण केवल मात्र सत्ताव्यापी लोग या राजनीतिज्ञ ही नहीं है । अपितु अप्रत्यक्षतः तंत्र चलाने की ज़िम्मेदार जनता भी है । स्वतंत्रता मिलने और जनतंत्र स्थापित हो जाने के पश्चात् जनता का अकर्मण्य, तटस्थ, भाग्यवादी हो जाना भी उसका बहुत बड़ा कारण है । 'जनतंत्र' में जनता का सुप्त हो जाना, अपने दायित्वों को पूर्णतः भुलाकर सर्वस्व 'कुछ' हाथों में सौंप देना, यंत्रवत् बिना विचार किए मतदान करना, उदासीन, कर्महीन व पलायनवादी होना भी वर्तमान विद्रूपताओं का बहुत बड़ा कारक है । यह कवि जब निष्पक्ष होकर जनतांत्रिक असंगतियों पर दृष्टिपात करते हैं तो इस पक्ष पर भी इनकी दृष्टि जाती है और पूर्ण ईमानदारी से इसे इन्होंने अभिव्यक्ति भी दी है । एक ओर जहाँ व्यक्ति की विवशता, विपन्नता, भयातुरता, मानव जीवन की विडम्बना को कविताओं का विषय इन कवियों ने बनाया है वहीं दूसरी ओर व्यक्ति की अकर्मण्यता, मूल्यहीनता, स्वार्थपरता पर भी प्रहार किया है ।

वर्तमान 'जनतांत्रिक व्यवस्था' में व्याप्त विसंगतियों से आहत, अवसन्न इन कवियों की कविताओं में निरपेक्ष दृष्टि होने के बावजूद भी मूलतः व्यवस्था विरोध ही परिलक्षित होता है। जिन स्थितियों का इन कवियों ने विरोध किया है राजनीति व समाज के जिन पक्षों पर चोट की है, उससे इन कवियों की राजनीतिक समझ और अपेक्षाओं को रूपाकार मिलता है। उस देश, उस जनता, उस सत्तावर्ग, उस राजनीतिक स्वरूप की तस्वीर स्पष्ट होती है जिससे 'जनतंत्र' वास्तव में 'जन का तंत्र' हो सकता है। जिससे 'कोसल' कल्पना में नहीं वास्तविकता में गणराज्य बन सकता है। अव्यवस्था के कारणों पर दृष्टिपात करते हुए इन कवियों ने सत्ता में व्याप्त लोगों की आचारहीनता, सत्तालोलुपता, दल-बदल की नीति, व्यक्तिगत स्वार्थ साधन, भ्रष्टाचार, मूल्यह्रास, राजनीतिक शोषणधर्मी चरित्र, मिथ्याचार, दिखावे की प्रवृत्ति, जनता की तटस्थता, मूल्यहीनता, पराश्रित भाव, अँध-विश्वास, राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं आदि पर सूक्ष्म विवेचन किया है।

विवेच्य तीनों कवियों के कथ्य में समानता मिलती है। तीनों ही विरोध प्रकट करते हैं और 'जनतंत्र' की ख़ामियों पर अँगुली रखते हैं। यद्यपि तीनों की अभियक्ति के तरीक़े में भिन्नता है तथापि मूल स्वर एक ही है। तीनों कवियों ने जनतांत्रिक व्यवस्था की विद्रूपताओं को तो सामने रखा है किन्तु जनतंत्र की सही तस्वीर कैसी होनी चाहिए, उनकी अपेक्षाएँ क्या है वह स्पष्ट नहीं किया है, उसकी अभिव्यक्ति मुखर नहीं है। देश में जनतांत्रिक व्यवस्था की गड़बड़ियों को रघुवीर सहाय जहाँ विस्तार देकर, घटनाओं या ख़बर के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वहीं धूमिल में यह अभिव्यक्ति विद्रोह या विरोध या आक्रोश के रूप में ही मिलती है। श्रीकांत वर्मा प्रतीकों, मिथकों के द्वारा भाव के स्तर पर अपनी बात रखते हैं। सिक्के के दोनों पहलुओं पर तटस्थ, भेदभाव रहित दृष्टिपात करने पर भी 'जनपक्षधरता' तीनों कवियों में परिलक्षित होती है। देश के साधारण वर्ग की त्रासद स्थितियों को देखकर अपने भीतर दबे आक्रोश को कभी विस्तार से, ब्यौरेवार कभी नारे या आन्दोलन के रूप में, कभी तेवर के साथ तो कभी सीधे-सीधे इन कवियों ने अभिव्यक्त किया है। इनके भावों में इतनी समानता है कि कई बार यह पहचानने में समय लग सकता है कि कौन सी पंक्ति किस कवि की है। इस परिप्रेक्ष्य में आज़ादी के बीस वर्ष बीतने पर भी जनता की स्थिति यथारूप रहने पर तीनों कवियों ने जो भाव व्यक्त किए हैं वह अवलोकनीय है। यहाँ जो बात तीनों

को विलग करती है और विशेष स्थान पर बैठाती है वह उनकी अभिव्यक्ति और शैली की विश्ष्टता है । स्वतंत्रता मिलने के बाद बीस वर्ष बीतने पर भी जनता की स्थिति अपरिवर्तित रहने की पड़ताल करते हुए रघुवीर सहाय उसके कारण स्वरूप सत्ताधारियों की, मंत्रियों की जनता को बरगलाने की प्रवृत्ति को पाते हैं । दलीय राजनीति और अपनी कुर्सी बचाए रखने के लिए अपनाए जाने वाले पैंतरों और हाँ में हाँ मिलाने के लटके-झटकों पर व्यंग्य बाण चलाते हुए वह लिखते हैं :-

"बीस बरस बीत गए
लालसा मनुष्य की तिल तिल कर मिट गयी
टूटते टूटते जिस जगह पर आकर विश्वास हो जाएगा कि
बीस साल
धोखा दिया गया
वहीं मुझे फिर कहा जाएगा विश्वास करने को
पूछेगा संसद में भोला भाला मंत्री
मामला बताओ हम कारवाई करेंगे
हाय हाय करता हुआ हाँ-हाँ करता हुआ
दल का दल पाप छिपा रखने के लिए एकजुट होगा
जितना बड़ा दल होगा उतना ही खाएगा देश को ।"[27]

-'एक अधेड़ भारतीय आत्मा'

इन्हीं बीस वर्षों में आज़ादी से जुड़े स्वप्नों के टूटने, उसके राजनैतिक स्वतंत्रता तक सीमित रह जाने, अपने जन-जन के विकास और ख़ुशहाली से जुड़ने के मूल अर्थ से वंचित रह जाने तथा स्वतंत्रता का कोई ख़ास मतलब न दिखने पर धूमिल इसे ख़ारिज करने की मुद्रा में प्रश्न करते हैं :-

"बीस साल बाद और इस शरीर में
सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुज़रते हुए
अपने आप से सवाल करता हूँ
क्या आज़ादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है

जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है ।"[28]

-'बीस साल बाद'

जन साधारण के लिए जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति में कठिनाई उस कटु सत्य को उजागर करती है जो लम्बे संघर्ष के बाद मिली स्वतंत्रता के बीस वर्ष बीत जाने पर भी जन साधारण के जीवन में गहराई से व्याप्त था । आम जनता जीवन जीने की मूलभूत ज़रूरतों को भी पूरा कर पाने में असमर्थ थी । बीस वर्षों के लम्बे अंतराल के बाद भी अपेक्षओं के विपरीत जीवन स्थितियों का चित्रण करते हुए श्रीकांत वर्मा ने लिखा :-

"अनुसन्धान करो जाकर किसी
विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में,
साग में नमक, राजनीति में ईमान
जीने में मज़ा
नहीं रहा । नहीं रहा यह सब जिसे होना चाहिए था
ईसा की बीसवीं शताब्दी के अड़सठवें वर्ष में ।"[29]

-'आध घंटे की बहस'

स्वतंत्रता के बाद बीते बीस वर्षों की लम्बी समयावधि में 'जन' के 'तंत्र' वाले देश में 'जन' की शोचनीय स्थिति की अभिव्यक्ति तीनों ही कवियों ने की है किन्तु तीनों की भावाभिव्यक्ति का अंतर यहाँ स्पष्टतः परिलक्षित होता है । रघुवीर जहाँ राजनेताओं के हाव-भावों के साथ, तिल-तिल मरते मनुष्य की विडम्बना को विस्तार देकर प्रहार करते हैं वहीं धूमिल सीधे-सीधे सपाट रूप में मारक चोट करते हैं और 'आज़ादी' का वास्तविक अर्थ पूछ उस स्थिति को उजागर करते हैं जिसमें आक्रोश है और जहाँ जीवन में स्वतंत्रता मिलने पर भी कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ा । दूसरी ओर श्रीकांत संकेतों के माध्यम से उस स्थिति को सामने ला खड़ा करते हैं जहाँ एक आम व्यक्ति के पास नमक जैसी चीज़ जुटाने का भी सामर्थ्य नहीं है । यह स्थिति स्वतंत्रता के दो दशक बीत जाने पर भी उन आकाँक्षाओं के टूटने से जुड़ी है जो आम-आदमी ने की थी । 'नहीं रहा वह सब जिसे होना चाहिए

था' वाक्य उन सब स्थितियों पर सोचने को विवश करता है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध आज़ादी, स्वप्नों, उम्मीदों और खुशहाली से जुड़ा है।

जनतंत्र में जनता की अनदेखी इन कवियों को सालती है। एक स्वतंत्र नागरिक इस देश में कितना असहाय महसूस करता है, कितनी विवशता का अनुभव करता है , उसकी अभिव्यक्ति करते हुए धूमिल लिखते हैं :-

"मैं चारों तरफ़ से बंद हूँ

x x x

मेरा गुस्सा

जनमत की नदी में

एक सड़ा हुआ काठ है।"[30]

-'भाषा की रात'

उनकी यह पंक्तियाँ उस राजनीतिक सत्य को उद्घाटित करती हैं जिसके चलते जनता चाह कर भी कुछ नहीं कर सकती। कुण्ठित महसूस करती है। जहाँ अपने तंत्र के होने पर भी, सत्ता के अपने हाथ में होने पर भी व्यक्ति स्वयं को अकेला पाता है :-

"कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में

जहाँ मरता है एक और मतदाता।"[31]

-'कोई एक और मतदाता'

जो व्यक्ति यहाँ अकेला है जो रोज़ मर रहा है उसका कारण सत्ता में व्याप्त लोगों की वह प्रवृत्ति है जो जनता को निरंतर अनदेखा करती है। जनता का कोई अस्तित्व ही नहीं है। उससे स्पष्टतः मुँह फ़ेर लिया गया है :-

"सच तो यह है कि

हर रास्ता उज्जयिनी को जाता है

और यह

कि कोई रास्ता उज्जयिनी को नहीं जाता

उज्जयिनी

लगातार

रास्ता जोहती है

उज्जयिनी

रास्तों से मुँह फ़ेर चुकी है ।"[32]

-'उज्जयिनी का रास्ता'

यह स्थिति किसी एक व्यक्ति की या किसी एक जगह पर नहीं है । दुःख, घृणा पूरे देश में व्याप्त है । कोई कहीं भी जाए उससे फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि :-

"जो आता है

दुःख पाता है

जो जाता है

दुःख पाता है

कोसल में उतना ही दुःख है

जितना

श्रावस्ती में है ।"[33]

-'श्रावस्ती'

ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी से साधारण व्यक्ति इतना विवश है कि स्वार्थ से भर गया है । व्यक्तिगत हित, उन्नति के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं दीखता । एक दूसरे से घृणा करता हुआ व्यक्ति इतना संवेदनहीन हो गया है कि :-

"अब ऐसा वक्त आ गया है जब कोई

किसी का झुलसा हुआ चेहरा नहीं देखता है

अब न तो कोई किसी का खाली पेट

देखता है, न थरथराती हुई टाँगें

और न ढला हुआ 'सूर्यहीन कन्धा' देखता है

हर आदमी, सिर्फ़, अपना धंधा देखता है ।"[34]

-'पटकथा'

इया भयावहता के चलते व्यक्ति इतना असुरक्षित है कि वह स्वेच्छा से कहीं आ या जा भी नहीं सकता । पूरा देश उसे आज़ादी के बाद भी 'कारागार' ही लगता है :-

"घृणा में डूबा हुआ सारा का सारा देश
पहले की ही तरह आज भी
मेरा कारागार है ।"[35]

-'पटकथा'

जिन स्थितियों का चित्रण यह कवि करते हैं वह कुछ और हो सकती थी । प्रेम, सौहार्द्र, विश्वास का वातावरण बन सकता था यदि शासन पर काबिज़ वर्ग अपने कर्तव्यों के प्रति सजग होता । उस जन सामान्य के प्रति समर्पित होता जिसने उसमें अपना विश्वास दिखाकर उसे सत्ता में भेजा, शक्ति संपन्न किया । किन्तु विडम्बना यह है कि सत्ताप्रियता के चलते सभी असंवेदनशील हो गए हैं । 'हत्या' एक ऐसा पैंतरा बना लिया गया है कि कोई आवाज़ भी नहीं उठा सकता । भयावहता इतनी है कि 'रामदास' नाम पुकारे जाने पर स्वयं मरने को उपस्थित हो जाता है । ऐसा क्यों न हो क्योंकि :-

"हत्या करता है शकटार
चन्द्रगुप्त गले से लगाता है
कभी कभी हत्या करता है चन्द्रगुप्त
शकटार गर्दन झुकता है ।"[36]

-'शकटार'

स्पष्ट है कि स्वयं शासक भी हिंसक प्रवृत्ति का है । कमी शासन व्यवस्था में ही है । भाई-भतीजावाद है । शासक अपना रुतबा, अपना खौफ़ बनाए रखना चाहते हैं अतः एक ओर न हत्या रोकने का कोई कारगर उपाय सोचते हैं व दूसरी ओर स्वयं भी कुकृत्य करने से नहीं चूकते । समाज में

अराजकता का ऐसा माहौल है कि हत्यारा सीना ताने घूमता है और असहाय, बेक़सूर व्यक्ति यूँ ही मारा जाता है :-

'(भुनभुनाता हुआ) यह कहता हुआ हत्यारा गया
वह आदमी इस क़ाबिल नहीं था कि मारा जाय
केवल अनिर्णय में मारा गया |'

यह कविताएँ उस सत्य, उन स्थितियों को प्रकट करती हैं जो 'जनतंत्र' में जनता की अस्तित्वहीनता का प्रमाण हैं । ऐसा इसलिए है क्योंकि सब मिले हुए हैं । अपराध के व्यापार में सबने गुट बना लिया है :-

"वे सब के सब तिजोरियों के
दुभाषिये हैं ।
वे वकील हैं । वैज्ञानिक हैं ।
अध्यापक हैं । नेता हैं । दार्शनिक
हैं । लेखक हैं । कवि हैं । कलाकार हैं ।
यानी कि -
क़ानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है ।"[37]

-'पटकथा'

धूमिल कठोर, आक्रोशपूर्ण भाषा में तेवर के साथ जनतान्त्रिक देश के उस रूप पर तीक्ष्ण पर प्रहार करते हैं जहाँ राजनीति में मनमानी करने वालों का बोलबाला है । यह वह लोग हैं जिन्हें धन के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता । अपनी शक्ति का अनुचित प्रयोग कर वह ऐसे वातावरण का निर्माण करते हैं कि खीझ, नफ़रत, तिलमिलाहट, घृणा, कपट, अवसाद और स्वार्थ मूलभाव बन जाते हैं । सहानुभूति दिखाकर, अँधेरे कोने में ले जाकर स्वहित के लिए अपनों या अनजानों किसी का भी अहित करने से वह नहीं चूकते :-

"सहानुभूति और प्यार
अब ऐसा छलावा है जिसके ज़रिये
एक आदमी दूसरे को, अकेले -
अँधेरे में ले जाता है और
उसकी पीठ में छुरा भोंक देता है।"[38]

-'पटकथा'

यह कवि उन स्थितियों को यथारूप साकार करते हैं जो हमारे समाज, हमारी राजनीतिक दुनिया के मूल्यों में आई गिरावट का परिणाम है। अपनी दृष्टि राजनीतिक नैतिकता के अवमूल्यन पर यह केन्द्रित करते हैं। आधुनिक समय में राजनीतिक मूल्यहीनता से आहत यह कवि अवसन्न होकर नेताओं की उस प्रवृत्ति को उजागर करते हैं जिसके कारण राजनीति के सूत्रधारों ने दल-बदल को ही मूल राजनीति मान लिया है। राजनीति के प्रेक्षक यह कवि इस तथ्य से भली प्रकार से परिचित हैं कि दल-बदल की यह प्रवृत्ति नेताओं के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गई है। बिना किसी ठोस वजह के व्यक्तिगत हित साधने और बहुमत पाने के लिए विपक्ष के सदस्यों को अपने दल में मिलाना या स्वयं दूसरे दल से मिल जाना आए दिन की सामान्य बात हो गई है। इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए रघुवीर सहाय कहते हैं कि :-

"गाकर सुनाता है
जनवादी वादों की घोषणा
महामंत्री
जनता के लिए नहीं
वह विरोधियों को प्रमाण दे रहा है
कि मैं दल बदल के लिए योग्य व्यक्ति हूँ।"[39]

-'एक अधेड़ भारतीय आत्मा'

दल बदलने की इसी ओछी प्रक्रिया पर प्रखरता के साथ वार करते हुए धूमिल लिखते हैं :-

"हाँ यह सही है कि कुर्सियाँ यही हैं
सिर्फ टोपियाँ बदल गयी हैं और

सच्चे मतभेद के अभाव में
लोग उछल-उछल कर
अपनी जगहें बदल रहे हैं।"[40]

-'पटकथा'

सत्तालोलुपता के कारण नैतिकता और मूल्यों को ताक पर रखने वाले नेताओं के प्रति उपजी घोर वितृष्णा की झलक उनकी कविताओं में मिलती है। इसी वितृष्णा के कारण इन कवियों की कविताओं में कहीं आलोचनात्मक भावाभिव्यक्ति तो कहीं व्यंग्यात्मकता मिलती है और कहीं धारदार विशेषणों से रोष अभिव्यक्त होता है। जनतंत्र में गद्दी के नशे में चूर नेताओं के राजनीतिक कपट व हृदय विदारक कटु राजनीतिक सत्य को यह कवि अपनी कविताओं में उभार कर सामने लाते हैं। रघुवीर सहाय अपने शब्द चयन द्वारा राजनीतिज्ञों की ज़िम्मेदारी से मुँह मोड़ने की वृत्ति और जनता की अनदेखी को ऐसे रूपाकार देते हैं कि तकलीफ़ के साथ-साथ वितृष्णा भी होती है :-

"बीस बड़े अख़बारों के प्रतिनिधि पूछें पच्चीस बार
क्या हुआ समाजवाद
कहे महासंघपति पच्चीस बार हम करेंगे विचार
आँख मार कर पचीस बार वह हँसे वह, पच्चीस बार
हँसे बीस अख़बार।"[41]

-'नयी हँसी'

यह पंक्तियाँ 'समाजवाद' जैसे विषय पर व्यवस्थापकों के ढुलमुल रवैये, भविष्य में विचार करने की चाल का अनावरण करती हैं। साथ ही नेताओं का 'आँख मारकर हँसना' गंभीर विषयों पर भी उनके लापरवाह रवैये को सामने लाता है। जनता को विचार करने का आश्वासन देना सत्ता में बने रहने की चाह को भी सामने लाता है क्योंकि जनतंत्र में अंततः जनता को अपने पक्ष में बनाए रखने के लिए येन-केन-प्रकारेण बरगलाए रखना भी ज़रूरी है। इसी जनता के सुखों के दग्ध होने का चित्रण करते हुए तथा व्यवस्था के दुर्गम और सत्तामोही होने का चित्रण कटुता के साथ करते हुए धूमिल कहते हैं :-

"व्यवस्था की खोह में हर तरफ़
बूढ़े और रक्तलोलुप मशालची
घूम रहे हैं
उन्होंने जलते हुए आदमी को
झण्डे की तरह उठा लिया है ।"[42]

-'भाषा की रात'

इन सत्ता के लोभी नेताओं की व्यवस्था को सही प्रकार से चलाने में असमर्थता को सामने लाते हुए तथा सत्ता में बने रहने के लिए 'आत्मा' तक को मार देने की ओर भी श्रीकांत वर्मा संकेत करते हैं । जहाँ रघुवीर में इनके प्रति आलोचनात्मक व धूमिल में तीक्ष्ण प्रहार मिलता है वहीं श्रीकांत अपने रोष को उनके घृणास्पद चेहरे को सामने लाकर अभिव्यक्त करते हैं । इनके भ्रष्ट चरित्र को विशेषणों से नवाज़ते हुए देश के सड़ने से उठती दुर्गन्ध का बिम्ब खींचते हैं :-

"आत्माएँ राजनीतिज्ञों की
बिल्लियों की तरह
मरी पड़ी हैं
सारी पृथ्वी से उठती है सड़ांध ।"[43]

-'अंतिम वक्तव्य'

इन तीनों ही कवियों की कविताओं में जनतांत्रिक व्यवस्था चलाने वाले सूत्रधारों की स्वार्थ साधना का चित्रण मिलता है । अपनी कुर्सी को सुरक्षित रखने के लिए देश तक को 'लुटा देने वाला' कहकर यह कवि नेताओं पर चोट करते हैं । अपनी दो-टूक प्रखर, स्पष्ट भाव की अभिव्यक्ति देने वाली भाषा में नेताओं के इस स्वरूप को धूमिल सामने लाते हैं :-

"देश डूबता है तो डूबे
लोग ऊबते हैं तो ऊबें
जनता लट्टू हो
चाहे तटस्थ रहे

बहरहाल, वह सिर्फ यह चाहता है
कि उसका 'स्वास्तिक'...
स्वस्थ रहे ।"[44]

-'भाषा की रात'

कविता की इन पंक्तियों में 'स्वास्तिक' के स्वस्थ रहने का तात्पर्य स्पष्टतः यह है कि जनता का चाहे जो हो राजनीतिक तानाशाही बनी रहनी चाहिए । सत्ता पर अपने एकाधिकार को बनाए रखने के लिए चाहे जो कुछ करना पड़े, इस उद्देश्य की पूर्ति होनी चाहिए । जनता को निरंतर दिग्भ्रमित रखने की उनकी मंशा को रघुवीर सहाय ऐसे अभिव्यक्त करते हैं :-

"मरते मनुष्यों के मध्य खड़ा मक्कार मंत्री
कहता है सविश्वास
सरकार सिंचाई करे
सुनते हैं लड़के, अधेड़ पढ़ते हैं, याद करते हैं बूढ़े
यह विचार, अख़बार सीने पर धर जाता है लोहे के
अक्षरों में एक धौंस कोई छटपटाहट नहीं ।"[45]

इन पंक्तियों में एक ओर जहाँ नेताओं की मक्कारी और सरकार द्वारा जनता के हितार्थ बनी कागज़ी योजनाओं का राग गाते रहने का चित्रण रघुवीर सहाय करते हैं वहीं 'जनता' की राजनीति से निरपेक्ष रहने और सब कुछ चुपचाप सहते जाने की ओर भी संकेत है । जनता के तथाकथित सेवक यानी राजनेता किस प्रकार जनता की जीवन स्थितियों में सुधार की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं और कैसे जनता तटस्थ होकर उन स्थितियों की पड़ताल नहीं करती उनमें कोई छटपटाहट नहीं दिखती इस पर भी वह प्रहार करते हैं । जनता की इस निष्क्रियता और राजनैतिक तानाशाही के कारण 'मगध' में भी यही स्थिति श्रीकांत वर्मा उजागर करते हैं । एक गणराज्य में जहाँ जनता के सोच-विचार करने, क्रियाशील होने की आवश्यकता है वहाँ उसकी निष्क्रियता को सामने लाते हुए वह लिखते हैं :-

"नागरिक
दिन-भर जुआ खेलते हैं
जो जुआ नहीं खेलते

ऊँघते हैं
नागरिक दिन भर किस्से गढ़ते हैं
जो किस्से नहीं गढ़ते
ऊँघते हैं
नागरिक
दिन-भर खीझते हैं
जो खीझते नहीं
ऊँघते हैं
नागरिक
कोसल के अतीत पर
पुलकित होते हैं
जो पुलकित नहीं होते
ऊँघते हैं ।"[46]

-'कोसल गणराज्य'

जनता का यह 'ऊँघना' उनकी उस अचेतनावस्था और अरूचि की ओर संकेत करता है जिसके कारण सत्ताधारियों को वह विरोधहीन भूमि मिली जिस पर वह अपने कुचक्रों, षड्यंत्रों को पल्लवित कर सकते थे । जनता की इस मनोवृत्ति को देख श्रीकांत को कहीं कोई नज़र नहीं आता जो प्रतिरोध कर सके । जिसे सत्य समझाया या दिखाया जा सके :-

"किसको दूँ अपना बयान
हलफ़नामा उठाऊँ किसके सामने ?
कोई है ?
या केवल बियाबान है ?"[47]

-'आध घंटे की बहस'

जनता की इस निष्क्रियता से धूमिल आक्रोश से भर उठते हैं । दूसरों की सुविधा के लिए अपनी बलि देने वाली जनता की नपुंसकता पर प्रहार करते हुए वह प्रश्न करते हैं कि जनता क्या है ? क्योंकि 'जनतंत्र' में तो जनता की सक्रिय भागीदारी निभाता हुआ चेतन व्यक्तिव होना चाहिए था । लेकिन स्वतंत्रता मिलने के बाद से भारत देश की जनता सत्तावर्ग को सब सौंप कर सुप्तप्राय हो गई है । बिना विचारे दूसरों की सुविधा व मतानुसार 'वोट' करके अपनी सहमति दे देती है । धूमिल के लिए जनता :-

"एक भेड़ है
जो दूसरों की ठण्ड के लिए
अपनी पीठ पर
ऊन की फ़सल ढो रही है ।"[48]

-'पटकथा'

अपना रोष व्यक्त करते हुए धूमिल उस जनता की अकर्मण्यता को उसकी जड़ता को तोड़ना चाहते थे । बहिर्जगत के द्वंद्वों से आँखें मिलाते हुए अपने अनुभव और सूक्ष्म दृष्टि के आधार पर उन्होंने पाया कि 'जनतंत्र' में व्यापी अव्यवस्था का, उसके अपने मूल अर्थ से भटक जाने का कारण जहाँ एक ओर राजनीतिक तंत्र का मूल्य-स्खलन है वहीं जनता की निष्क्रियता भी एक पक्ष है । अपने परिवेश से नि:संग होकर यह जनता तटस्थ हो गई है । राजनीति के कुण्ठित और भ्रष्ट होने के लिए जितना ज़िम्मेदार वह राजनीतिक वर्ग है उतनी ही ज़िम्मेदार जनता की वह सोच भी है जिसके चलते वह सुरक्षा आवरण में छिपी बैठी रहना चाहती है । परिस्थितियों से साक्षात्कार नहीं करना चाहती । आत्मलीन होकर तटस्थ हो गई है । परिवेश को बदतर होने से बचाने के लिए आवश्यक तर्क देने, प्रश्न करने को समर्थ यह जनता कायरता की चादर से स्वयं को बचा लेना चाहती है । व्यक्तिगत हित साधन,स्व-सुरक्षा का ही बस उसे ध्यान है :-

"अँधकार में सुरक्षित होने का नाम है...
तटस्थता । यहाँ
कायरता के चेहरे पर
सबसे ज़्यादा रक्त है ।"[49]

-'पटकथा'

जन साधारण अपनी सुरक्षा का सर्वोत्तम उपाय कायरता को मान कर कहीं छिप जाने को उद्धत दीखता है। उनके भीतर का उल्लास, जोश, उत्तेजना बुझने लगती है। 'जनतंत्र' में जनता के बुझने की, उसकी शिथिलता की ओर संकेत करते हुए उसकी अपरिवर्तनशील स्थितियों का अंकन यह कवि करते हैं। सत्ता पक्ष पर प्रहार करने के साथ ही व्यक्ति की स्वार्थपरता को भी सामने लाते हैं। स्वतंत्र देश में स्वतंत्र व्यक्ति की निष्क्रियता भी जन जीवन की स्थितियाँ यथावात् रहने का कारण है। इसका शब्दांकन करते हुए रघुवीर सहाय लिखते हैं :-

"बुझते हुए धीरे-धीरे एक दिन हज़ार-हज़ार लोग रोज़
सहने के अंतिम कगार पर खड़े हो
भारतवर्ष में फलांग पड़ते हैं
व्यक्ति-स्वातंत्र्य के समुद्र में कोई धमाका नहीं है।"[50]

स्थितियों में सुधार के लिए तटस्थता के सागर में जाती जनता का जागरण आवश्यक है। इस जनता के हित-अहित से इन तीनों कवियों का सरोकार रहा है। इसीलिए जनता की तटस्थता और राजनीति के शोषक चरित्र पर क्रूर, आवेगपूर्ण, आलोचनात्मक टिप्पणियाँ इन कवियों ने की हैं ताकि जनता में राजनीतिक चेतना आए। राजनीतिक बोध के प्रति विवेक जागृत हो। जनता में चेतना, विवेक का आना इन कवियों की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण रहा है जिससे 'जन' का 'तंत्र' समर्थ हो सके, शक्तिवान हो सके। अन्याय, अव्यवस्था के प्रतिकार के लिए जनता को प्रेरित करने का कार्य इन कवियों ने किया है। जनता के प्रति एक विशिष्ट, आत्मीय भाव के निहित रहने के कारण सत्ता के शोषण चक्र में बद्ध हताश, निरुपाय, शक्तिक्षीण 'जन' की साहसिकता को जगाते हुए धूमिल कहते हैं :-

"ओ मेरे देश के पोर-पोर में दुखते हुए गूँगे जूनून !
क्रोध की अकेली मुद्रा में
उफनते हुए सात्विक खून !
x x x
चीख़, अपने होने की पीड़ा से चीख़।"[51]

-'भाषा की रात'

यह चीखना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि जब तक जनतंत्र में जनता सिर नहीं उठाएगी, अपनी शक्ति से परिचित हो उसका प्रदर्शन नहीं करेगी तब तक स्थितियों में परिवर्तन नहीं आएगा । या तो वह और भयावह होंगी या जड़ता बनी रहेगी पर सुधार नहीं होगा । इसलिए भीड़ बनकर जीने का कोई अर्थ नहीं । व्यक्ति की सार्थकता यह कवि तभी मानते हैं जब 'जन की शक्ति' पूर्ण परिवेश में कौंध जाए :-

"हाहाकार उठता है घोष कर
एक जन उठता है रोष कर
व्याकुल आत्मा से आक्रोश कर
अकस्मात्
अर्थ भर जाता है पुरुष वह
हम सबके निर्विवाद जीने में ।"[52]

-'मेरा प्रतिनिधि'

इस जनशक्ति को एकजुट करने के लिए प्रेरित करते हुए धूमिल लिखते हैं :-

"उठो और अपने भीतर
सोये हुए जंगल को आवाज़ दो
उसे जगाओ और देखो कि
तुम अकेले नहीं हो
और न किसी के मुहताज हो ।"[53]

-'पटकथा'

यह कवि आह्वान करते हैं क्योंकि जानते हैं कि जनतंत्र में 'जनता' के हाथों में शक्ति होती है । राजनीतिक दलदल की कीच में धँसा आम-आदमी यदि चाहे तो परिवर्तन संभव हो सकता है । इसलिए यह कवि जनता में व्याप्त अकर्मण्यता को उस चिंगारी में परिवर्तित करना चाहते हैं जो विद्रूपताओं को जलाकर राख़ कर दे । इनका मानना है कि कर्म और स्वाभिमान से परिवर्तन की

आशा की जा सकती है। इसलिए ये कवि जागृत करना चाहते हैं। एक ओर रघुवीर सहाय सत्ता के भय को अपने ही भीतर सर्वप्रथम तोड़ना चाहते हैं और कहते हैं :-

"कुछ होगा, कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अन्दर एक
कायर टूटेगा, टूट।"[54]

-'आत्महत्या के विरुद्ध'

वहीं धूमिल जनता को जागृत करते हुए कहते हैं :-

"इसीलिए मैं फ़िर कहता हूँ कि हर हाथ में
गीली मिट्टी की तरह हाँ-हाँ - मत करो
तनो
अकड़ो
अमरबेलि की तरह मत जियो
जड़ पकड़ो।"[55]

-'प्रौढ़ शिक्षा'

यही भाव अभिव्यक्त करते हुए तथा हर प्रकार की स्थितियों में जड़ बने रहने की अपेक्षा, आगे बढ़ने का प्रयास करने के लिए उठने को आवश्यक मानते हुए श्रीकांत उद्बोधन के स्वर में कहते हैं :-

"प्राण ! उठो, उठो, उठो
गिरना अनिवार्य नहीं
उठना अनिवार्य है।"[56]

-'सूर्य के लिए'

इन तीनों कवियों की अभिव्यक्ति में कथ्य की समानता, एकसारता मिलती है किन्तु जनतांत्रिक व्यवस्था से जुड़ी असंगतियों को अनावृत्त करने की शैली में भिन्नता और ईमानदारी देखी जा सकती है। तीनों ही कवियों की कविता में राजनीतिक चेतना का सजग बोध मिलता है। एक ही

विषय पर मुख्यतः बात करते हुए भी विविध, सूक्ष्य आयाम और स्तर इनकी कविताओं में दृष्टिगत होते हैं। तीनों ही कवि अपने-अपने तरीक़े से 'जनतंत्र' में जनता के संघर्ष को सामने लाते हैं। व्यंग्य, आक्रोश, आलोचना से पूर्ण भाषा में राजनीतिक भेड़ियाधसान को अभिव्यक्त करते हैं। कवियों का व्यक्तिगत अनुभव राजनीतिक स्थितियों को विद्रोहात्मक मुद्रा में जीवंतता के साथ प्रस्तुत करता है। एक ही विषय पर केन्द्रित होने पर भी भाव और शिल्प की भिन्नता इन तीनों कवियों को साठ के बाद की कविता में विशेष स्थान पर बैठाती है। इनमें कथ्य की समानता केवल 'जनतांत्रिक असंगतियों' पर बात करने के कारण नहीं है। यह भी ध्यातव्य है कि तीनों ही कवियों में 'जनतंत्र' के वर्तमान स्वरुप के प्रति रोष मिलता है किन्तु इनकी दृष्टि में आदर्श 'जनतंत्र' कैसा होना चाहिए और उसके लिए क्या क़दम उठाए जा सकते हैं इसकी अभिव्यक्ति स्पष्टतः नहीं मिलती।

सन्दर्भ

[1] आराधना, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', पृष्ठ संख्या - 38

[2] नीम के पत्ते, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या - 5

[3] कविताएँ (दो), सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृष्ठ संख्या - 109

[4] मुक्तिबोध रचनावली, सं. नेमिचंद्र जैन, पृष्ठ संख्या - 285

[5] कल्पना, अगस्त-सितम्बर 1969, पृष्ठ संख्या - 46-47,

[6] आजकल, मई 1980, डॉ. श्यामसुन्दर दूबे, पृष्ठ संख्या - 31, स्वातंत्रयोत्तर कविता में राजनीतिक चेतना, गुणमाला नवलखा, पृष्ठ संख्या - 304 पर उद्धृत ।

[7] हज़ार हज़ार बाहों वाली, नागार्जुन, पृष्ठ संख्या-51

[8] कविताएँ-दो, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृष्ठ संख्या - 93

[9] कविताएँ-दो, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृष्ठ संख्या - 87

[10] कविताएँ-दो, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृष्ठ संख्या - 91

[11] दुष्यंत रचनावली, खण्ड- 2, सं. विजयबहादुर सिंह, पृष्ठ संख्या - 146

[12] दुष्यंत रचनावली, खण्ड- 2, सं. विजयबहादुर सिंह, पृष्ठ संख्या - 288

[13] कविताएँ-दो, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृष्ठ संख्या - 68

[14] नागार्जुन रचनावली, भाग - 1, पृष्ठ संख्या - 105

[15] नाटक जारी है, लीलाधर जगूड़ी, पृष्ठ संख्या - 97

[16] दुष्यंत रचनावली, खण्ड- 2, सं. विजयबहादुर सिंह, पृष्ठ संख्या - 272

[17] नाटक जारी है, लीलाधर जगूड़ी, पृष्ठ संख्या - 38

[18] सर्वेश्वर ग्रंथावली, भाग – 2, विरेन्द्र जैन, पृष्ठ संख्या - 213

[19] सर्वेश्वर और उनकी कविता, कृष्णदत्त पालीवाल, पृष्ठ संख्या - 21

[20] आग का आइना, केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ संख्या - 25

[21] प्रतिनिधि कविताएँ : नागार्जुन, सं. नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या - 15

[22] नागार्जुन रचनावली, भाग - 1, पृष्ठ संख्या - 123

[23] नागार्जुन रचनावली, भाग - 1, पृष्ठ संख्या - 132

[24] कविताएँ-दो, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृष्ठ संख्या - 99

[25] दुष्यंत रचनावली, भाग - 2, पृष्ठ संख्या - 280

[26] नाटक जारी है, लीलाधर जगूड़ी, पृष्ठ संख्या – 23

[27] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 86

[28] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पृष्ठ संख्या - 10

[29] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 75

[30] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 88

[31] प्रतिनिधि कविताएँ, रघुवीर सहाय पृष्ठ संख्या - 56

[32] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 27

[33] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 48

[34] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 108

[35] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 127

[36] मगध, श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 91

[37] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 125

[38] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 108

[39] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 81

[40] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 124

[41] प्रतिनिधि कविताएँ, रघुवीर सहाय पृष्ठ संख्या - 49

[42] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 92-93

[43] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 69

[44] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 95-96

[45] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 45

[46] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 115

[47] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 76

[48] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 104

[49] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 105

[50] आत्महत्या के विरुद्ध, रघुवीर सहाय, पृष्ठ संख्या - 67

[51] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 96-97

[52] प्रतिनिधि कविताएँ, रघुवीर सहाय पृष्ठ संख्या - 64

[53] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 114

[54] प्रतिनिधि कविताएँ, रघुवीर सहाय पृष्ठ संख्या - 59

[55] संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय धूमिल, पृष्ठ संख्या - 47

[56] प्रतिनिधि कविताएँ : श्रीकांत वर्मा, पृष्ठ संख्या - 17

उपसंहार

सन् 1952 में हुए प्रथम आम चुनावों के होने के पश्चात् औपचारिक रूप से स्थापित जनतांत्रिक व्यवस्था को अनेक कवियों ने अपनी कविता का विषय बनाया । यह स्वाभाविक ही था क्योंकि एक ऐसी व्यवस्था का जिससे देश के करोड़ों लोगों की अपेक्षाएँ जुड़ी हों; साहित्य में न आना असंभव है । साहित्य में समाज में घटने वाली घटनाओं की उपस्थिति किसी न किसी रूप में अवश्य होती है । फिर 'जनतांत्रिक व्यवस्था' से तो देश के नागरिकों का जीवन अभिन्न रूप से सम्बद्ध था । यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिससे जन सामान्य का विकास जुड़ा था, उम्मीदें जुड़ी थी और इस व्यवस्था में रहकर ही प्रत्येक भारतवासी जीवन जीने और विकास के पथ पर आगे बढ़ने को प्रतिबद्ध था । यह प्रतिबद्धता जितनी आम-आदमी की थी उससे अधिक बुद्धिजीवी वर्ग या साहित्यकार की थी ; क्योंकि आम व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में जीता और उनसे संघर्ष करता है किन्तु एक साहित्यकार/बुद्धिजीवी या कवि न केवल उन स्थितियों में रहता है अपितु किसी भी सामाजिक व्यवस्था और स्थितियों पर पैनी दृष्टि भी बनाए रखता है ।

कवियों की दृष्टि आज़ादी के बाद से ही देश की विविध सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों पर लगी रही । स्वतंत्रता के आरम्भिक वर्षों में कवियों ने उससे जुड़े उल्लास को शब्दबद्ध किया और कालांतर में विडम्बनात्मक राजनीतिक स्थितियों के आलोचक बने । जनतंत्र और उससे जुड़े सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्षों को कवियों ने उकेरा । स्वतंत्रता के दस वर्ष बाद ही निर्माण और विकास की उज्जवल आकाँक्षाओं के स्वर परिवेश की अभावग्रस्त स्थितियों, जन साधारण की समस्याओं, झूठे पड़ते राजनीतिक आश्वासनों, स्वार्थपरता, सत्तालोलुपता को तीक्ष्णता से सामने लाने वाले स्वरों में परिवर्तित हो गए । नए और स्वतंत्र देश से जुड़ा मोह जो अब तक किसी तरह बचा रह गया था, वह आज़ादी के बीस साल पूर्ण होते-होते मोहभंग में परिवर्तित हो गया । यही कारण है कि आज़ादी के कुछ वर्ष बाद का साहित्य मोहभंग का साहित्य कहा जाता है ।

स्वतंत्रता के बाद उपजे इसी मोहभंग को कवियों ने देखा, समझा और प्रखरता के साथ अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया । सन् 1960 के बाद में कवियों ने जो कविताएँ लिखी उनकी विषयवस्तु और उसका स्वरूप मोहभंग की उस मानसिकता का परिणाम था जो आशाओं व स्वप्नों के अपूर्ण रहने

या टूटने से बनी थी। निरंतर बढ़ती विसंगतियों के कारण 'आज़ादी के बाद के सपनों के भारत' से 'जन' के 'मोह' के खंडित होने की भावना ही कविताओं में प्रमुख हो गई। कवियों ने समय के उतार-चढ़ावों को, राजनीतिक मूल्यों के स्खलित होने से उपजी बेचैनी और भीतर उबलते आक्रोश को अपनी कविताओं का मुख्य विषय बनाया। स्वातंत्रयोत्तर भारत में यह कवि स्वयं उन स्थितियों के भोक्ता रहे। जिस अनास्था से वह जूझे उसे ही अपनी कविताओं में उन्होंने अभिव्यक्ति दी। यद्यपि राजनीतिक उपलब्धियों, सकारात्मक पक्षों को भी अभिव्यक्ति मिली किन्तु निषेधात्मक स्वर अधिक उभर कर आये। जनता को लगा कि जो स्वप्न उसने सँजोए थे वह असमय ही टूट गए। परिणामतः सन् 1960 के बाद की कविताओं में मोह के खंड-खंड होने की अभिव्यक्ति और मुखर हो गई। देश में होने वाले राजनीतिक आन्दोलनों, युद्धों, प्राकृतिक आपदाओं, योजनाओं की असफलता, सत्ताधारियों में बढ़ती कुर्सिलोलुप्ता आदि इस 'मोहभंग' होने के प्रमुख कारणों में गिने जा सकते हैं।

भारतीय जन साधारण की आकाँक्षाओं के अपूर्ण रहने के कारण सातवाँ दशक आते-आते आम जनता की जो मोहभंग की प्रक्रिया प्रारंभ हुई उसके प्रमाण और आधारस्वरूप भारत देश में घटित भारत-चीन, भारत-पाक युद्ध, आर्थिक पिछड़ापन, विविध योजनाओं की असफलता व इनसे जुड़े लाभ से अंतिम व्यक्ति के वंचित रह जाने, नक्सलबाड़ी आन्दोलन, आपातकाल जैसी घटना और साहित्य में उसकी झलक दिखाई पड़ती है। रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल की कविताओं में व्यक्त उनके 'जनतंत्र' सम्बन्धी विचारों को समझने के लिए 'हिंदी कविता का राजनीतिक परिप्रेक्ष्य' को पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है। उनकी राजनीतिक चेतना इन परिस्थितयों में निर्मित है और उनकी रचनात्मकता का प्राण बनकर उनकी कविताओं को अर्थवान और प्रासंगिक बनाती है। इन राजनीतिक/सामाजिक स्थितियों पर गहन विचार और चिंतन से प्रभावित होकर ही कवियों ने अपने वर्तमान के संघर्षों को कविताओं में रूपाकार दिया है। जनतंत्र से जुड़े अनेकानेक स्वप्नों को और वास्तविकता को 'कविता के जनतंत्र' के तहत खुलकर अभिव्यक्त किया है।

हिन्दी कविता मनुष्य जीवन से अभेद्य रूप से जुड़ी है। कवियों ने अपनी राजनीतिक दृष्टि व समझ का उपयोग कर ग़लत के विरुद्ध और सही के पक्ष में इन कविताओं के माध्यम से आवाज़ उठाई है। मुक्तिबोध, नागार्जुन,सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केदारनाथ अग्रवाल, दुष्यंत कुमार, लीलाधर जगूड़ी, धूमिल, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा आदि कवियों ने अपने और जनता के स्वप्नभंग को प्रस्तुत किया है

। जनतांत्रिक मान्यताओं के ध्वस्त होने व शोषण और ग़ैर-बराबरी की स्थितियों के कारण हुए मोहभंग और साठोत्तरी स्थितियों में हुए पतन के सम्बन्ध में अपने निबंध संग्रह "वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे" की भूमिका में रघुवीर सहाय ने लिखा कि "इसी दौर में मजबूत केंद्र के बहाने राजनीति का केंद्र में एकत्र होना और राष्ट्रीयता के बहाने मानवीय चिंता का सिकुड़ कर छोटा होना जारी रहा । इसी बीच विशिष्ट लोगों के मन में मानव-सम्बन्ध क्रूर और जनसाधारण के मन में कर्म निरानंद होता गया । अब जब मैं बीते रास्ते की ओर देखता हूँ तो मुझे अनेक लोकतंत्रीय मान्यताओं और मूल्यों के पतन को रोकने की एक लम्बी और बार-बार अधूरी, कई बार विफल यात्रा के पड़ाव दिखाई पड़ते हैं । ...इसीलिए यह समझने की ज़रूरत जान पड़ती है कि जो मारे जाते हैं वे गैर नहीं हैं। अपने नियामकों द्वारा हम अपनों से ही पराये बनाये जाते रहे हैं।"

रघुवीर सहाय ने अपनी कविताओं में स्वातंत्रयोत्तर भारत में दृष्टिगत होने वाली विविध समस्याओं के प्रति सजग और जीवन यथार्थ के प्रति सदैव चेतन्य रहकर 'जनतंत्र' की तस्वीर पर विस्तार में विचार किया है। राजनीतिक जीवन की उथल-पुथल के बीच पिसते सर्व-साधारण के जीवन की कटु वास्तविकताओं को रघुवीर सहाय ने बिना तोड़े-मरोड़े अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है । जिस आदर्श भारत का स्वप्न हमारे संविधान निर्माताओं और देश के लोगों ने देखा उस आदर्श की कितनी अनुपालना हुई और व्यवहार में वह शासन कितना आया तथा जनता के तंत्र वाले देश में 'जन' की क्या स्थिति है उसकी पड़ताल रघुवीर सहाय की कविताओं में मिलती है । राजनीतिक जगत में व्याप्त विसंगतियों की आवेशमयी मुद्रा और तेवर के साथ उन्होंने आलोचना की है । सामाजिक-राजनीतिक जीवन में व्याप्त मूल्यहीन सत्तालोलुप तंत्र से छले जाते आम आदमी की विवशता और नारों के कुहासे के पीछे की यथास्थिति को कविताओं के माध्यम से वह सामने लाए हैं। उनकी कविताओं में स्वतंत्रता मिलने के बाद भी जन साधारण के लिए उसकी सार्थकता के प्रश्न को, उनके जीवन में व्याप्त निराशा, कुंठा और जनतंत्र को लेकर हृदय में मची ऊहा-पोह को देखा जा सकता है।

'जनतंत्र' का जो चित्रण उनकी कविताओं मिलता है उसमें कमज़ोर, शोषित, ग़रीब, विवश व्यक्ति के जीवन के दुःख, निरीहता, बेबसी के चित्र अधिक हैं। इस वर्ग की ओर दृष्टि केन्द्रित होने के कारण भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था के विरुद्ध खीझ, क्रोध और नाराज़गी उनकी कविता में प्रधानता में परिलक्षित होती है । पूँजीवादी सभ्यता के परिणामस्वरूप अमीर-ग़रीब के बीच बढ़ती खाई, और

जीवन में बढ़ते तनाव को उन्होंने शब्द दिए हैं। स्वतंत्रता के बाद हुए विकास कार्यों या जन सामान्य के हितार्थ बनी योजनाओं की विफलता पर उनकी नज़र टिकी रही है। उनकी कविताएँ उनके भीतर मची बेचैनी का प्रतिफलन है। आम-आदमी की चिंता उनकी सोच के केन्द्र में है। समाज के साथ वह इस कदर एकाकार होते दीखते हैं कि 'व्यक्तिवाचक संज्ञा' भी व्यक्तिवाचक नहीं रह जाती है। पीड़ा का केन्द्रबिन्दु एक हो जाता है। वह आम-आदमी की पीड़ा के केन्द्र की पड़ताल करते हैं और 'जनतंत्र' में 'जन' के 'तंत्र' से ग़ायब होने की टीस उन्हें सालती है। परिणामतः जनतांत्रिक व्यवस्था की कमियाँ उनकी कविता का मुख्य विषय बन गईं हैं। स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ पर अपनी कविताओं के माध्यम से उन्होंने विचार किया है और बिना किसी छद्म के, निडरता से उसे अभिव्यक्ति भी दी है। एक सजग कवि और पत्रकार होने के नाते उनकी दृष्टि में वह सभी विषय आए हैं जिनसे हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था ख़तरे में पड़ती दिखाई देती है। सत्ता वर्ग की स्वार्थान्धता, चारित्रिक भ्रष्टता, कुर्सी प्रियता, व्यक्तिगत लाभ को महत्त्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति, समाज में बढ़ती गुंडागर्दी, जन सामान्य की समस्याओं, विडम्बनाओं की अनदेखी को उसके वास्तविक रूप में वह सामने लाए हैं। सीधी-सादी भाषा उनकी काव्य रचना की वह ताकत है जो पाठक के मर्म को बेधने की शक्ति रखती है। इन सभी पक्षों पर विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि रघुवीर सहाय की कविता वास्तव में 'जनतंत्र' से जुड़ी उन अपेक्षाओं की कविता है जिनके मूल में 'जन' की भलाई और खुशहाली का स्वप्न है और उनके जीवन से जुड़ी विसंगतियों की चुभन है। यह चुभन उन्हें विचलित और उद्वेलित करती है और उनकी दृष्टि जनतांत्रिक व्यवस्था की कमज़ोरियों पर केन्द्रित हो जाती है।

'श्रीकान्त वर्मा की कविता में जनतंत्र' में भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था पर उनके द्वारा की गई आलोचनात्मक टिप्पणियों के माध्यम से उनकी दृष्टि के 'जनतंत्र' की तस्वीर पर प्रकाश डाला गया है। श्रीकांत वर्मा एक सजग कवि, जागरुक नागरिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध होने के कारण जीवन के किसी भी पहलू से अछूते नहीं रहे। स्वतंत्र भारत में जनतंत्र का विघटन होते हुए उन्होंने स्वयं देखा था। राजनीतिक आचारहीनता और जनतांत्रिक विफलताओं से वह परिचित थे। अतः सन्न 1967 के बाद की उनकी कविताओं में पूर्व की उस सकारात्मकता के विपरीत नया स्वर देखा जा सकता है जिसमें जीवन में सौन्दर्य, प्रेम, आस्था में निष्ठा थी। एक सकारात्मक, आशावादी दृष्टिकोण था। नकारात्मक पक्षों, स्थितियों को भेद उसके पार जाकर मानव की जीवंत और उच्चतम चित्तवृत्ति को

देखने वाली दृष्टि का समर्थन था और उस सृजन का आग्रह था जो एक नए वृहत्तर मानव व्यक्तित्व को रचे।

साठ के बाद की कविताओं की खाद के रूप में उनका महानगरीय जीवनानुभव, असफलता का बोध, अस्तित्व का संकट, ऊब, निरर्थकता, एकाकीपन आदि काम करते हैं। उनका व्यक्तिगत अनुभव उनकी कविताओं की कच्ची सामग्री बनता है। यह व्यक्तिगत अनुभव जब कविता का रूप धारण करता है तो वह नितांत व्यक्तिगत नहीं रह जाता, सबका साझा हो जाता है। उनके व्यक्तिगत जीवन के निष्कर्ष सामूहिक सत्य को अभिव्यक्ति देते हैं। 'मगध' तक पहुँचने से पूर्व उनके व्यक्तिगत और सामाजिक द्वंद्व का एकाकार हो जाता है। यानी जनतंत्र से जुड़ी उम्मीदों पर श्रीकांत और देश के उन सभी नागरिकों की मनःस्थिति एक ही हो जाती है जिसमें जनतांत्रिक व्यवस्था में अव्यवस्था का बोलबाला है। जिस जनतांत्रिक देश में 'तंत्र का आधार' मानी जाने वाली जनता इतनी विवश हो कि विवेकहीन होकर बस वही करे जो उसे कहा जाए या जो अन्य साथी कर रहे हों, जहाँ उसकी पुकार सुनने वाला कोई न हो जहाँ उसके जीवन का कोई मूल्य न हो, जहाँ 'उज्जयिनी रास्तों से मुँह फेर चुकी हो' वहाँ रहते हुए व्यर्थता बोध न हो यह संभव नहीं। श्रीकांत को भी यह व्यर्थता बोध होता है और उनकी कविताओं में आकार भी लेता है। इस व्यर्थता बोध की आधार भूमि में 'जनतंत्र' में व्यापी असंगतियाँ काम करती हैं।

'जनतंत्र' में जनता को मूर्ख बनाकर उनका शोषण करने वाले सत्ताधारियों के आडम्बरों को वह अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। राजनीति में रहते हुए वर्तमान में सत्ता में व्याप्त विद्रूपताओं से साक्षात्कार होने पर हुए कटु अनुभवों की अभिव्यक्ति हेतु अतीत को हथियार बनाते हैं। अतीत के माध्यम से आधुनिक भाव-बोध को अपनी कविताओं में प्रखरता के साथ अभिव्यक्ति देते हैं। अतीत के ऐतिहासिक चोले में बीसवीं शताब्दी को ला खड़ा करते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह वर्तमान से सीधे सक्षात्कार नहीं करना चाहते। अपितु अतीत को याद करते हुए आधुनिक मनुष्य के समक्ष वह उन परिस्थितियों को ला खड़ा करते हैं जो आज भी चारों ओर व्याप्त हैं। आधुनिक समय में मनुष्य जीवन की त्रासदियों, भारत देश में व्यापी विसंगतियों को अतीत के माध्यम से श्रीकांत वर्मा ने चित्रित किया है। इनके माध्यम से अतीत का स्मरण करते हुए वर्तमान से मुठभेड़ की है।

श्रीकांत वर्मा की अनुभूति और चेतना काव्य-भाषा के विविध तत्वों के साथ मिलकर एक ऐसे रचना-संसार की सृष्टि करती है जो, वर्तमान के कटु सत्य को अभिव्यक्त करने का सर्वाधिक सफल माध्यम है । उनमें आक्रोश नहीं, तेवर नहीं किन्तु, मारक क्षमता है । प्रतीकों, मिथकों, बिम्बों का समन्वय सपाटबयानी के साथ करके सरल भाषा में यथार्थ को वह अभिव्यक्ति देते हैं । उनके शिल्प की यह सफलता है कि प्राचीन के माध्यम से नवीन, अतीत के माध्यम से वर्तमान की सृष्टि वह करते हैं । इस प्रकार उनकी कविताएँ अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच के अंतर्संबंध को सामने लाती हैं । अतीत की पतनकारी स्थितियों को सामने लाकर वर्तमान की विद्रूपताओं के प्रति जागृत कर उनमें सुधार लाने को सचेत करती हैं व सुन्दर भविष्य का मार्ग दिखाती हैं ।

कवि सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' ने राजनीतिक मूल्यों के विघटन और जनता के मोहभंग को अपनी कविता का विषय बनाया है । जीवनानुभवों और विचारधारा को बेबाकी से प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध कवि सुदामा पाण्डेय की कविताओं से गुज़रने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कविताएँ जनतंत्र की कविताएँ हैं । उनकी कविताओं में आम आदमी/जनता के केवल सुख-दुःख ही नहीं, उनकी नियति से भी सरोकार मिलता है । जनतांत्रिक व्यवस्था वाले भारत देश में जनता की स्थिति का जायज़ा लेते हुए वह दिखाई देते हैं । वह पाते हैं कि लम्बे संघर्ष के बाद मिली आज़ादी और जनतांत्रिक व्यवस्था स्थापित होने के बावजूद इस देश की अधिकाँश जनता वंचित है और शोषित है । जनता की, जनता द्वारा व जनता के लिए होने वाली शासन प्रणाली के बावजूद 'जनता' ही जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी असमर्थ है ।

अपने पहले ही काव्य-संग्रह 'संसद से सड़क तक' में 'संसद' और 'सड़क' से जुड़े मुद्दों को उठाकर राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों को उन्होंने अभिव्यक्ति दी है । उनकी काव्यदृष्टि का आधार व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी । सामाजिक स्थितियों की विडंबनाओं के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने मनुष्य को देखा और उनकी समस्याओं को समझा है । उनके काव्य का परिवेश वह परिवेश है जिसमें आम व्यक्ति की आकांक्षाएँ टूट रही थीं, आज़ादी से जुड़े स्वप्न, स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गए थे, राजनीति मूल्यों और प्रतिबद्धताओं से विलग हो रही थी । कुर्सी की जोड़-तोड़ में आम-आदमी का जीवन प्रभावित हो रहा था । साधनहीनता बढ़ रही थी । विविध राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं से

देश और देशवासियों को लाभान्वित करने वाली योजनाएँ विफल हो रही थी, निर्धनता, बेरोज़गारी जैसी समस्याओं का कोई ठोस समाधान नहीं मिल रहा था । एक के बाद एक घटित होने वाली घटनाओं के कारण एक ओर देश के विकास कार्यक्रम प्रभावित हो रहे थे तो दूसरी ओर, 'संसद' और 'सड़क' के बीच अविश्वास बढ़ रहा था, असंतोष में वृद्धि हो रही थी ।

धूमिल की दृष्टि उस वर्ग पर जाकर टिकती है जो कमरतोड़ मेहनत के बाद भी पेट भरने तक की सहूलियत जुटा पाने में भी असमर्थ था । शोषित, दमित, निर्धन और मजदूर वर्ग की समस्याओं और दयनीय स्थितियों की ओर उनकी दृष्टि के केन्द्रित होने का कारण उनका व्यक्तिगत जीवनानुभव था । विद्रोही तेवर के कवि धूमिल का मानना था कि अपना जनतंत्र वास्तविक जनतंत्र नहीं है क्योंकि इस लोकतंत्र में असमानता व्याप्त है । विकास, सुविधाएँ समाज के सभी वर्गों तक समान रूप में नहीं पहुँची हैं । योजनाओं, सुविधाओं, विकास के साधनों का वितरण असमान है । कागज़ों पर किए जाने वाले विकास कार्यों का क्रियान्वयन नहीं हो रहा । इसलिए वह 'दूसरे प्रजातंत्र की तलाश' करते दीखते हैं ।

कवि 'धूमिल' की कविताओं को पढ़ने पर भारतीय जनतान्त्रिक देश में आम-आदमी की तंगहाली, शोषित जीवन स्थितियों का पता चलता है । उनकी दृष्टि उसी आम-आदमी की पीड़ा पर केन्द्रित है जो बहुलता में है । जब मुट्ठी भर संपन्न और सत्ता में व्याप्त लोगों द्वारा देश की रीढ़ किसानों, मजदूरों, ग़रीबों, बेरोज़गारों, रोटी को तरसते लोगों पर शोषण होता वह देखते हैं तो पूर्णतः उस शोषित वर्ग के पक्ष में जा खड़े होते हैं और स्वतंत्रता के दो दशक बीत जाने पर भी उनकी अपरिवर्तित स्थितियाँ उन्हें विचलित करती हैं । देश में विकास हेतु बनी योजनाएँ या भौतिक तरक्की उनकी दृष्टि में महत्त्वहीन हो जाती है । जन सामान्य की पीड़ा को वह समझते हैं क्योंकि उनके व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने स्वयं उस कमी, पीड़ा को देखा भोगा था । उनका वही अनुभव जन सामान्य के जीवन सत्य से साझा होकर कविताओं में अभिव्यक्ति पाता है । कविताओं के माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विषमताओं से जुड़े भयावह यथार्थ को सपाट, तल्ख़ व आक्रोशपूर्ण मुद्रा में उसी रूप में वह सामने लाते हैं । यही कारण है कि जनतंत्र उनकी कविताओं में सत्ता के पक्ष में खड़ा दिखाई देता है ।

सन् 1960 के बाद की कविता के मूल स्वर पर बात करते हुए 'जनतंत्र' के विविध पहलुओं पर रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और धूमिल के अतिरिक्त उनके अन्य समकालीन कवियों यथा मुक्तिबोध, नागार्जुन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, दुष्यंत कुमार, लीलाधर जगूड़ी आदि ने भी गहन विचार कर प्रखर

अभिव्यक्ति दी है। इस समय की कविता में जो तीक्ष्णता, उत्तेजना, आक्रोश, बड़बोलापन दिखाई देता है वह 'जन' की त्रासद स्थितियों से आहत बौद्धिक जनों का स्वाभाविक उबाल है। यह अनायास नहीं हुआ कि 1960 के बाद की कविता का स्वर पूर्ववर्ती कोमल स्वर से बदल कर कठोर और आक्रोश से पूर्ण हो गया। अपितु राजनीति में व्याप्त उस भेड़ियातंत्र को जिसके कारण निम्न, ग़रीब, सामान्य वर्ग का जीवन पशुतुल्य हो रहा था, अभिव्यक्ति देने हेतु कविता का तेवर बदला और कविता ने व्यंग्यपूर्ण, जटिल और संश्लिष्ट रूप धारण किया। राजनीतिक सत्य को उस समय की पूरी जीवंतता के साथ इन कवियों ने अपनी कविता में रूपायित किया है। कविताओं में इन समाजिक-राजनैतिक स्थितियों की पकड़ भाव और शिल्प के स्तर पर व्यक्तिगत विशिष्टता के साथ व्यंजित हुई दिखाई देती है। कहना न होगा कि इन सभी कवियों की कविताओं के केंद्र में वह 'जन' जिसे 'तंत्र' ने भुला दिया है।

कहा जा सकता है कि जनतांत्रिक मूल्यों के विघटन और उनके तथाकथित पहरेदारों द्वारा किए गए शोषण को साठ के दौर के सभी कवियों ने प्रस्तुत किया है। जनतांत्रिक व्यवस्था की छीझन को, उससे उपजी भयावह आर्थिक विषमता को, सामाजिक पिछड़ेपन को क़रीब से देखने वाले इन कवियों ने जनता पर हो रहे अत्याचार और राजनितिक षड़यंत्र के विरोध में अपना स्वर बुलंद कर उन अंधकारपूर्ण स्थितियों का चित्रण किया जिससे 'जन' की स्थिति बिगड़ रही है। जनतंत्र में से 'जन' को अनदेखा कर सत्ता से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग अपने स्वार्थहित करने की सत्ताधारियों की प्रवृत्ति पर प्रहार इस समय की कविता के मूल में है। जनतांत्रिक व्यवस्था को सुचारुरूपेण चलाने के ज़िम्मेदार राजनीतिक वर्ग की जड़ता, स्वकेन्द्रित दृष्टि, पतनोन्मुखी दशा की अभिव्यंजना इस समय की कविता में मिलती है। परिवेशजन्य क्रूरता से कवियों की वाणी में भी चहुँ ओर व्याप्त असंगतियों को अपनी कविता के द्वारा खंड-खंड करने की आकुलता दिखाई देती है। जनतांत्रिक विसंगतियों का सीधा साक्षात्कार और राजनीतिक विद्रूपताओं व शासनतंत्र पर प्रहार इस समय की कविता के मूल में देखा जा सकता है।

रघुवीर सहाय, धूमिल और श्रीकांत वर्मा ने देश के साधारण वर्ग की त्रासद स्थितियों को देखकर अपने भीतर दबे आक्रोश को कभी विस्तार से, ब्यौरेवार कभी नारे या आन्दोलन के रूप में, कभी तेवर के साथ तो कभी सीधे-सीधे अभिव्यक्त किया है। यह कवि उन स्थितियों को यथारूप साकार करते हैं जो हमारे समाज, हमारी राजनीतिक दुनिया के मूल्यों में आई गिरावट का परिणाम है

। अपनी दृष्टि राजनीतिक नैतिकता के अवमूल्यन पर यह केन्द्रित करते हैं । सत्तालोलुपता के कारण नैतिकता और मूल्यों को ताक पर रखने वाले नेताओं के प्रति उपजी घोर वितृष्णा की झलक उनकी कविताओं में मिलती है । इसी वितृष्णा के कारण इन कवियों की कविताओं में कहीं आलोचनात्मक भावाभिव्यक्ति, कहीं व्यंग्यात्मकता मिलती है और कहीं धारदार विशेषणों से रोष अभिव्यक्त होता है ।

इन तीनों कवियों की अभिव्यक्ति में कथ्य की समानता, एकसारता मिलती है किन्तु जनतांत्रिक व्यवस्था से जुड़ी असंगतियों को अनावृत्त करने की शैली में भिन्नता और ईमानदारी देखी जा सकती है । तीनों ही कवियों की कविता में राजनीतिक चेतना का सजग बोध मिलता है । एक ही विषय पर मुख्यतः बात करते हुए भी विविध, सूक्ष्य आयाम और स्तर इनकी कविताओं में दृष्टिगत होते हैं । तीनों ही कवि अपने-अपने तरीक़े से 'जनतंत्र' में जनता के संघर्ष को सामने लाते हैं । व्यंग्य, आक्रोश, आलोचना से पूर्ण भाषा में राजनीतिक भेड़ियाधसान को अभिव्यक्त करते हैं । कवियों का व्यक्तिगत अनुभव राजनीतिक स्थितियों को विद्रोहात्मक मुद्रा में जीवंतता के साथ प्रस्तुत करता है । एक ही विषय पर केन्द्रित होने पर भी भाव और शिल्प की भिन्नता इन तीनों कवियों को साठ के बाद की कविता में विशेष स्थान पर बैठाती है । इनमें कथ्य की समानता केवल 'जनतांत्रिक असंगतियों' पर बात करने के कारण नहीं है । यह भी ध्यातव्य है कि तीनों ही कवियों में 'जनतंत्र' के वर्तमान स्वरुप के प्रति रोष मिलता है किन्तु इनकी दृष्टि में आदर्श 'जनतंत्र' कैसा होना चाहिए और उसके लिए क्या क़दम उठाए जा सकते हैं इसकी अभिव्यक्ति स्पष्टतः नहीं मिलती ।

परिशिष्ट

1. आधार ग्रन्थ

अरविन्द त्रिपाठी(सं.) : श्रीकांत वर्मा रचनावली, खंड – 1, 2, संस्करण - 1995, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

उदयन वाजपेयी (सं.) : श्रीकांत वर्मा संचयिता, प्रथम संस्करण - 2003, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

कृष्ण कुमार (सं.) : रघुवीर सहाय संचयिता, प्रथम संस्करण - 2003, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध, प्रथम संस्करण - 1967, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

रघुवीर सहाय : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, प्रथम संस्करण - 1989, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

रघुवीर सहाय : प्रतिनिधि कविताएँ, सुरेश शर्मा, पहली आवृत्ति-2000, राजकमल, दिल्ली।

रघुवीर सहाय : लोग भूल गए हैं, तीसरा संस्करण - 1989, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, प्रथम संस्करण - 1960, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।

रघुवीर सहाय : हँसो-हँसो जल्दी हँसो, द्वितीय संस्करण - 1979, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' : कल सुनना मुझे, आवृत्ति - 2010, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' : संसद से सड़क तक, तृतीय आवृत्ति - 1980, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' : सुदामा पांडे का प्रजातंत्र, प्रथम संस्करण - 1984 वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

सुरेश शर्मा (सं.) : रघुवीर सहाय रचनावली, भाग 1, प्रथम संस्करण – 2000, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

श्रीकांत वर्मा : प्रतिनिधि कविताएँ : सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चौथी आवृत्ति - 2014, राजकमल पेपर बैक्स, दिल्ली ।

श्रीकांत वर्मा : मगध, प्रथम संस्करण - 1986, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

2. सन्दर्भ ग्रन्थ

अनन्तकीर्ति तिवारी (डॉ.) : रघुवीर सहाय की काव्यानुभूति और काव्यभाषा, संस्करण - 1996, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

अशोक वाजपेयी : कवि कह गया है, प्रथम संस्करण - 1998, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

अशोक वाजपेयी : फिलहाल, प्रथम संस्करण – 1997, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

अजिता तिवारी (डॉ.) : नयी कविता और रघुवीर सहाय का काव्य, प्रथम संस्करण - 2010, विकास प्रकाशन, कानपुर।

अज्ञेय : शाश्वती, प्रथम संस्करण - 1979, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

अज्ञेय : स्रोत और सेतु, प्रथम संस्करण - 1978, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

ओम प्रकाश गाबा : राजनीति सिद्धान्त एवं चिंतन, पुनर्मुद्रण – 2015, मयूर पेपर बैक्स।

काशीनाथ सिंह : आलोचना भी रचना है, प्रथम संस्करण -1984, प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद।

कुमार कृष्ण : दूसरे प्रजातंत्र की तलाश में : धूमिल, प्रथम संस्करण - 1987, साहित्य निधि, दिल्ली।

केदारनाथ अग्रवाल : आग का आइना, प्रथम संस्करण – 1970, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद।

केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, छठा संस्करण - 2015राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

केदारनाथ सिंह : आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान, तीसरी आवृत्ति – 2011, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

केदारनाथ सिंह : मेरे समय के शब्द, दूसरा संस्करण - 2013, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

कृष्णदत्त पालीवाल : सर्वेश्वर और उनकी कविता, प्रथम संस्करण - 1997, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली।

कृष्णकांत मिश्र : राजनीति विज्ञान, एडी आशीर्वादाम्, प्रथम संस्करण -1953, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली।

गिरीश्वर मिश्र (सं.) : साहित्य के सरोकार : विद्यानिवास मिश्र, प्रथम संस्करण - 2007, वाणी प्रकाशन दिल्ली।

गुरचरण सिंह, : समकालीन हिन्दी कविता का मूल्यांकन, प्रथम संस्करण - 1985, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली |

गुणमाला नवलखा : स्वातंत्रयोत्तर कविता में राजनीतिक चेतना,प्रथम संस्करण – जून, 1992, दीपशिखा प्रकाशन, नई दिल्ली।

गोविन्द रजनीश (डॉ.) : स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी कविता, प्रथम संस्करण-1976 ई., मंगल प्रकाशन, जयपुर।

जवाहरलाल नेहरू स्पीचेज़ :1949-1953,1954, तीसरी छपाई–1968, पब्लिकेशंस डिविजन, गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया, नई दिल्ली।

जवाहरलाल नेहरू स्पीचेज़ : खंड - 2, 1949-1953,1954, संस्करण-1963, पब्लिकेशंस डिविजन, गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया, नई दिल्ली।

बनारसीदास चतुर्वेदी(सं.) : नेहरू - व्यक्तित्व और विचार, प्रथम संस्करण - 1965, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली।

बिपिन चंद्र : आज़ादी के बाद का भारत (1947-2000) तृतीय संस्करण, अप्रैल-2004, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

बिपिन चन्द्र :आधुनिक भारत, प्रथम संस्करण – 2009, ओरिएण्टल ब्लैक स्वान, दिल्ली।

भारत का संविधान : द्विभाषी संस्करण, चतुर्थ संस्करण - 2009, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन, इलाहबाद।

मंजुल उपाध्याय (डॉ.) : समकालीन कविता और धूमिल, प्रथम संस्करण - 1987, अनामिका प्रकाशन, इलाहबाद ।

मनोज सोनकर : सत्तरोत्तरी हिन्दी कविता : संवेदना शिल्प और कवि, प्रथम संस्करण - 1994, संस्थान प्रकाशन, नई दिल्ली ।

मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, प्रथम संस्करण - 1965, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली ।

मुक्तिबोध : नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, द्वितीय संस्करण- 1977, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर ।

मुक्तिबोध : प्रतिनिधि कविताएँ, चौथा संस्करण - 1991, राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली ।

देवीशंकर अवस्थी : साहित्यिक विधाओं की प्रवृत्ति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

धर्मवीर भारती : कुछ लम्बी कविताएँ, द्वितीय संस्करण – 2002, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

नन्दकिशोर आचार्य (सं.) : प्रेमचंद का चिन्तन, प्रथम संस्करण – 2006, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर ।

नन्दकिशोर नवल (डॉ.) : कविता की मुक्ति, प्रथम संस्करण – 1980. वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

नंदकिशोर नवल : दिनकर रचनावली, भाग-1,प्रथम संस्करण – 2012, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

नंदकिशोर नवल : समकालीन काव्य-यात्रा, प्रथम संस्करण - 1994, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली ।

नामवर सिंह (डॉ.) : कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता, दूसरी आवृत्ति – 2011, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

नामवर सिंह (डॉ.) : कविता के नए प्रतिमान, सत्रहवाँ संस्करण - 2016, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

नामवर सिंह (सं.) : प्रतिनिधि कविताएँ : नागार्जुन, दसवीं आवृत्ति - 2007, राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली।

निर्मला जैन (सं.) : अंतस्तल का पूरा विप्लव : अँधेरे में, दूसरी आवृत्ति - 2000, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नेमिचन्द्र जैन : एकांत, प्रथम संस्करण - 1973, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

नेमिचन्द्र जैन : जनान्तिक, प्रथम संस्करण - 1981, सम्भावना प्रकाशन, हापुड़।

नेमिचंद्र जैन (सं.) : मुक्तिबोध रचनावली, भाग- 4, प्रथम संस्करण – 1980 ई., राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

नेहरू : हमारी समस्याएँ और उनका हल, प्रथम संस्करण-1959, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली।

नागार्जुन : हज़ार हज़ार बाहों वाली, प्रथम संस्करण-1981, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ।

परमानन्द श्रीवास्तव, : नयी कविता का परिप्रेक्ष्य, संस्करण – 1968, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद |

प्रथम पंचवर्षीय योजना : संस्करण मई - 1954, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली।

यू.आर. घई : भारतीय विदेश नीति, न्यू अकेडमिक पब्लिशिंग कंपनी।

राजेन्द्र प्रसाद (डॉ.) : तार सप्तक के कवियों की समाज चेतना, प्रथम संस्करण - 1987, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

रामगोपाल दीक्षित : स्वराज से लोकनायक, संस्करण – 2005, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

रामधारी सिंह 'दिनकर' : नीम के पत्ते, तृतीय संस्करण - 1993, उदयाचल, पटना।

रामधारी सिंह दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, आवृत्ति 2005, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, प्रथम संस्करण -1972, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।

विजयदेवनारायण साही : साखी, संस्करण - 1993, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

विजय बहादुर सिंह (सं.) : दुष्यंत रचनावली, खण्ड -4, द्वितीय संस्करण - 2007, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली।

विजयबहादुर सिंह (सं.) : दुष्यंत रचनावली, खण्ड- 2, द्वितीय संस्करण - 2007, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : आलोचना के हाशिये पर साहित्य की बीसवीं शताब्दी, संस्करण - 2008, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली |

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : समकालीन हिन्दी कविता, प्रथम संस्करण - 1982, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

शमशेर बहादुर सिंह : चुका भी हूँ मैं नहीं, संस्करण - 1975, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

शोभाकांत (सं.) : नागार्जुन रचनावली, भाग - 1, संस्करण - 2011, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

सलिल शुक्ल (सं.) : साठोत्तरी कविता, संस्करण - 1969 ई., एकता प्रकाशन, दिल्ली।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : कवितायें- दो, द्वितीय संस्करण - 2002, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : जंगल का दर्द, प्रथम संस्करण - 1976, पृष्ठ संख्या- 48, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

सुभाष कश्यप :संसदीय लोकतंत्र का इतिहास, प्रथम संस्करण,हिन्दी कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : आराधना, द्वितीय संस्करण - , साहित्य संसद, प्रयाग।

हरिवंश राय बच्चन : टूटी छूटी कड़ियाँ, संस्करण - 1973 ई., राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।

हरिशंकर परसाई : विकलांग श्रद्धा का दौर, कैफियत, प्रकाशन वर्ष - 2013, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

हुकुमचंद राजपाल (डॉ.) : समकालीन बोध और धूमिल का काव्य, प्रथम संस्करण - 2012, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

हेमन्त जोशी (सं.) : अर्थात्, पहली आवृत्ति – 2008, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली |

श्रीराम त्रिपाठी : धूमिल और परवर्ती जनवादी कविता, द्वितीय संस्करण - 2002, रंगद्वार प्रकाशन, अहमदाबाद।

ज्ञानसिंह संधु : राजनीति सिद्धान्त, पृष्ठ संख्या - 291, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय

3. सहायक ग्रन्थ

उषा जैन : छायावादोत्तर हिंदी काव्य में बिम्बविधान, प्रथम संस्करण - 2002, विकास प्रकाशन, कानपुर।

अजय तिवारी : नागार्जुन की कविता, द्वितीय संस्करण - 2005, वाणी प्रकाशन,दिल्ली।

अजय तिवारी : हिंदी कविता आधी शताब्दी, प्रथम संस्करण - 2014, साहित्य भंडार प्रकाशन, इलाहाबाद।

अभय कुमार ठाकुर : रघुवीर सहाय और प्रतिरोध की संस्कृति, प्रथम संस्करण - 2014, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

खगेन्द्र ठाकुर : नागार्जुन का कवि कर्म, प्रथम संस्करण - 2013, प्रकाशन विभाग,दिल्ली।

चन्द्र त्रिखा : प्रतिनिधि आधुनिक कवि, प्रथम संस्करण - 2003, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला।

पंकज चतुर्वेदी : रघुवीर सहाय, प्रथम संस्करण - 2014, साहित्य अकादमी, दिल्ली।

परमानंद श्रीवास्तव : काव्य परिदृश्य कल और आज, प्रथम संस्करण - 2009, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

ब्रह्मदेव मिश्र /शिवकुमार मिश्र (सं.) : धूमिल की श्रेष्ठ कविताएँ, द्वितीय संस्करण - 2013, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

मनोहर श्याम जोशी : रघुवीर सहाय रचनाओं के बहाने एक स्मरण, द्वितीय संस्करण - 2004, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

राजेन्द्र प्रसाद : तार सप्तक के कवियों की समाज चेतना, तृतीय संस्करण - 2005, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

रामविलास शर्मा : प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, प्रथम संस्करण - 1986, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद ।

रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिंदी काव्य संवेदना का विकास, प्रथम संस्करण – 2003, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

विजय बहादुर सिंह : जनकवि, प्रथम संस्करण - 1984, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ।

विजय बहादुर सिंह : नागार्जुन का रचना संसार, प्रथम संस्करण - 1982, संभावना प्रकाशन, हापुड़ ।

विश्वनाथप्रसाद तिवारी (सं.) : आठवें दशक की हिंदी कविता, प्रथम संस्करण- 1982, कीर्ति प्रकाशन, गोरखपुर ।

विश्वनाथ त्रिपाठी : केदारनाथ अग्रवाल का रचना लोक, प्रथम संस्करण - 2013, प्रकाशन विभाग, दिल्ली ।

विष्णु खरे : आलोचना की पहली किताब, द्वितीय संस्करण - 2004, वाणी प्रकाशन, दिल्ली |

शीला दानी : समकालीन रचना दृश्य और रघुवीर सहाय का कृतित्व, प्रथम संस्करण- 2004, भावना प्रकाशन, दिल्ली ।

सुरेश शर्मा : रघुवीर सहाय का कवि कर्म, संस्करण - 2002, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

इफ़्फ़त असग़र : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के काव्य में सामाजिक चेतना, संस्करण - 2004, नेहा प्रकाशन, दिल्ली ।

हुकुमचंद राजपाल : समकालीन बोध और धूमिल का काव्य, प्रथम संस्करण 2012,वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।

4. पत्र-पत्रिकाएँ

1. 'आगाह' (विशेषांक – धूमिल)
2. 'आलोचना' (जुलाई-सितम्बर - 1968) सं. नामवर सिंह
3. 'आलोचना' (अक्तूबर-दिसंबर - 1984) सं. नामवर सिंह
4. 'आलोचना' (अप्रैल-जून - 1989) सं. नामवर सिंह
5. 'आजकल' (मई - 1980) डॉ. श्यामसुन्दर दूबे
6. 'इन्द्रप्रस्थ भारती' (अप्रैल-जून – 199, वर्ष - 4, अंक - 2) डॉ. विजयमोहन सिंह
7. 'कल्पना' (अगस्त-सितम्बर- 1969)
8. 'कल्पना' (मार्च - 1974) सं. धनञ्जय वर्मा
9. ''जनसत्ता' हिंदी दैनिक (16 जनवरी 1990) गिरिधर राठी 'कविता के सवाल: रघुवीर सहाय के हल'
10. 'नया प्रतीक' (फरवरी - 1978)
11. परिक्षेत्र' (अगस्त- 81,जनवरी - 82,अंक - 2,3,4) सं. रत्नशंकर पाण्डेय
12. 'पूर्वग्रह' (मार्च-अप्रैल - 1975, अंक - 7)
13. 'पूर्वग्रह' (जनवरी-जून - 1988) सं. अशोक वाजपेयी
14. पूर्वग्रह' (अंक -102)

5. वेब लिंक्स

https://books.google.co.in/books?id=D-lOAgAAQBAJ&pg=SA5-PA2&lpg=SA5-PA2&dq=%E0%A4%B2%E0%A5%8B%E0%A4%95%E0%A4%A4%E0%A4%82%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0+%E0%A4%95%E0%A5%80+%E0%A4%AA%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B7%E0%A4%BE&source=bl&ots=yuXRAoMWAJ&sig=m_C6DZSkkc8Qdq4NTNZqf-d-DXI&hl=en&sa=X&ved=0ahUKEwjh16-ngPTUAhUFMI8KHZdSCkk4ChDoAQhDMAY#v=onepage&q=%E0%A4%B2%E0%A5%8B%E0%A4%95%E0%A4%A4%E0%A4%82%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0%20%E0%A4%95%E0%A5%80%20%E0%A4%AA%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B7%E0%A4%BE&f=false